राष्ट्रीयता के विविध आयाम

(आलेख-संग्रह)

भाग–2

संपादक – सिद्धेश्वर

राष्ट्रीयता के विविध आयाम भाग–2 संपादक – सिद्धेश्वर

राष्ट्रीयता के विविध आयाम

(भाग-दो)

प्रधान संपादक
सिद्धेश्वर

स्वामित्व
राष्ट्रीय विचार मंच
दिल्ली

प्रकाशक
सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली- 92

राष्ट्रीयता के विविध आयाम

भाग-दो

लेखक : सिद्धेश्वर, संस्थापक-संपादक 'विचार दृष्टि' दिल्ली,
पूर्व अध्यक्ष, बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना
'संस्कृति', ए-164, ए.जी. कॉलोनी, शेखपुरा,
पत्रा.-आशियाना नगर, पटना- 800025
मो.- 9431037221

संपादक मंडल : सिद्धेश्वर, डॉ. देवेंद्र आर्य, डॉ. धर्मेंद्रनाथ 'अमन',
डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव, अमरेन्द्र कुमार
प्रकाशन प्रबंधक मंडल: अरविंद कुमार उर्फ पप्पू, अखिलेश्वर प्रसाद,
मनोज कुमार, डॉ. शाहिद जमील,
सुरेश कुमार सिन्हा, सुधीर रंजन

प्रकाशक : सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन,
'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग,
दिल्ली- 92, दूरभाष- 011-22530652,
मो.- 9811281443

प्रस्तुति-रूपसज्जा : डॉ॰ शाहिद जमील, उप संपादक, विचार दृष्टि, दिल्ली

मुद्रक : लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस, पटना, मो.- 9801772460
प्रथम संस्करण : वर्ष 2018 ई॰
पृष्ठ संख्या : 320
शब्द-संयोजन : अमित कुमार, सुशीला सदन, रोड नं- 17, राजीव नगर, पटना
मूल्य सजिल्द : आठ सौ रुपए मात्र (Rs. Eight Hundred Only)

Rashtriyata Ke Vividh Aayam (Part-1I)

Edited by
Sidheshwar

Price Rs. 800/-

सिद्धेश्वर : एक नज़र

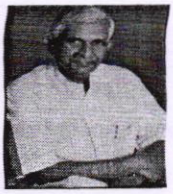

पूरा नाम : सिद्धेश्वर प्रसाद

संक्षिप्त नाम : सिद्धेश्वर

पिता का नाम : स्व. इन्द्रदेव प्रसाद

माता का नाम : स्व. फूलझार प्रसाद

पत्नी का नाम : श्रीमति बच्ची प्रसाद

जन्म तिथि : 18 मई, 1941

जन्म स्थान : ग्राम+पत्रा.-बसनियावाँ, भाया-हरनौत, जिला-नालंदा, बिहार(भारत)

शैक्षिक योग्यता : सन् 1962 में पटना विश्वविद्यालय से श्रम एवं समाज कल्याण विषय में स्नातकोत्तर

तकनीकी शिक्षा : सन् 1973 में भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग से एस.ए.एस. (Subordinate Accounts Service)

सरकारी सेवा : भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, महालेखाकार, राँची एवं पटना में लेखा परीक्षक से प्रोन्नति प्राप्त करते हुए वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी के पद पर छतीस वर्षों तक सेवा प्रदान करने के पश्चात् सन् 2000 के 31 मई से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर वृहतर एवं व्यापक समाज व राष्ट्रहित में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश।

सार्वजनिक सेवा : 1.भारतीय रेलवे के रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य
2. बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त अध्यक्ष पद पर 15 सितंबर, 2008 से 14 सितंबर, 2011 तक कार्यरत।

अभिरुचि : समाज व साहित्य सेवा तथा पत्रकारिता, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए संघर्षशील तथा रचनात्मक लेखन से जुड़ाव।

रचनाएँ प्रकाशित :1.सामाजिक-'आरक्षण','कल हमारा है', 'समता के सपने', 'आत्ममंथन', 'बिहार के कुर्मी (निबंध संग्रह)' एवं 'बिहार के कुर्मी (निर्देशिका)'
2.स्मृति-'यादें'(भोला प्र. सिंह 'तोमर' की स्मृति में)
3.हाइकु काव्य संग्रह-'पतझड़ की सांझ', 'सुर नहीं सुरीले', 'कवि और कविता'

4. सेन्र्यु काव्य संग्रह-'जागरण के स्वर', 'बुजुर्गो की जिंदगी'
5. काव्य संग्रह-'यह सच है'
6. जीवनी- 'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा',
'डॉ. मोहन सिंह: एक तपस्वी मन'
7. शैक्षिक-'समकालीन यथार्थबोध'एवं 'समकालीन संपादकीय'

जीवनी-साहित्य : 1.'सिद्धेश्वर:व्यक्तित्व और विचार'-प्रो. रामबुझावन सिंह
2.'सिद्धेश्वर:अंकों से अक्षर तक' डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

रचनाएँ प्रकाश्य:साक्षात्कार-1.'हिंदी के जीवंत हस्ताक्षर', डॉ. बलराम तिवारी द्वारा संपादित
2. 'इंसानियत की धुँआती आँखें'
3. 'राष्ट्रीय राजनीति'
4. 'उम्मीद जताते न्यायिक एवं आर्थिक फैसले'
5.'वैश्विक कूटनीति'

भारतीय राजनीति : 'आम आदमी की आवाज'

यात्रा-वृतांत : 'मेरी यादगार यात्राएँ'

आत्मकथा-'जीवन-रागिनी' तथा हाइकु में 'मेरी जीवन-यात्रा'

संस्मरण-1.'हमें अलविदा ना कहें' 2.'जो जीवित हैं हमारे जेहन में'

संपादन- 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' भाग-एक एवं भाग-दो

सम्मान : देश के विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संगठनों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित।

विदेश यात्रा : 13-15 जुलाई, 2007 तक अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 8वें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर आलेख पाठ एवं परिचर्या में सक्रिय भागीदारी।

संप्रति : राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली
संस्थापक संपादक, 'विचार दृष्टि', दिल्ली

संपर्क : 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष: 011-22530652, मो.-9431037221
'संस्कृति' ए-164, पार्क रोड, ए.जी. कॉलोनी, शेखपुरा,
पत्रा.-आशियाना नगर, पटना-800025,
मो.-9431037221, मो.-9472243949

अनुक्रम पृष्ठ

प्रधान संपादक सिद्धेश्वर : एक नजर में 3
समर्पण : नेताजी सुभाष चंद्र बोस 8
संपादकीय : सिद्धेश्वर.....9
भूमिका : श्री टी. एन. चतुर्वेदी.....16
शुभाशंसा : डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार.....20

अध्याय : एक
राष्ट्र चेतना के कर्णधार

(1) **दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में अहिंसा और विश्वशांति के स्वर**.....22
डॉ. एन चन्द्रशेखरन नायर

(2) **राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना**.....29
प्रो. नवल किशोर प्रसाद श्रीवास्तव

(3) **'राम चरित मानस' में राष्ट्रीय भावना**.....44
युगल किशोर प्रसाद

(4) **क्रांतिकारी देशभक्त और भारतीयों के लिए आस्था के स्रोत नेताजी सुभाष चंद्र बोस**.....51
सिद्धेश्वर

(5) **मुंशी प्रेमचंद की राष्ट्रीय चेतना**.....65
डॉ. सुंदरलाल कथूरिया

(6) **राष्ट्रीय एकता में संतों एवं सूफियों का योगदान**.....80
डॉ. शिववंश पाण्डेय

(7) **नामक्कल पिल्लै की कविता में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता**.....92
डॉ. जयलक्ष्मी सुब्रह्मण्यन

(8) **महाकवि सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं में राष्ट्रीयता**.....99
वी. चित्रा

अध्याय : दो
साहित्य और राष्ट्रीयता

(1) **प्राचीन साहित्य में राष्ट्रीयता**.....101
डॉ. राज नारायण राय

(2) **समसामयिक हिंदी और तेलुगु कविता**.....110

डॉ. मूर्ति वाई.एस.एस.एन.
(3) **राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता**.....117
डॉ. शरण बंधु
(4) **भारतीय कविता में नवजागरण**.....127
कविता वाचक्नवी
(5) **हिंदी काव्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वर**.....134
डॉ. कुसुम शर्मा
(6) **साहित्य में राष्ट्रीय एकता की भावना**.....146
डॉ. चंद्रशेखर सिंह बेलावत
(7) **भक्ति-काव्यः उदात्त मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा**.....152
डॉ. द्वारिका प्रसाद 'चारूमित्र'
(8) **राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा**.....162
डॉ. पी. के. बालासुब्रह्मण्यन
(9) **राष्ट्रीय एकता में भारतीय भाषाओं की भूमिका**.....166
डॉ. परमानंद पांचाल
(10) **राष्ट्र और राष्ट्रीयता के जयगान से भरा साहित्य**.....172
सिद्धेश्वर

अध्याय : तीन
भारतीय संस्कृति और राष्ट्र चेतना

(1) **मानवीय नैतिक मूल्य और राष्ट्रीयता**.....178
प्रो. राम भगवान सिंह
(2) **मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना में लेखकों का योगदान**.....186
चंद्र कुमार 'सुकुमार'
(3) **राष्ट्रीय पर्व-त्योहार और सांस्कृतिक चेतना**.....192
पी. आर. वासुदेवन 'शेष'
(4) **भारत में भाषायी एवं सांस्कृतिक एकसूत्रता**.....197
डॉ. बालशौरि रेड्डी
(5) **सूखती संवेदना और मुरझाता राष्ट्र**.....207
डॉ. राकेश कुमार सिंह
(6) **राष्ट्रीय नवजागरण की भारतीय अवधारणा**.....214
डॉ. कृष्णा कुमारी रावत

अध्याय : चार

राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीयता

(1) **राष्ट्रीय एकता में विश्वविद्यालयों की भूमिका**.....220
डॉ. अमरसिंह वधान
(2) **राष्ट्र निर्माण और शिक्षा नीति**.....227
डॉ. गुलाबचंद कोटाड़िया
(3) **राष्ट्रीयता और शिक्षा**.....232
प्रो. पी. के. झा 'प्रेम'
(4) **राष्ट्र निर्माण की चुनौतियाँ और समकालीन हिंदी कविता में राष्ट्रीय दायित्व**.....237
डॉ. ऋषभदेव शर्मा

अध्याय : पाँच

विविधा

(1) **राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव**.....245
डॉ. विद्या शर्मा
(2) **राष्ट्रीयता और नागरिकों का कर्त्तव्य-बोध**.....252
डॉ. शरद नारायण खरे
(3) **राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव**.....259
डॉ. इंदिरा अग्रवाल
(4) **राष्ट्रीय एकता में भारतीय रेल का योगदान**.....265
सिद्धेश्वर
(5) **राष्ट्रीयता और आतंकवाद**.....273
कर्नल एस. एस. राय
(6) **राष्ट्र की समकालीन चुनौतियाँ**.....304
जिया लाल आर्य
(7) **ग्राम-पंचायत एवं ग्रामीण विकास**.....308
सीताराम सिंह
(8) **स्वातंत्र्योतर भारत में राष्ट्रीयता की भावना**.....312
सिद्धेश्वर
(9) **सरदार पटेलः राष्ट्रीयता के प्रमुख सूत्रधार**.....318
राजवंश सिंह

समर्पण

नेताजी सुभाष चंद्र बोस

भारत के स्वाधीनता आंदोलन में और आजाद हिंद फौज की निर्णायक भूमिका अदा करने वाले नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, जिनका दृढ़ विचार था कि ब्रिटिश सरकार 'अनुनय-विनय' तथा अहिंसक आंदोलन से भारत को स्वतंत्रता नहीं देगी, जिनका क्रांति की तरह और भारतीय सैनिक मिलकर सशस्त्र क्रांति करने का स्पष्ट मत था, जो एक ऐसे महान क्रांतिकारी योद्धा, अपूर्व साहसी, विलक्षण स्वभाव एवं तीक्ष्ण बुद्धि के धनी व्यक्तित्व थे, जिन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर भारत में अँग्रेज शासन की जड़ें हिला दी थीं, ऐसे क्रांतिकारी देशभक्त एवं युवाशक्ति के प्रतीक और गरम दल के नेता सुभाष चंद्र बोस की पावन स्मृति को नमन करते हुए यह संस्मरणात्मक कृति समर्पित।

संपादकीय

समायाजत राष्ट्र और राष्ट्रीयता के व्यापक क्षेत्र में विभिन्न तत्व आते हैं। वस्तुत: 'जननी जन्म-भूमिश्च: स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है- यह भाव भारत में युग-युग से प्रत्येक देशवासी को अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम का भाव जगाने के लिए प्रेरित करता रहा है और राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ संपूर्ण राष्ट्र की एकता एवं अखंडता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज राष्ट्र जिस दौर से गुजर रहा है, उसमें अपनी मातृभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास जगाने की जरूरत है। अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति के प्रति तीव्रानुराग व्यक्त किए जाने के साथ-साथ राष्ट्र-विरोधी पुरातन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति जन-जन के हृदय में विद्रोह उत्पन्न करने का सामर्थ्य बढ़ाने की आवश्यकता है। संप्रति देशवासी यह महसूस कर रहे हैं कि समस्याओं की जटिलता पहले की अपेक्षा आज कहीं ज्यादा घनीभूत हुई है। सांप्रदायिकता पहले के वनिस्पत अधिक संगठित और भयानक बनी हुई है। साम्राज्यवादी हमलों के तौर-तरीकों में भी परिवर्तन हुआ है। सामंती कुसंस्कार आज भी अपने स्थान पर जस का तस विद्यमान है। जनतांत्रिक मूल्यों पर शोषण-सत्ता के शिकंजे कसते जा रहे हैं। देश-विभाजन का खतरा फिर दिखने लगा है। संसदीय प्रणाली तथा हमारी न्याय व्यवस्था शक के दायरे में आ गई है। देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना का तेजी से ह्रास होता चला जा रहा है। इस संदर्भ में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार कोई भी देश अपने अतीत के प्रति गौरव की भावना से विहीन होकर स्वाभिमान के साथ खड़ा नहीं हो सकता, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना से विहीन देश विकास के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, दूसरी बात यह है कि किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्र निर्माण का उत्साह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। चेतना और उत्साह ही ऐसे तत्व हैं, जो व्यक्ति के कर्म की ओर प्रेरित करते हैं। हमारे देश की एकता व अखंडता के लिए सबसे बड़ा खतरा हमारे अपने स्वार्थी, पदलोलुप व भ्रष्टाचारी नेता ही बनते जा रहे हैं। निश्चित रूप से ऐसी विषम परिस्थिति में आज राष्ट्र विरोधी शक्तियों एवं शत्रुओं को कमजोर करने की जरूरत है। कुछ इन्हीं भावों से प्रेरित होकर राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक

संस्था-राष्ट्रीय विचार मंच द्वारा राष्ट्र की सामूहिक उन्नति, प्रगति एवं समृद्धि हेतु सर्वसाधारण के हृदय में तीव्र ज्वाला प्रज्ज्वलित करने के ध्येय से राष्ट्रीयता पर आधारित इस पुस्तक के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है। विश्वास है इस पुस्तक के माध्यम से भारत के स्वर्णिम अतीत के गौरवमय चित्रों की सुंदर झाकियाँ व समृद्ध बनाने की प्रेरणा प्रदान हो जाएँगी, क्योंकि अतीत को केवल वर्तमान के दु:ख को भुलाने के लिए सुखद स्वप्न की भाँति ही चित्रित नहीं किया जाता, वरन् यह भविष्य की प्रेरणा बनकर भी सक्षम रूप में उपस्थित होता है। इसी को मद्देनजर रखते हुए इसकी अधिकतर रचनाएँ पौराणिक अथवा ऐतिहासिक राष्ट्रीय गाथाओं के चित्र एवं घटनाओं से समन्वित एवं प्रेरित हैं। साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्म, राजनीति, शिक्षा, पत्रकारिता, भाषा तथा महापुरुषों से संबंधित शोधपूर्ण आलेखों में जहाँ उनकी गाथाएँ अंकित हैं, वहीं प्रत्येक रचना के माध्यम से रचनाकार मानों यह संदेश देता हुआ प्रतीत होता है कि देश के पुरातन युग में मानवता के जिन उच्च मूल्यों की स्थापना हुई और दानवता की जिस हिंसक प्रवृत्ति को हमारे ऐतिहासिक पराक्रमी पुरुषों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी पराभूत बनाने का प्रयास किया उनसे निश्चित ही भारत के अतीत का एक उच्च आदर्श झलकता है।

आधुनिक युग में देश की एकता एवं अखंडता की रक्षा का सवाल आज इसलिए भी उठ रहा है कि विदेशी ताकतें भारत की प्रगति और समृद्धि के प्रति ईर्ष्या करती हुई हमारे देश के नवयुवकों को दिग्भ्रमित या गुमराह करने का प्रयास कर रही हैं। ऐसी स्थिति में देश के विभिन्न क्षेत्रों के युवकवृंद गलतफहमी का शिकार होकर देशद्रोही एवं विदेशी शक्तियों के शिकार न हो जाएँ अथवा उसके हाथों का खिलौना न बन जाएँ तथा क्षुद्र लोभ में फँसकर मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य न भुला बैठें, इससे हमें सावधान रहना है तथा उन नवयुवकों को सचेत करना है। ऐसे में यह पुस्तक देश के खासकर तरुण वर्ग को स्वदेश के रक्षार्थ उद्बोधित करती है, क्योंकि हमारे देश के नौजवानों के रहते हुए देश की अस्मिता कभी मिट नहीं सकती। इस प्रकार रचनाओं की चेतना निरंतर राष्ट्रीयता के प्रति सजग दिखाई देती है।

दरअसल प्रत्येक रचनाकार अपने देश की स्वतंत्रता के प्रति जागरूक होता है। यही कारण है कि अपने भावों के माध्यम से वह राष्ट्रीय स्वाधीनता के गीत गाता हुआ संपूर्ण देश व समाज के कण-कण में जागरण के स्वर फूँकने का प्रयास करता है। जागरण के ये स्वर देश के प्रत्येक

भू-भाग पर निर्भय होकर वैचारिक क्रांति की मशाल जलाने की तथा मुक्ति के स्वतन्त्रता को कण-कण में प्रज्ज्वलित करने की प्रेरणा देता है। इतिहास साक्षी है कि स्वामी विवेकानंद, मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', सुब्रह्मण्य भारती, माखनलाल चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, बंकिम चंद्र, प्रेमचंद, शरतचंद, भारतेंदु हरिश्चंद्र, निराला, शंकर कुरूप, जोश मलीहावादी, राम प्रसाद बिस्मिल, तिरूवल्लुवर, बलवंत गार्गी, 'नवीन', अप्पाल, रामलिंगम, गोपाल कृष्ण 'अडिग', शंकर राव देव, मेथानी, गोपीनाथ महन्ती, पाणिग्रही सरीखे राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि रचनाकारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक कथनों, घटनाओं और पात्रों के माध्यम से सामयिक अपेक्षाओं की पूर्ति कर न केवल रचना धर्म की प्रासंगिकता और सार्थकता प्रतिपादित की, अपितु देशप्रेम की तीव्र अनुभूति, जन्मभूमि के कण-कण के प्रति अगाध ममत्व, श्रद्धा एवं स्नेहभाव से देशवासियों का मार्गदर्शन किया। यही नहीं इन रचनाकारों ने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार, जीवन के प्रति प्रवृत्ति का, कर्म का, लोक सेवा का संदेश देकर नवीन विश्वास और आस्था तथा संकीर्ण प्रवृत्तियों का खंडन करके राष्ट्र जागरण का सफल प्रयास किया। इन्होंने युग-मानस को झंकृत कर उसमें नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का मंत्र फूँका।

इस संग्रह की रचनाओं में भारतीयता या स्वदेशी भावना के अंतर्गत देश की प्रतिष्ठा, स्वाभिमान और सम्मान के लिए भारतवासियों में अपनी भाषा, बोली तथा अपनी भूमि से जुड़े हुए राष्ट्रगान तथा स्वतंत्रता के प्रतीक राष्ट्रीय ध्वज पर रचनाकारों के स्वर दिखते हैं। देश की साझी गंध भरी मिट्टी जहाँ नवीन उत्कर्ष के लिए किसान और मजदूर का परिश्रम चाहती है, वहीं देश के सर्वांगीण विकास के लिए ग्रामीण जीवन को समुन्नत बनाने पर बल दिया गया है। देश का वर्तमान परिवेश बौद्धिक उन्नति के लिए प्रबुद्धजनों से नवीन विधान की आकांक्षा कर रहा है। इस दृष्टि से इसकी कई रचनाओं में नवीन युग के उत्कर्ष की आस्था का भाव तथा धरती के प्रति मंगलकामना के बिंदु भी छिपे हुए हैं और साथ ही देश के आंतरिक मूल्यों के प्रति सजग रहने का उपेदश भी ध्वनित है। कई रचनाएँ इस तथ्य को भी व्यक्त करती हैं कि यह संपूर्ण सृष्टि मानवीय समानता के ऊपर ही आधारित है इसलिए सामाजिक समरसता और सांप्रदायिक सद्भाव पर ये रचनाएँ बल देती दिखाई देती हैं।

आतंकवाद और हिंसा के संदर्भ में रचनाकारों ने इस तथ्य को भी उजागर किया है कि हिंसा वास्तव में मनुष्य का अपना ही अमंगल करती

हुई अपनी ही श्वासों में विष भर देती है। संसार का कोई भी कार्य हिंसा और आतंक के बल से कभी संपन्न नहीं होता है तथा यह सृष्टि भी मानवता की उज्ज्वलता को चाहती है। इस दृष्टिकोण से रचनाकारों ने अहिंसा और आतंक के वर्णनक्रम में मानवतावाद के उदात्त आयाम और सत्य अहिंसा की ओर संकेत किया है, क्योंकि संसार में अगर मानवता बची रहेगी, तो उस स्थिति में पृथ्वी की भी रक्षा होगी अन्यथा मानवता का अवमूल्यन होने पर पृथ्वी भी पूरी तरह नष्ट हो जाएगी।

इस संग्रह के रचनाकारों ने भारत की दीन दशा से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं से संपूर्ण राष्ट्रीय भावनाएँ व्यक्त की हैं। गुलामी गुलामी है, वह व्यक्ति के लिए कभी भी मान्य नहीं हो सकती। विदेश शासन का अर्थ है उत्पीड़न, शोषण, अत्याचार और दुराचार। राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने अपनी कृति 'भारत-भारती' में कहा-

'मानस-भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती,
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।'

ठीक इसी प्रकार इसके रचनाकारों ने देश के युवकों एवं नारियों को स्वतंत्रता और राष्ट्र-चेतना का संदेश दिया, देश-प्रेम और प्राणों को बलिदान करने की महती प्रेरणा दी। गौरवगान सुनाकर सजग और सतर्क बनाया। अपने पतन के कारणों पर विचार विमर्श करने के लिए राष्ट्रकवि ने आह्वान किया-

हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।

जिस प्रकार देश के अगणित देशभक्तों ने स्वतंत्रता की मशाल प्रज्ज्वलित कर देशवासियों के मन में देशभक्ति एवं अपने अधिकारों के प्रति लड़ने की भावना जाग्रत की थी, अँग्रेजी शासन का विरोध एवं स्वाभिमान जागरण करने वाली 1857 की क्रांति ने देश के सामान्यजन में राष्ट्रीयता का संचार किया था, आज देशवासियों में लुप्त होती राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने का प्रयास हम क्यों नहीं कर सकते? तो आइए, हम सम्मिलित रूप से इसके लिए कदम बढ़ाएँ। राष्ट्रीय विचार मंच ने इसके लिए एक अभियान छेड़ रखा है। दिल्ली में 31 अक्टूबर को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के 130वें जयंती-समारोह का आयोजन कर राष्ट्रीयता पर आधारित हिंदी एवं अँग्रेजी में दो पुस्तकों का प्रकाशन और इस समारोह के अवसर पर राष्ट्रीय एकता रैली का आयोजन उसी अभियान की

कड़ी है, जिसके माध्यम से एकता व अखंडता के प्रतीक सरदार पटेल के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया गया।

हम सब इस बात से पूर्णत: अवगत हैं कि आजादी के पूर्व देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी थी, पर स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ दशक बाद ही उनकी यह देशभक्ति जैसे तिरोहित हो गयी। आज हर तरफ हिंसा, आतंक विध्वंश, आंदोलन, अलगाव का साम्राज्य स्थापित हो गया है। हम देशवासी आज जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के नाम पर एक दूसरे को कत्ल करने पर आमादा हैं। देश के प्राय: अधिकांश क्षेत्रों में नक्सलवादी, भूमि सेना, पिपुल्स वार ग्रुप, एम.सी.सी. तथा उग्रवादी संगठनों द्वारा सैकड़ों लोगों की हत्या और सार्वजनिक संपत्ति की बर्बादी की जा रही है। क्या यही है राष्ट्रीयता और विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के नागरिकों का राष्ट्रीय चरित्र? समाज के प्रति न तो कोई प्रतिबद्धता और न राष्ट्र के प्रति कोई लगाव। देश के तथाकथित राजनेताओं की नैतिकता प्राय: शून्य पर है। केवल राष्ट्रीय पर्व-समारोहों पर, झंडोत्तोलन और अपने भाषण में लंबे-चौड़े आश्वासन ही उनकी देश सेवा रह गई है। प्रशासन से जुड़े बड़े-बड़े अधिकारी भी उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर लूट में शामिल हैं। पिछले दिनों मुंबई में केंद्रीय उत्पाद कर आयुक्त के यहाँ से पाँच करोड़ रुपए से अधिक की संपत्ति का बरामद होना क्या हतप्रभ करने वाली घटना नहीं है? निजी स्वार्थ में लिप्त हो राष्ट्र हित को लोगों ने तिलांजलि दे रखी है।

गाँधी के खून से रंगे दो हाथ आज करोड़ों हाथ बन गए हैं। राष्ट्रीय एवं सामाजिक दायित्व से बेखबर, बेफिक्र उद्यमियों की विलासी अपसंस्कृति ने आजादी को उच्छृंखलता, उदंडता और अनुशासनहीनता का पर्याय बना दिया है। जेसिका लाल और बी.एम.डब्ल्यू प्रकरण की यादें भी तेजी से धुँधला रही हैं। विडंबना यह है कि इन संपन्न सबल विकृत देशवासियों का कोई वास्ता अपनी जन्मभूमि से नहीं रह गया है। इनका खाना-पहनावा, भाषा-बोली, मनोरंजन के साधन लटके-झटके सब आयातित हैं। दुर्भाग्य से शासक वर्ग के ये प्रतिनिधि बाकी नौजवानों के लिए भी 'रोल मॉडल' बनते जा रहे हैं। इनकी जूठन-उतारन शहर के कस्बों व गाँवों तक पहुँच वहाँ का फैशन बन जाती है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और विज्ञापन व्यवसाय मिलकर इस अश्वमेध में जुटे हैं। किसमें है दम जो इन घोड़ों को रोक सके? जरूरत आज लव-कुश बनने की है जो पिछले दरवाजे से घुसे आ रहे और विदेशी साम्राज्यवादी अंतरराष्ट्रीय परस्परनिर्भरता के नारे बुलंद करते हुए सिंह द्वार

से दहाड़ते प्रवेश कर रहे हैं उसको रोकें।

दरअसल, आजादी के बाद जिनके हाथों देश के संचालन का दायित्व सौंपा गया था वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि आजादी का मतलब सिर्फ राजनीतिक स्वाधीनता नहीं। आर्थिक आजादी यानी आम आदमी का स्वावलंबन इसका अभिन्न हिस्सा है। आम आदमी को लंबी-चौड़ी अर्थशास्त्र की परिभाषाओं से कोई वास्ता नहीं, उसको चाहिए भूख से आजादी। क्या हम ईमानदारी से यह कह सकते हैं कि यह आजादी हमने हासिल कर ली है? आम आदमी को किस मुँह से यह सुझाएँ- 'बोल कि मन आजाद हैं तेरे।' प्राय: प्रत्येक राष्ट्रीय पर्व के अवसर पर 'ऐ मेरे वतन के लोगों जरा आँख में भर लो पानी' सुनकर सिहर तो उठते हैं पर वही 'ढाक के तीन पात'। चाहे संसद का वह पवित्र प्रांगण हो या चुनावी सभा के वक्त किए गए वायदे, सभी झूठ के पुलिंदे सिद्ध हुए। पिछले छह दशक में हमने अच्छे भले अर्थवाले शब्दों को, नारों को इतना अधिक विकृत किया है कि अब उनसे वितृष्णा होने लगी है। 'मेरा भारत महान', 'साम्राज्यवाद', 'जरा आँख में भर लो पानी', 'जय जवान जय किसान', 'भारत उदय', 'फील गुड' तथा 'भारत गाँवों का देश है'- ये सारे शब्द अपना प्रभाव खो चुके हैं। ये शब्द गर्वोन्नत करने की बजाय खीझ और गुस्से से भर देते हैं। पतोन्मुख राजनीतिवाले देश को महान कह जय घोष करना जले पर नमक छिड़कने की तरह लगता है, क्योंकि देश की अधिकांश जनता खासकर गाँवों में बसने वाले लोग आज भी रोटी, कपड़ा तथा मकान जैसी बुनियादी सुविधाओं के लिए मोहताज हैं। भारत को आजादी मिली, हम सभी भारतवासी गौरवान्वित हैं, पर हमारा गौरव, हमारा आत्म सम्मान तभी कायम रह सकता है जब हम जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, भाषा और क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर देश के सभी नागरिकों विशेषकर हाशिए पर खड़े अपने हक से अभी तक वंचित लोगों के प्रति सोचें, विचारें और राष्ट्रीय दायित्व निर्वाह की भावना से ओत प्रोत हों। यह पुस्तक उसी सोच और दायित्व की भावना का प्रतिफल है जिसमें देश के पंद्रह राज्यों के कुल 75 प्रतिनिधि रचनाकारों की रचनाएँ शामिल की गई हैं और यह पुस्तक दो भागों में विभाजित है। दोनों के नाम क्रमश: राष्ट्रीयता के विविध आयाम (भाग-एक) एवं राष्ट्रीयता के विविध आयाम (भाग-दो) हैं।

इस संदर्भ में यहाँ एक और बात की चर्चा करना यथोचित होगा कि राष्ट्र के प्रति सम्मान के भाव में ह्रास होते जाने से लोगों की सोच में

खोट उत्पन्न होते जा रहे हैं और विचारों में कुप्रवृत्तियाँ पनपती जा रही हैं जिसके लिए वैचारिक क्रांति आवश्यक है। वैचारिक क्रांति से ही लोगों के आचार-विचार और व्यवहार में परिवर्तन लाया जा सकता है और नागरिकों को मानसिक रूप से समृद्ध किया जा सकता है। मानसिक समृद्धि के लिए यह पुस्तक कारगर सिद्ध हो सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। देशवासियों में राष्ट्र-चेतना लाने तथा नागरिकों में अपने राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह करने के लिए प्रेरित करने में राष्ट्रीयता पर आधारित दोनों पुस्तके अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकें तो मंच का यह प्रयत्न सार्थक होगा।

मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ उन सभी उदार एवं सहृदय अपने रचनाकारों के प्रति, जिन्होंने अपनी रचनाएँ भेजकर इस पुस्तक को स्तरीय एवं पठनीय बनाने की कोशिश की हैं। रचनाओं के संचयन से लेकर पुस्तक के प्रकाशन तक की यात्रा में जब कभी हमारे समक्ष समस्याएँ आ खड़ी हुईं, मंच के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री यू. सी. अग्रवाल के मार्गदर्शन से हमें सदैव प्रोत्साहन मिला। भारत के पूर्व नियंत्रक महालेखापरीक्षक एवं कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी की भूमिका तथा कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा के पूर्व कुलपति डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार की शुभाशंसा से हमारा मनोबल बढ़ा है, मैं तहेदिल से आप दोनों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इसके साथ ही मैं अभारी हूँ राष्ट्रीय विचार मंच के वर्तमान राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम' का जिनका सहयोग एवं मार्गदर्शन मुझे हर कदम पर मिलता रहा है। संपादक मंडल के सभी सदस्यों के अपेक्षित सहयोग से ही यह कार्य संपन्न हो पाया है। मंच की ओर से मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। मंच के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष तथा देश के जाने-माने साहित्यकार डॉ. बालशौरि रेड्डी और गाँधी-दर्शन समिति (राष्ट्रीय) कोलकाता के श्री मंगला प्रसाद के सुझाव काम आए, मैं इन दोनों हस्ताक्षरों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। हर कदम पर साथ दिया अणुव्रत महासमिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो. धर्मेन्द्र नाथ 'अमन' ने। मैं इन्हें तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूँ।

संपर्क :

'संस्कृति', ए-164, पार्क रोड
ए.जी कॉलोनी, शेखपुरा पटना-25
मो. - 9431037221

राष्ट्रीय महासचिव
राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली
दूरभाष : 011-22530652

भूमिका

श्री टी. एन. चतुर्वेदी

देशभक्ति राष्ट्रीय भावना की आधारशिला है। देश की आजादी के पूर्व राष्ट्रीयता एक उमंग भर थी। केवल विदेशी शासन और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ ही वह उमंग सीमित थी। उन दिनों राष्ट्रीयता के सामाजिक तथा आर्थिक मूलों की ओर लोगों का ध्यान सामान्यत: नहीं जा सका था, किंतु आजादी के बाद वाले भारत में यह बात अब स्पष्ट हो गई है कि राष्ट्रीयता की भावना, जो सामाजिक तथा आर्थिक मूलों से अनिवार्यत: जुड़ी हुई है, हमारी सामाजिक संरचना एवं हमारी संस्कृति की आंतरिक चेतना को नियंत्रित करती है। मुश्किल यह है कि हम देशवासियों के मन में आज राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट कल्पना ही नहीं है। यही कारण है कि यहाँ राष्ट्रीयता की भावना का बड़ी तेजी से ह्रास हो रहा है। सच तो यह है कि हमारी राष्ट्रीयता का मूल आधार है हमारा संविधान। उसकी प्रस्तावना में स्वतंत्रता और समता के साथ बंधुता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह मूल्य व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्रीय एकता सुनिश्चित करने के लिए है। राष्ट्र की एकता तभी मजबूत हो सकती है जब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान मिले और साथ ही हममें भाई-चारे का विकास हो।

किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। और इस राष्ट्रीय चेतना को बाँधे रखने के लिए वहाँ के नागरिकों में सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता के सूत्र होने चाहिए। राष्ट्रीयता की भावना अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल-इन सबकी चेतना फैलाने में नागरिकों का योगदान होता है। राष्ट्रीय चेतना कोई निश्चेष्ट भावना नहीं है, बल्कि यह एक अत्यंत गतिमान, उत्प्रेरक तथा स्फूर्तिदायक चेतना है, जो मनुष्य के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था-राष्ट्रीय विचार मंच के राष्ट्रीय महासचिव सिद्धेश्वर के संपादकत्व में मंच की ओर से प्रकाशित 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' नाम्नी यह पुस्तक

संभवत: राष्ट्रीयता के विचारों को देशवासियों के मन-मस्तिष्क में भरने और उनकी चेतना को संघटन क्रिया के कार्यों में परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करती है। वस्तुत: 'राष्ट्रीयता' शब्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में से एक प्रमुख वृत्ति है जिसकी वजह से मानव अपने राष्ट्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अभिन्न लगाव रखता है और वह अपने राष्ट्र को सदा समृद्ध एवं उन्नतिशील देखना चाहता है। कुछ इसी भावना से प्रेरित होकर इसके संपादक ने राष्ट्रहित एवं समग्र समाज-कल्याण के लिए राष्ट्रीयता पर आधारित प्रस्तुत पुस्तक को दो भागों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है-'राष्ट्रीयतां के विविध आयाम' (भाग-एक) एवं राष्ट्रीयता के विविध आयाम (भाग-दो)। सिद्धेश्वर जी हमारी हार्दिक बधाई के पात्र हैं। पाठक इसे पढ़कर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करेंगे।

प्रत्येक देश और उनकी संस्कृति के आधार भिन्न-भिन्न होते हैं। भारत और भारतीय संस्कृति का यह अहोभाग्य है कि इसकी आधारशिला त्याग, वैराग्य, ममता, बंधुत्व, दया, करुणा, सत्य और अहिंसा पर टिकी हुई है। इसी अविछिन्न धारा को संतों, साधुओं, श्रमणों, साध्वियों, भिक्षुकों ने प्रवहमान रखा है। यह इस मिट्टी की विशेषता कही जा सकती है कि यहाँ संतों का सम्मान सम्राटों से बढ़कर रहा और संतों ने 'संतन को कहाँ सीकरी सो काम' शब्दावली का सहारा लिया। संस्कृति के सिद्धांतों में मानवीय भावनाओं का समावेश है, लेकिन कोई भी संस्कृति केवल अपने इतिहास एवं यशोगाथाओं के सहारे जीवित नहीं रह सकती। यह तभी संभव है जब उसका अनुयायी वर्ग तदुनुरुप आचरण-विचरण करे और प्राणीमात्र की भलाई के लिए अग्रसर हो। किंतु आज वैसा इस देश में देखने को नहीं मिल रहा है। धार्मिक परंपराओं ने हमारे समाज के साथ न्याय नहीं किया है। इसका परिणाम विभाजित लोकशक्ति के रूप में सामने आया है। भ्रष्टाचार हमारी व्यवस्था का वायरस है जिसके उभरने से व्यवस्था उद्येश्यपरक और सेवापरक नहीं बन पा रही है। आमजन के विरूद्ध हो रहे भ्रष्टाचार को सुधारने की गुंजाईश है, मगर राष्ट्र के साथ हो रही गद्दारी को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। ऐसी विषम परिस्थिति में हमें राष्ट्र व समाज के प्रति प्रतिबद्धता दिखानी होगी। मुझे खुशी इस बात की है कि मंच के राष्ट्र भर में फैले सदस्यों के साथ यह साहस और विवेक है जिसकी वजह से ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने के लिए मंच के राष्ट्रीय महासचिव प्रेरित हुए। यह इस बात का परिचायक है कि यह देश पृथ्वी पर ऐसी संस्कृति का संवाहक

है जो प्रेम, करुणा और संवेदना से भरा है। ऐसे ही संवेदकों के बल पर गुलामी के लंबे काल खंड और विदेशी विचारों द्वारा हमारे गौरव ग्रंथों व मान बिंदुओं पर डाली गई गर्द की चादर हटाई जा सकती है और अपने गौरव का, मान का, ज्ञान का, आदर किया जा सकता है और सोते हुए भारत को जगाने और झकझोरने का काम किया जा सकता है।

इस संदर्भ में यह भी कहना युक्तिसंगत लगता है कि लोक चेतना जो भारतीय जीवन की मूल चेतना है यह देश भी उसका वाहक है, किंतु लोकजीवन के तमाम किस्से गीत-संगीत, कलाओं, शिल्पों को बाजार की ताकतों ने घालमेल कर रखा है जिसकी वजह से इसकी जीवतंता और मौलिकता के समक्ष खतरा उत्पन्न हो रहा है। हजारों-हजार गीत, कविताएँ, साहित्य, शिल्प और तमाम कलाएँ नष्ट होने के कगार पर है और उसके गुण ग्राहकों की कमी होती जा रही है, क्योंकि बाजार आज सारे मूल्य तय कर रहा है जो लोक को नष्ट करने का षड्यंत्र है। संस्कृति अलग से कोई चीज नहीं होती, वह हमारे समाज के सालों से अर्जित पुण्य का फल है जिसे बचाने और संरक्षित करने के लिए और इसके विकास के लिए राष्ट्रीय विचार मंच और उसके मुख-पत्र-'विचार दृष्टि' राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के साथ-साथ अपनी विरासत और लोक को बचाने की ओर अग्रसर है।

'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-एक) एवं 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-दो) नाम्नी दो पुस्तकें पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की गई हैं जिसका उद्येश्य साहित्य और इसके माध्यम से साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने हेतु एक आवश्यक वातावरण तैयार करना है। इसकी दृष्टि स्पष्ट, पूर्वाग्रहमुक्त और राष्ट्रीयता की सांस्कृतिक अवधारणा से विनिर्मित है। यह उन मूल्यों के प्रति अडिग और आस्थावान है जिसकी समसामयिकता का तेजी से लोप होता जा रहा है और बाजारवादी आयातित सभ्यता व संस्कृति जिसे तिरस्कृत कर रही है। व्यवसायिकता की इस मरुभूमि में यह पुस्तक साहित्य की मूल्यपरक कसौटी पर उन गिन-चुने नखलिस्तानों की तरह है, जो हाँफती-भागती मनुष्यता के लिए थोड़ा पानी बचाकर रखेगी। इसके सारे सरोकार को सामाजिकता के प्रति प्रतिबद्धता और राष्ट्रीयता की संवेदनात्मक अनुभूतियों से संचालित है। इसके लेखों एवं अग्रलेखों में राजनीति से आक्रांत होकर बिखरते समाज, साहित्य, संचार-माध्यम, धर्म और संस्कृति के सार्वकालिक सरोकारों के मानदंडों से जुड़े सवाल और उभरते प्रश्न एवं संदर्भो से जुड़े

तथ्य हैं। इसका दायरा वहाँ तक है जहाँ अभी भी थोड़ी बहुत रोशनी शेष है। इसके प्रकाशक को विश्वास है कि अँधेरा व्यक्ति और समाज की अंतिम नियति नहीं है। इसके सहयोगी रचनाकारों ने यदि प्रश्न उठाया है, तो उसका जवाब देने का साहस भी किया है और लेखकीय सच को प्रस्तुत करने में कोताही नहीं की है।

सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तिनिष्ठ चिंतन घातक हो सकता है। इससे न केवल भ्रष्टाचार पनपता है, बल्कि इससे अराजकता का भी जन्म होता है, जो एक स्वस्थ समाज एवं सबल राष्ट्र के लिए अहितकर है। वैयक्तिकता की सोच पश्चिमी चिंतन की देन है, जिसकी भारतीय संस्कृति से कोई संगति नहीं बैठती है। भारतवासियों की राष्ट्रीयता आज इसी वैयक्तिकता की शिकार है। इसलिए समय की माँग है कि हमें नए वातावरण में अतीत की रीति को फिर से चलाना है, अपनी आत्मा के दर्पण से आपाधापी के मैल को साफ करना है, ताकि हम देशवासी अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकें। हमें विश्वास है कि इसकी रोशनी में शक और सुबह के बादल छँट जाएँगे, दुविधा और विरोध का कोहरा दूर होगा और मेल व मुहब्बत का आसमान देशवासियों की आँखों की ज्योति वापस लाएगा जिससे हम सब मिलकर राष्ट्र की कौमी जिंदगी का नया ताना-बाना तैयार कर सकेंगे। हमें पूरा भरोसा है कि राष्ट्रीय विचार मंच से जुड़े लोग राष्ट्र के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर इसकी समग्ररूपता को फिर से बलवती बना सकेंगे। मंच की ओर से प्रकाशित यह पुस्तक अपनी पठनीय सामग्रियों के जरिए सबल राष्ट्र के निर्माण में सहयोगी साबित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरी मंगलकामना और सहानुभूति उनके साथ है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रधान संपादक सिद्धेश्वर जी तथा इनके सभी सहयोगी बंधुओं को हमारी हार्दिक बधाई। विश्वास है इस पुस्तक का साहित्यजगत और देशप्रेमियों के बीच गर्मजोशी के साथ स्वागत होगा।

'प्रकाशालय'
ए-4, सेक्टर-17
नोयडा, गौतमबुद्धनगर
उत्तरप्रदेश

टी. एन. चतुर्वेदी
कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल एवं
भारत के पूर्व नियंत्रक-महालेखापरीक्षक
नई दिल्ली

शुभाशंसा

डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के पूर्व अध्यक्ष सुप्रतिष्ठित पत्रकार श्री सिद्धेश्वर द्वारा सम्पादित 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-एक) तथा 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-दो) उल्लेखनीय कृतियाँ हैं विशेषत: भूमण्डलीकरण के फैलते सर्वग्राही दुष्परिणामों के सन्दर्भ में। भूमण्डलीकरण के प्रवर्त्तकों का मानना है कि अब राष्ट्रियता की अवधारणा निरर्थक हो चली है। भूमण्डलीकरण, जो बाजारवाद का छद्म नाम है, पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार आर्थिक तथा सांस्कृतिक नवसाम्राज्यवाद का पर्याय है तथा परिचय के उत्पादों की खपत के लिए राष्ट्र की सीमा को बाधक मानता है। वह निर्बन्ध मुक्त व्यापार का ही हिमायती नहीं है, अपितु अपने उत्पादों के लुभावने विज्ञापन द्वारा विकासशील राष्ट्रों की सामाजिक-सांस्कृतिक सोच को भी आक्रान्त करना चाहता है। उन राष्ट्रों की अस्मिता को विखण्डित करना चाहता है।

इस पृष्ठभूमि में भारतीय लेखकों-विचारकों का कर्तव्य है कि वे भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता के सन्दर्भ में उभरते सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक संरचना के सम्बन्ध में आलोचनात्मक दृष्टि अपनावें। प्रस्तुत ग्रन्थ 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-एक) तथा 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम (भाग-दो)' पाँच खण्डों में विभाजित हैं। प्रथम खण्ड 'राष्ट्र चेतना के कर्णधार' के अन्तर्गत कबीर से लेकर अधुनातन चिन्तकों-साहित्यिकों के विचारों का समीक्षण है। द्वितीय खण्ड में राष्ट्रीयता के दृष्टि से साहित्य के महत्व का निरूपण है। तीसरे वर्ग में भारतीय सांस्कृतिक चेतना प्रवाह और राष्ट्रीय अस्मिता का विमर्श है। चतुर्थ खण्ड में राष्ट्र की समृद्धि-शक्ति के संवर्धन के लिए राष्ट्र-भावना की सतत जागरूकता की अपेक्षा का विवेचन है। पन्चम खंड में राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में लोकतंत्र एवं नारी की भूमिका का समीक्षण है। इस प्रकार नि:सन्देह इन दोनों ग्रन्थों में राष्ट्रीयता के विविध आयामों को पूरी शिद्दत से उकेरा गया है।

वर्तमान में हमारा राष्ट्र संक्रमणकाल से गुजर रहा है। समाज के सभी क्षेत्रों में परम्परा को नकारने का प्रयास तो दीख रहा है, परन्तु उससे उत्पन्न विरूपता को सँवारने या आसन्न रिक्तता को भरने के लिए सकारात्मक सोच पनप नहीं रही है। इस त्रासद समस्या की घोर विश्वप्रसिद्ध

भाषा-शास्त्री नोआम चौमस्की ने दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों-शिक्षकों को लगभग एक दशक पूर्व सम्बोधित करते हुए उनका ध्यान आकृष्ट किया था और चेतावनी दी थी कि वे पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण न करें, क्योंकि वहाँ न तो परिक्व्य रह गया है और न सामाजिकता। व्यक्तिवाद की उग्रता एवं धनलिप्सा ने उसे ग्रास रखा है। जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने 1968 में ही परिवार की संरक्षा को राष्ट्रीय अनिवार्यता बताते हुए एक प्रस्ताव पारित किया था। भारतीय परम्परा में परिवार की अवधारणा का पोषण समाज से ध्यान में रखकर किया गया है। वरवधू को आशीर्वाद के रूप में कहा जाता है कि तुम दोनों सौ वर्षों की आयु पूर्णता के बिताओ-अपने घर में नाती-पोतों के साथ आनाद मनाते हुए-

'इहैवास्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पौत्रैः नप्तृभिः मोदमानौ स्वेदमे।।

राष्ट्र की नींव पारिवारिक स्थिरता होती है। इसी के आधार पर समाज-राष्ट्र की अट्टालिका निर्मित होती है। इसके लिए, राष्ट्रीय अस्मिता के लिए सतत जागरूकता की अनिवार्यता होती है। इसी कारण वैदिक उक्ति है- 'राष्ट्रे जागृयाम'। आज के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को विखण्डन से बचाने के लिए राष्ट्रीय अस्मिता के विविध आयामों के सन्दर्भ में चिन्तन अनिवार्य हो उठा है। इसकी पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार से निःसन्देह होगी। इसके आलेखों द्वारा परम्परा और परिवर्तन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की विकृति तो होती ही है, बाजारवाद से उत्पन्न सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक-राजनैतिक आस्थाविहीनता जो धनलिप्सा के अतिरेक से उद्भूत हुई है, के निराकरण में महत्वपूर्ण योगदान होगा इसमें सन्देह नहीं। अन्त में महाकवि भवभूति के शब्दों को दुहराना चाहूँगा-

ये नाम के चिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैषयत्नः।
उत्पस्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ध्ययं निवरधिः विपुला च पृथ्वी।।

(जो अवज्ञा से भरे हैं या जिन्हें अपने अल्प ज्ञान का ध्यान है उनके लिए यह रचना नहीं है। यह पृथ्वी विस्तृत है और समय की सीमा नहीं है, अतः कोई न कोई इस ग्रन्थ का 'गुणग्राहक' विद्यमान होगा या जन्म लेगा ही)

'सरस्वती महतां महीतयाम्'

डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार
पूर्व कुलपति, संस्कृत वि.वि., दरभंगा

अध्याय : एक
राष्ट्र चेतना के कर्णधार

दिनकर के 'कुरूक्षेत्र' में अहिंसा और विश्वशांति के स्वर

डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर

दिनकर के काव्य-जीवन का प्रारंभ भारत के स्वाधीनता संग्राम की क्रांति चेतना के साथ हुआ। बिहार का ज्वलंत एवं विद्रोही राष्ट्रीय-जीवन युवा कवि को क्रांतिकारी बना सका तो माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और मैथिलीशरण गुप्त के देश-प्रेम और कवि कल्पना ने आक्रामक काव्य-निर्माण के लिए उत्प्रेरित किया होगा। नि:संदेह कहा जा सकता है कि युवा कवि दिनकर की उन दिनों की कविताएँ युद्ध को वरेण्य मानकर रची गयी हैं। उनके रेणुका (1935) और हुंकार इन दोनों काव्य संकलनों में पौरुष, वीरता और युद्ध घोषणा के शक्तिशाली स्वर ही मुखरित हुए हैं।

उस समय के दिनकर को युधिष्ठिर की नहीं, भीम और अर्जुन की अपेक्षा थी-

'रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उसको स्वर्ग, धीर
पर, फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर
कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय नृत्य एक बार
सारे भारत में गूँज उठे
हर हर बम का फिर मंत्रोच्चार।'

'रेणुका' की 'तांडव', 'पाटलीपुत्र की गंगा से', 'बागी' इत्यादि कविताओं में जो क्रांतिकारी स्वरघोष गूँज उठा वही स्वर पूर्वाधिक, शक्तिशाली होकर 'हुंकार' की विपथगा, 'अनलकिरीट', 'स्वर्दहन', 'हाहाकार' आदि कविताओं में भी मुखरित हो उठा था।

'रण की घड़ी, जलन की बेला, रूधिर पंक में गान करो।
अपना साकल धरो कुड में, कुछ तुम भी बलिदान करो।'

युद्ध को अपनी काव्य-यात्रा में दिनकर ने फुर्ति से अपनाया था। वह अपनी यात्रा का प्यार संबल था। यही दृष्टिकोण कुरुक्षेत्र में भी उन्होंने अपनाया है, यह आरोप होता दिखाई देता है। समर्थन में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं-

'रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो (सर्ग 7)'

परंतु फिर भी, कुरूक्षेत्र तक की यात्रा के उपरांत दिनकर का युद्ध-संबंधी स्वर बिल्कुल बदल गया है। युद्ध की अनिवार्यता पर उन्होंने तात्त्विक विश्लेषण किया है-

'जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम होगा
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा' (सर्ग 7)

उपर्युक्त कथन को साम्यवादी चिंतना से जोड़ लेना भारतीय कवि, विशेषकर देशीय संस्कृति से अनुप्राणित दिनकर जैसे कवि के साथ अन्याय करना है। भारतीय संस्कृति का मूल बहुत गहरे गया है। जैनाचार्य समेत भद्र की वाणी में सर्वोदय संकल्प निम्न प्रकार रहा है-

'सर्वादामन्तकरं निरन्तम
सर्वोदयम् तीथमिंदं तथैव।'

सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास अर्थात सर्वोदय जीवन तभी संभव होगा, जबकि मानव का नैतिक धरातल अध्यात्ममूलक हो।

दूसरी ओर, मानव सभ्यता का दूसरा पहलू भी अ[illegible] परंपरागत बुद्धि के साथ अब तक बढ़ता चला आया है, अर्थात् शांति-स्थापना के लिए हिंसा को अपनाने का चिंतन। परंतु फिर भी, स्पुतनिक युग तक आकर प्रस्तुत हिंसात्मक प्रयोग मानव-जाति के लिए संकटमय हो उठा है। अब एक मात्र टिकाऊ तरीका प्रेम का, अहिंसा का तरीका महसूस हो रहा है। यह स्वाभाविक भी है, जबकि मनुष्य का सहजात गुण प्रेम का ठहरा। यह स्वभाव विशेष अपने मौलिक तत्व को अनंत पा गया तो निश्चय ही यह एक बड़ी बात होगी। यहाँ तक आकर मनुष्य ने डार्विन और हक्सले के सिद्धांतों को पीछे छोड़ दिया है। अब मानव चाहता है कि उसका जीवित रहना नितांत आवश्यक है, क्योंकि उसका समयुगीन भाई संकट में है।

उसके संकट-निवारण की चेष्टा करना युग-धर्म है। इस प्रकार परस्पर विश्वास का, प्रेममय व्यवहार का तथा अहिंसात्मक जीवन का स्थापित होना सर्वोदय का चरम लक्ष्य है।

गाँधीजी से प्रभावित विचारशील कवि दिनकर ने युद्ध का तथाकथित परंपरागत तत्व शांति स्थापना के लिए युद्ध का विश्लेषण कुरुक्षेत्र में किया है। यहीं कहना पड़ता है कि गाँधीजी के सर्वोदय संबंधि विचार का दिनकर पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। वह विचार स्वराज्य की परिसीमा पर जाकर रूकता है। स्वराज्य, जो अखिल विश्व की सीमा को भी छू जाता है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में भी वही स्वतंत्र-भावना, समभावना परिलक्षित है। उसमें न रंग भेद है, न राष्ट्र भेद। यह भारतीय सिद्धांत तत्वमसी का दर्शन है।

दिनकर का युद्ध संबंधी अपना विचार इस प्रसंग में ठीक लगता है- 'आदमी युद्ध का पीछा नहीं करता। युद्ध ही मनुष्य का पीछा करता है और जब हमें वह अपने दाँतों से पकड़ लेता है, हम अपनी जान बचाने को उससे संघर्ष करते हैं। आत्मरक्षा-परक युद्ध को परंपरा धर्म युद्ध मानी थीं।'

उपर्युक्त कथन भारतीय संस्कृति का अनुबंध तत्व है। स्वतत्वाधिकार की रक्षा के लिए, धर्म की रक्षा के लिए अगर विवश होकर तलवार उठानी पड़ी, तो वह युद्ध मोह से नहीं वही धर्म युद्ध है। महाभारत को वही युद्ध माना जाना चाहिए था। फिर भी युद्धोपरांत अधर्म भीरूता ही बनी रहे, तो धर्म-युद्ध से भी कोई लाभ नहीं होने का। दु:शला के मन में अधर्म शंका बनी ही रही कि मेरे बच्चे को मारने भाई अर्जुन और कृष्ण आये हैं, जबकि अर्जुन और कृष्ण जयद्रथ के राज्य से गुजर रहे थे। हाँ, युद्ध हुआ। युद्ध का भावावेश संक्रमणशील है। एक चिनगारी महानाश के लिए पर्याप्त हो जाएगी-

'युद्ध का उन्माद संक्रमणशील है,
एक चिनगारी कहीं जागी अगर,
तुरंत वह उठते पवन उन्वास हैं,
दौड़ती, हँसती, उबलती आग चारों ओर से
और तब अवकाश रहता है कहाँ,
तत्व चिंतन का, गंभीर विचार का?'

महाभारत कथा देशीय संस्कृति को चित्रित करती है।

इसलिए आज हमें उससे ममत्व है, आर्द है और गर्व है। हमारी पुण्यभूमि का संस्कृत-संदेश है-

सव भवन्तु सुाखनः
सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तुः
माकश्चिदद्दुः रवभाग् भवेत्।'

'कुरूक्षेत्र' महाकाव्य के कवि ने, मेरा विचार है, इस महान मोह की अभिव्यक्ति अपनी रचना में स्पष्टतः की है। जहाँ युवा दिनकर ने देश की रक्षा के लिए 'रेणुका' में अर्जुन और भीम की अपेक्षा मानी थी, वहीं कुरुक्षेत्र में अवश्य ही युधिष्ठिर और भीष्म पितामह को सर्वोपरि चित्रित किया है। इन दोनों भारतीय सांस्कृतिक प्रतीक पुरुषों की निरंतर साधना, अक्षीण तपस्या और अगाध चिंतन का गुणगान करके दिनकर ने अपनी देशीय संस्कृति को श्रद्धांजलि अर्पित की है।

युधिष्ठिर हमेशा क्षमाशील पुरुष थे। सच्चे अहिंसक थे। वे सत्य के अन्नय पुजारी थे। भारतीय संस्कृति की सुगंधि से उनका हर स्पंदन, हर क्षण महक उठता था। वे वीर पुरुष थे। फिर भी महाभारत युद्ध के भीषण परिणाम को देखकर वे क्लांत एवं निराश हो गए। अपने भाई दुर्योधन से युद्ध न करके भीख माँगकर जीना भी उन्हें पसंद था-

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तो भी हाथ रक्तपात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं, भीख माँगा मरता।'

युधिष्ठिर व्यक्तिगत सुख को न चाहकर समाज एवं राष्ट्र के सुख को चाहते थे। युद्ध उपरांत उसके अनेकविध दुःखद परिणामों से विह्वल तथा निराश होकर वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उस महासमर का एक मात्र कारण व्यक्तिगत अभिमान था। 'मुझे भी यह अभिमान व्याप गया था कि मेरे भाई अजेय हैं।' उस अभिमान ने धर्मिष्ठ युधिष्ठिर को भी विभ्रांत एवं पथभ्रष्ट कर दिया।

युधिष्ठिर का यह पश्चाताप जागतिक जीवन में नया उन्मेष एवं आशा ला सकता है। यह मानव मात्र का पश्चाताप हो, तब संसार शांति का अनुभव कर सकता है। युधिष्ठिर के विचारों का समर्थन करते हुए भीष्म पितामह ने भी कहा कि मैं भी यही चाहता हूँ कि जगत में संघर्ष की भावना मिट जाय। मनुष्य आपस में कैसे प्रेम, करुणा और अहिंसा की महान

मानसिकता से रहें और बसुधैव कुटुम्ब का भाव अपनावें?

'मैं भी हूँ सोचता, जगत में
कैसे उठे जिज्ञासा
किस प्रकार फैले पृथ्वी पर
करुणा, प्रेम अहिंसा
जिस मनुज किस भाँति परस्पर
होकर भाई-भाई
कैसे रुके लड़ाई
पृथ्वी पर हो साम्राज्य स्नेह का
जीवन स्निग्ध सरल हो
मनुज प्रकृति से विदा सदा को
दाहक द्वेष-गरल हो।'

पितामह की हर कामना राष्ट्रहित के अनुकूल था जो सारे संसार के लिए मंगलकारी होता है। जगत में मंगल हो, यह कामना भारतीय संस्कृति की संपदा है। विश्वबंधुत्व की कामना से भारतीय चिंतन प्रतिष्ठित है। कैकेई पुत्र भरत भाई के वन जाने के लिए अपने को निर्दोष बताते हुए राम की माता कौशल्या से याचना करते हैं-

'भक्तया विवद मानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यत:
तेन पापेन युज्येता यस्यार्मोऽनुमतो गत:' (बाल्मीकि रामायण)

'हे माता जब दो व्यक्तियों के बीच में विवाद छिड़ जाता है और संघर्ष होने की आशंका है तब तीसरा व्यक्ति उसका बीच-बचाव न करके देखता ही रहता है तब उसे जो पाप लगेगा, वही पाप मुझे भी लगे, यदि मेरे भाई के वन जाने में मेरा हाथ हो।' कैसी सांस्कृतिक गरिमा है? आज भी संसार की शांति के लिए भारत ही कुछ कर सकता है। युद्ध की भीषणता से आज भी राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र विकल एवं त्रस्त है। संक्रामक आयुधों के अंबार उपग्रहों में संचित हैं। आज भी भारत का निर्देशित वह बीच-बचाव का मार्ग अपेक्षित है।

संघर्ष छिड़ जाता है विषमता से। यदि शांति काव्य वस्तु है, तो उसके लिए सहायक रूप से ममत्व का वातावरण अवश्य सृजित होना है। यह वातावरण तभी संभव है, जब मन कलुषित भावनाओं से अछूता रहता है। युधिष्ठिर से पितामह का यह संदेश वस्तुत: संसार के लिए स्पृहणीय है-

'जब होती अवतीर्ण शांति यह,
भय न शेष रह जाता
शका तामर ग्रस्त फिर कोई
नहीं देश रह जाता
शांति सुशीतल शांति! कहाँ
वह समता देने वाली
देखो आज विषमता की ही
वह करती रखवाली।'

जब मन से भय का संचार नहीं होता और प्रेम का जब वहाँ प्रवेश होता है तब संसार में शांति का साम्राज्य स्थापित होने लगता है। यह प्रेम बाह्य-प्रेरणा से नहीं, बल्कि आंतरिक शुद्धि और आत्मा के प्रकाश से प्राप्त होता है-

'शांतिबीन तब तक वजती है
नहीं सुनिश्चित उर में
स्वर की शुद्ध प्रतिध्वनि जब तक
उठे नहीं उर-उर में
यह न बाह्य उपकरण, भार बन
जो आवे ऊपर से
आत्मा की यह ज्योति फूटती
सदा विमल अंतर से।'

पर आज स्थिति बिलकुल बदल गयी है। इसका यही तात्पर्य है कि आज मनुष्य की बुद्धि उसके हृदय पर दबाव डालती है। चाहिए बुद्धि पर हृदय का ही शासन होना, तभी मनुष्य-मनुष्य में विश्वास, समत्व भाव, प्रेम, सहानुभूति आदि मानवीय सद्विकारों का आविर्भाव हो सकता है-

'श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस यही ज्ञानी, वही विद्वान
और मानव भी वही।'

आधुनिक बुद्धिसंपन्न एवं हृदय शून्य जागतिक सभ्यता के लिए यह कवि वरेण्य संदेश है। पर आज की स्थिति से कवि आक्रांत

मालूम पड़ते हैं-

'किंतु है बढ़ता गया मस्तिक ही नि:शेष
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।'

यदि आगे भी प्राण का देवता चीत्कार करता जायेगा तो संसार की गति ही क्या होगी! फिर जीवन में संतुलन कब होगा? सांसारिक जीवन शांत कैसे रहेगा?

'साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में, भगवान?'

नि:संदेह दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र में विश्वशांति तथा अहिंसा का संदेश दिल खोलकर किया है। यह उनकी भारतीयता के प्रति अनुरक्ति का द्योतक भी है। संसार के सामने कविवर दिनकर ने महाभारत का उदाहरण दिखाकर अहिंसा का मान पाठ ही प्रस्तुत कर दिया है। उसका अंतिम (पितामह का) कथन इसकी सत्यता को समर्थित करता है-

'आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रणभीति से।'

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त, सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीत से, स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक, धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीत से।

निस्सन्देह अपनी विलक्षणता, समरसता लेलिघ्मता एवं दर्शन में 'कुरूक्षेत्र' अहिंसा और विश्व-शांति की भावना से संप्रोक्षित तथा संदीप्त है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

प्रो. नवल किशोर प्रसाद श्रीवास्तव

बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न साहित्य मनीषी, उच्च कोटि के देशभक्त भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने खड़ी हिंदी गद्य-भारती की आधार-शिला रखी, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने व्याकरण-विधान लेकर उस पर हिंदी-भारती का भव्य मंदिर खड़ा किया, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कविता-कामिनी ने उसके कलश-कँकूरों पर सुंदर-सुंदर नक्काशी, पच्चीकारी और मीनाकारी की तो मैथिलीशरण गुप्त पहले ऐसे कवि हैं जिन्होंने हिंदी-भारती की आरती उतारते समय राष्ट्रीयता का शंख-निनाद किया।

हिंदी साहित्य में गुप्तजी का पदार्पण तब हुआ जब राष्ट्रीय चेतना एक नयी करवट ले रही थी। उन दिनों भारतेंदु-मण्डल के कवियों ने स्वदेश-प्रेम से संबंधित जिन गीतों का गायन किया उनमें प्राय: कवियों में शृँगारिक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि उन पर अब भी रीति-कालीन कवितायों का प्रभाव लक्षित हो रहा था। श्रीधर पाठक की कविताओं में उन्मुक्तता और स्वछंदता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जिसका अनुसरण परवर्ती काल के कविगण नहीं कर सके। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में जो साहित्यिक आंदोलन चला, उसके माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने का प्रयास किया गया। द्विवेदी जी को अपना काव्य-गुरु मानने वाले कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने इस पुनरुत्थानवादी युग में उनसे प्रेरणा प्राप्त कर जो रचनाएँ कीं, उन सबमें किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव राष्ट्रीय भावना का अनुस्यूतीकरण हुआ है। 'भारत-भारती', 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट भट्ट', 'पलासी का युद्ध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'अनघ', 'हिंदू', 'जयभारत', 'साकेत', 'द्वापर', 'कुणाल' आदि सभी रचनाएँ इसके उदाहरण हैं। उनकी रचनाओं की आलोचना के क्रम में आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है-'गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की दक्षता अर्थात उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से ये निस्संदेह हिंदीभाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं।' यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जनता का प्रतिनिधि कवि ही सच्चे अर्थो में राष्ट्रकवि होता है।

वस्तुत: 'प्रेमचंद और मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक

हिंदी-साहित्य की दो ऐसी विरल विभूतियाँ हैं जिनकी रचनाओं में सारा भारत बोल उठा है।' प्रेमचंद जहाँ वस्तु सत्य के अधिक निकट हैं वहाँ गुप्त जी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के अधिक निकट मालूम पड़ते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्य के माध्यम सें जहाँ विगत के इतिहास का गौरव-गान किया है, वर्तमान की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है वहाँ अनागत का पथ-निर्देशन भी किया है। उन्होंने राष्ट्रीयता के तंतुओं पर भावना का रंग चढ़ाकर साहित्य के आकाश में एक ऐसा सप्तरंगी इंद्रधनुष उगाया, जिसकी छटा देखते ही बनती है। उन्होंने भारत के इतिहास-साहित्य, धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, बल-बुद्धि, समाज-राष्ट्र, व्यष्टि-समष्टि, ज्योतिष-आयुर्वेद, कला-शिक्षा, कृषि-उद्योग, सभ्यता-संस्कृति आदि की ऐसी चित्रशाला राष्ट्रीयता की भाव-भूमि पर खड़ी की है जैसी चित्रशाला आजतक कोई भी खड़ी न कर सका। प्रो. नवल किशोर गौड़ के शब्दों में, 'मैथिलीशरण गुप्त केवल हिंदी भारती के ही नहीं, भारतीय राष्ट्र के भी सच्चे प्रतिनिधि कलाकार हैं। भारतीय संस्कृति की जितनी गहरी पहचान उन्हें है, उतना शायद ही किसी आधुनिक कलाकार को हो। सच तो यह है कि मध्य युग में वैसी ही पहचान इन्हें भी है। तभी तो 'मानस' का रस 'साकेत' में उतर सका है। भारत किसानों का देश रहा है, ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति का देश रहा है। गुप्त जी के काव्य में भारतीय ग्रामीण हृदय की सरलता है, वैष्णव-हृदय की स्नेह-वत्सता है, बहुजन हिताय की पवित्रता है और निर्मल मन-वचन-कर्म की उज्ज्वलता है। तभी तो वे हिंदी भारती के राष्ट्रकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भारत के राष्ट्रपिता, राष्ट्रपति और राष्ट्रकवि में उपर्युक्त गुणों का कैसा विलक्षण साम्य है।

गुप्त जी रचित अबतक लगभग 46 मौलिक ग्रंथ और छः अनुदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अधिकतर पुस्तकों में उन्होंने प्रत्यक्षतः और शेष पुस्तकों में प्रकारांतर से राष्ट्रीयता की भावना व्यंजित की है। इस परिप्रेक्ष्य में डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' का यह कथन द्रष्टव्य है-

'मैथिल्याः शरणंयातः रक्षितः काव्य कीर्तनैः
साहित्वाटिका वामा येन पुष्पैः प्रसादित
मातृभाषा यशो लेभे भारती भारते वभौ
साकेतसमरस्येन द्वापरा दीप्तिरारता
राष्ट्रकवि पदवाप्राप्ता कविना मूर्ध्निवर्तिना
श्रविता कवता येन दीपिता दिक्षु वृंहिता

मैथिलीशरणोगुप्तः दत्त्वा कृतनिधिाययौ
मातृभाषानुरक्तानां हृदयेषु स जीवति।'

इन श्लोकों में कविवर मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय भावना की ओर इंगित किया गया है।

गुप्तजी-रचित काव्यों के पारायण से विदित होता है कि उन्होंने कविता-कामिनी को छायावाद की कल्पना-कुञ्झटिका से निकालकर राष्ट्रीयता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जिससे पराधीन राष्ट्र को स्वतंत्रता का महामंत्र मिला और देशवासियों में आशा, उमंग और उत्साह का संचार हुआ। वाणी, कर्म और राष्ट्रीयता का ऐसा सामंजस्य बहुत कम कवियों में मिलता है जैसा गुप्त जी के व्यक्तित्व में सुगमता से सुलभ है।

राष्ट्रीय चेतना का जन-जागरण भारतेंदु-युग में ही हो चुका था जिसका अभिजृम्मण 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा', 'अँधेर नगरी' आदि रचनाओं में हुआ, मगर भारतेंदु जहाँ लोगों को देश की दुर्दशा पर रोने के लिए बुलाते हैं-

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।

वहाँ गुप्त जी उनसे आगे बढ़कर रोने के बदले एकजुट होकर समस्याओं पर विचार करने और उनसे मुक्ति पाने के उपाय ढूँढ़ने-हेतु देशवासियों का आह्वान करते हैं-

'हम कौन थे, क्या हो गये, फिर और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।

समस्याओं के निराकरणार्थ वे राष्ट्र के गौरवशाली अतीत की पीठिका पर नूतन चेतना के निर्माण का सफल प्रयास करते दिखाई देते हैं।

संस्कृति का राष्ट्रीयता के साथ बड़ा ही घनिष्ठ संबंध होता है। भारतीय संस्कृति का मूल स्वर है- 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या (भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ) मातृत्व की यही विराट कल्पना सार्वभौम राष्ट्रीयता की जननी है जो समस्त देशवासियों को देश की धरती और उसकी स्वतंत्रता के लिए सतत् सचेष्ट और जागरूक रहने की प्रेरणा देती रही है। इसके हितार्थ युद्ध करे और द्राणोत्सर्ग कर देने के लिए अभिप्रेरित करती है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'राष्ट्र के स्वरूप'

शीर्षक निबंध में बताया है कि राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण चार तत्वों से होता है- (क) जन, (ख) भूमि, (ग) सार्वभौमिकता और (घ) भाषा। इनके अभाव में राष्ट्र की कल्पना की ही नहीं जा सकती, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के संपूर्ण काव्य में इन चारों ही तत्वों की महत्ता का प्रतिपादन किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव हुआ है।

जहाँ तक जन की बात है, भारतवर्ष की जनसंख्या इन दिनों लगभग एक अरब, नौ करोड़, तीन लाख है। यहाँ विभिन्न प्रांत, जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के लोग परस्पर प्रेम-भाव से रहते हैं और उन सबमें राष्ट्रभक्ति की भावना है। गुप्त जी के शब्दों में-

'जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें सुखदायक होता
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता

इसी प्रकार भूमि की महत्ता दर्शाते हुए उन्होंने कहा है-

'पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पै सारे।'
हे मातृभूमि जब हम कभी शरण न तेरी पाएँगे
बस तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जाएँगे
क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दु:खहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शांतिकारिणी, सुखकर्त्री है
हे शरणदायिनी देवि! तू करती सबका त्राण है,
हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननीं, तू प्राण है।

राष्ट्र-निर्माण के तत्वों में सार्वभौमिकता का भी बड़ा ही अधिक महत्व है, क्योंकि इस सार्वभौमिकता में ही देश की शक्ति और स्वतंत्रता निहित होती है। इस तत्व के संबंध में गुप्त जी का कथन है-

'सार्वभौम सत्ता भारत की
यह है अतिशय वैभववान,
है स्वतंत्र यह, दुनिया भर में

इसकी है अपनी पहचान।'

देश के स्वतंत्र हो जाने पर लिखी गयी इन पंक्तियों में राष्ट्रीयता का उच्च स्वर मुखरित हुआ है।

जहाँ तक भाषा की बात है, इसका भी राष्ट्र के जीवन में बड़ा ही अधिक महत्व है। भाषा का संबंध साहित्य से होता है। साहित्य देश की बहुत बड़ी शक्ति है। तभी तो कोई विजयी देश विजित देश की भाषा और उसके साहित्य को नष्ट कर उस पर अपने देश की भाषा और साहित्य का भार देता है। देश का साहित्य अगर नष्ट हो जाता है तो उसका गौरवमय इतिहास और उसकी संस्कृति भी नष्ट हो जाती है। इसलिए मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है-

'अँधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है
मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है

इतना ही नहीं, उनके विचारानुसार-

'मृत हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन चित्र है,
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है।'

इस प्रकार गुप्त जी ने राष्ट्र के लिए आवश्यक सभी तत्वों पर अपनी कविताओं में विचार किया है।

जो सच्चे अर्थो में राष्ट्रकवि होता है, उसकी रचनाओं में संपूर्ण राष्ट्र के प्रति श्रद्धा, भक्ति और समर्पण का भाव होता है। गुप्त जी की रचनाओं में यह विशेषता सहज ही देखी जा सकती है। 'समूचे देश को वे एक समझते थे। संपूर्ण राष्ट्र के प्रति समान भावना रखने के कारण उन्हें सभी व्यक्ति अपना कवि मानते थे, वैष्णव होने के नाते वे भक्त थे और संपूर्ण राष्ट्र के प्रति समर्पित होने के कारण वे राष्ट्रीय थे। उनको अपनी संस्कृति में अटल विश्वास था। काव्य के माध्यम से उन्होंने सांस्कृतिक पौराणिक भावों की अभिव्यक्ति की। देश के तत्कालीन समाज की स्थिति को भी वे उसी स्वर से मुखर करते गये। फलत: सत्याग्रह आंदोलन, स्वतंत्रता-प्राप्ति पर प्रसन्नता आदि सामयिक चेतना की अभिव्यक्ति उनके काव्य में मिलती है।'

कवि जिस देश का वासी है उस देश के प्रति उसके हृदय में अत्यंत ही स्नेह और गौरव का भाव है। तभी तो वह कहता है-

'भूलोक की गौरव प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ?

फैल मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल कहाँ?
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन, भारतवर्ष है।'

गुप्त जी के व्यक्तित्व और चरित्र में भारत की आत्मा प्रतिबिबिंत होती हुई दिखाई देती है। उनकी वेष-भूषा, उनका प्रहार, उनका विचार और व्यवहार सब कुछ भारतीय आदर्श के अनुकूल थे।

इसमें संदेह नहीं कि गुप्त जी के रग-रग में राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। उस राष्ट्रीय भावना के पीछे देश के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति का भाव था।

यों तो हिंदी में कवियों की भरमार है। बहुतेरे कवियों ने एक-से-एक महत्वपूर्ण प्रसंग पर अपनी तूलिका चलायी है, 'दिनकर' ने 'कुरूक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' का प्रणयन किया, लेकिन संपूर्ण महाभारत, संपूर्ण रामायण और वेदों के एक-से-एक आरण्यान, संपूर्ण बौद्ध-आरण्यान, संपूर्ण जैन आरण्यान सबको संकलित कर इन सबको आत्मसात् करके और इनको एक राष्ट्र की प्रतिमा बनाने में उपयोग करने वाला कवि अकेले दद्दा (गुप्त जी) हैं। इसीलिए उन्हें राष्ट्रकवि कहा। उन्होंने यह पहचाना कि अकेले इस व्यक्ति के पास ऐसी भाषा है जो सबकी भाषा होगी। एक ऐसा भाव है जो भारत का भाव है, लेकिन ऐसे भारत का भाव है जो विश्व की व्यथा समझता है, जो मनुष्य मात्र की वेदना से पीड़ित है और उस पीड़न में भगवान का साक्षात्कार करने का अभ्यासी है। वैष्णव भाव और राष्ट्रव्यापी विशाल मनुष्य, दोनों का योग जिस व्यक्ति में हुआ है उसी को भारत का राष्ट्रकवि कहा जा सकता है। इस प्रकार के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त थे।

वेद का एक सूक्त है-'विश्वामित्रस्य ब्रहनेदम् रक्षति भारतं जनम्' अर्थात् विश्वामित्र जैसे कवि का जो यह मंत्र है, वही भारत की रक्षा करता है। गुप्त जी- रचित 'भारत भारती' में भी यह विशेषता है। 'भारत भारती' के हरिगीतिका छंद में वह जादू है जिससे परतंत्र देशवासियों में देश को स्वतंत्र करने की प्रेरणा जगी, उन्हें अतीत के गौरव का ज्ञान हुआ और भविष्य के लिए भी उन्हें नयी प्रेरणा मिली। इसमें संदेह नहीं कि 'भारत भारती' ने अपना तात्कालिक लक्ष्य पूरा करके ही छोड़ा। वास्तव में 'भारत भारती' उस युग की गीता थी। जिसने 'भारत भारती' पढ़ी, जिसने गायी, उसके मन में अपने अस्तित्व का विशाल भान हुआ और उनमें राष्ट्रीयता

की भावना जगी।

जो वास्तव में राष्ट्रकवि होता है, उसके लिए देश का सर्वाधिक महत्व होता है। कवि अपनी पुस्तक 'भारत भारती' के माध्यम से जन-जन में राष्ट्रीय भावना का भाव भरना चाहता है। तभी तो इस पुस्तक के मंगलाचरण में ही कवि ने भगवान से प्रार्थना की है-

'मानस-भवन में आर्य्यजन जिनकी उतारें आरती
भगवान! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती
हो भद्रभावोद्भावनी वह भारती हे भगवते
सीतापते! सीतापते! गीतामते! गीतामते!

यहाँ गुप्तजी की राष्ट्रीय भावना उत्कर्ष के शिखर पर प्रतिष्ठित परिलक्षित होती है। परतंत्र भारत में इतनी निर्भीकता के साथ ऐसी उद्घोषणा करने वाला अन्य कोई भी कवि नहीं हुआ। कवि भारतवर्ष के गौरव और उसकी महिमा का गायन करते थकता नहीं। उसकी दृष्टि में भारत संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है और मानवीय सृष्टि तथा संस्कृति का प्रथम विस्तार सृष्टिकर्ता ने यहीं से किया था। पुराणों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मा ने भारतवर्ष के ब्रह्मवर्त प्रदेश से ही सृष्टि रचना का आरंभ कर समस्त संसृति की सृष्टि की थी। कर्नल टाड ने भी अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि आदि सृष्टि का स्थान निस्संदेह भारतवर्ष ही है। अपने शोध-ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड' में सर वाल्टर रैले ने भी अनेक तथ्यों के आधार पर प्रमाणित कर दिया है कि जल-प्रलयोपरांत सृष्टि का प्रारंभ भारतवर्ष से ही हुआ था। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने इस बात पर गर्व करते हुए कहा है-

'हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भव-भूतियों का यह प्रथम भण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है
यह पुण्य-भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी 'आर्य्य'
विद्या, कला, कौशल्य सबके तो प्रथम आचार्य हैं।'

भारत आरंभ से ही विश्व का धर्म-गुरु रहा है। इंजील और कुरान में अदन की वाटिका से निकलकर आदम और हौवा के भारतवर्ष में आने की बात कही गयी है। पैगंबर मुहम्मद साहब के पूर्व इस्लाम संप्रदाय का पता भी न था और अरब के लोग महादेव की पूजा

करते थे। जिरहम बिनतोई तथा मुहम्मद साहब के चाचा उमर-बिन-हरशाम की शायरी इस बात का ठोस प्रमाण है। अरबी भाषा में रचित उमर-बिन-हरशाम की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

कफाविक जिकरामिन उँलूमिन तब असेरू
कलूवन अमततुल हवा व तजक्करू
बमतजकेरोहा ऊदन एललबदए दिलवरा
बलुकयाने जात अल्ललाहे यौम तब असेरू
व अहलोलहा अजह अरमीमन महादेवओ
मनाजिल इलमुद्दीने मिनहम, वसयत्तरू
व सहषी केयाम फी मकामिल हिंदे यौमन
व यकूलन लातहजन फ इन्नक तवज्जरू
मअस्सयरे अखलाकुन हसनन कुल्लहूम
नजूमुन अजाअत सुम्म गाबुल हिंदू

वह मनुष्य जिसने सारा जीवन पाप और अधर्म में बिताया हो, काम-क्रोध में अपने जीवन को नष्ट कर दिया हो।

यदि अंत में इसको पश्चाताप हो और भलाई की ओर लौटना चाहे तो क्या इसका कल्याण हो सकता है?

एक बार भी सच्चे हृदय से वह महादेव की पूजा करे तो धर्म-मार्ग में उच्च-से-उच्च पद को पा सकता है।

हे प्रभो! मेरा समस्त जीवन लेकर एक दिन हिंद-निवास का दे दो, क्योंकि वहाँ पहुँचकर मनुष्य जीवन-मुक्त हो जाता है।

वहाँ की यात्रा से सारे शुभ कर्मो की प्राप्ति होती है और आदर्श (हिंदू) गुरुओं का सत्संग मिलता है।

इसी प्रकार मुहम्मद साहब से 2300 वर्ष पूर्व हुए लवी-बिन-अखतब-बिन तुर्फा रचित निम्नलिखित पंक्तियों से पता चलता है कि उन दिनों अरब के लोग वेद को मानते थे-

'अया मुवारकेल अरब यू शैये नोहा मिलन हिंदे
व अरादकल्लाहः मञ्योन्ज्जेल जिकरतुन
वहल तजल्लीयतनु एनानं सहपी अखअतुन जिकरा
वहाजे हो योनज्जेलुर्रसूल मिनल हिंदतुन
यकूलुनल्लहाः या अहलल अरज अलमीनू कुल्लहुम्।
फत्तबेऊजिकरतुल वेद हक्कुन मालम योवज्जे लतुन

व होवा अलममुस्साम वल यमुर मिनल्लाहे तनजीलन
फऐनोमा या अखीयों मुत्तवेअन यो वश्शेरी यो नजातुन
व इसनन हुमा रिक अतर नासिहान क अखवतुन
व असनात अला ऊदन वहोवां मशएरतुन।

अर्थात्

हे हिंद की पुण्य भूमि! तू धन्य है क्योंकि ईश्वर ने अपने ज्ञान के लिए तुमको चुना।

ईश्वर का वह ज्ञान प्रकाश जो चार प्रकाश ज्ञान-स्तंभों के सदृश संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, हिंद के ऋषियों द्वारा चार रूपों में प्रकट हुए।

और परमात्मा समस्त संसार के मनुष्यों को आज्ञा देता है कि वेद, जो मेरे ज्ञान हैं, इनके अनुसार आचरण करो।

ज्ञान के वे भण्डार साम और यमुर हैं, जिसे ईश्वर ने प्रदान किया। इसलिए हे मेरे भाइयो! इनको मानो, क्योंकि ये हमें मोक्ष का मार्ग बताते हैं।

और उनमें से दो रिक तथा अतर (ऋग्वेद और अथर्ववेद) हैं जो हमें भ्रातृत्व की शिक्षा देते हैं जो इनके प्रकाश में आ गया वह कभी अँधकार को प्राप्त नहीं होता।

इन्हीं तत्वों की ओर लक्ष्य कर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है-

'यह ठीक है पश्चिम बहुत ही कर रहा उत्कर्ष है,
पर पूर्व गुरु उकसा यही पुरू वृद्ध भारतवर्ष है।
यह तो कहें यह शक्ति उनको प्राप्त कब कैसे हुई,
यह कहें वे, दार्शनिक चर्चा वहाँ ऐसे हुई
इससे अलौकिक ज्ञान का आलोक यदि पाता नहीं,
तो अरब यूरोप का शिक्षक कहा जाता नहीं।

इसी प्रकार ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों का उद्भव और विकास भारत की भूमि से ही हुआ है। इस संबंध में भी गुप्त जी ने ठीक ही कहा है-

'यूनान ही कह दे कि वह ज्ञानी, गुणी कब था हुआ?
कहना न होगा, हिंदुओं का शिष्य वह जब था हुआ
जय पाणि जो वर्द्धक हुआ है एशिया के हर्ष का,

है शिष्य वह जापान भी इस वृद्ध भारतवर्ष का
योरोप भी तो बन रहा है आजकल मार्मिकता
यह तो कहे उसके खुदा का पुत्र कब धार्मिक बना?
था हिंदुओं का शिष्य ईसा, यह पता भी है चला,
ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला।'

रूस के नोटविच नामक यात्री को हाल में तिब्बत के 'हीमिस' नामक मठ में मोटी-मोटी कुछ हस्तलिखित सामग्री प्राप्त हुई है जिससे यह पता चलता है कि ईसा का जन्म येरूसेलम में न होकर इसराइल में हुआ था और वह गरीबी के चलते अपने माँ-बाप के यहाँ से भागकर 13-14 वर्ष की अवस्था में भारत आया था। यहाँ वह राजगृह, काशी, जगन्नाथपुरी आदि पवित्र स्थानों की यात्रा करता रहा। यहाँ उसने वेद का अध्ययन किया था और पाली भाषा सीखी थी तथा वह बौद्ध संप्रदाय में दीक्षित हो गया था। किंतु अपने देश को लौटकर उसने एक धर्म (ईसाई धर्म) का प्रवर्त्तन करना चाहा और इसी बखेड़े में उसे फाँसी की सजा मिली। इस प्रकार ईसाई धर्म का जनक भी भारतवर्ष ही है।

इतना ही नहीं, 'भारत भारती' में गुप्तजी ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि विद्या के छहो अंगों-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष के अतिरिक्त आयुर्वेद, शल्य-चिकित्सा आदि का जनक भी यह भारतवर्ष ही है। तभी तो भारतवर्ष की प्रशंसा करते हुए गुप्तजी कहते हैं-

'सब देश विद्या-प्राप्ति को सतत यहाँ आते रहे,
सुरलोक में भी गीत ऐसे देवगण गाते रहे-
हैं धन्य भारतवर्षवासी, धन्य भारतवर्ष है
सुरलोक से भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है।'

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गुप्तजी सच्चे अर्थों में एक सच्चे राष्ट्र-भक्त थे। तभी तो उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में भी भाग लिया था और उन्हें जेल भी जाना पड़ा था।

जब देश स्वतंत्र हो गया तो मैथिलीशरण गुप्त की लेखनी नये भारत के निर्माण की ओर मुड़ चली। इस प्रकार 'आरंभिक नव जागरण से लेकर नवोत्थान तक की उनकी सांस्कृतिक यात्रा संपन्न हुई, देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के अनेक आयाम प्रकट हुए एवं महात्मा गाँधी तथा उनकी पूर्ववर्ती और परवर्ती चिंता-धारा से भारतीयता उद्‌बुद्ध, सक्रिय और अग्रसर

होती रही। इतना ही नहीं, जातीयता और क्षेत्रीयता की क्षुद्र सीमाएँ टूटती रहीं तथा वैश्विक मानवता का जयगान हुआ। भारत के बहुमुखी विकास की योजनाएँ बनीं और कार्यान्वित भी हुईं। पूर्व और पश्चिम की महान उपलब्धियों को सामंजित करने के प्रयास हुए। स्वतंत्र भारत की नयी संरचना के स्वप्न साकार होने लगे। गुप्तजी भारत की इसी उत्थानशील प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। देश-काल की सीमाओं को अतिकांत करने वाली बीसवीं शती की नवोत्थित भारतीयता का उनकी समस्त उपलब्धियों और अभावों का उन्हें कृति कवि समझना चाहिए। निसंदेह वे हिंदी की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के शीर्षस्थ रचनाकार ही नहीं हैं, वरन् बीसवीं शती की विकासोन्मुख भारतीयता की अस्मिता के प्रतिनिधि कवि हैं। वे सही अर्थ में अपने युग जीवन की आशा-आकांक्षाओं को उजागर करने वाले राष्ट्रकवि हैं और यही उनकी श्रेष्ठता है।

राष्ट्रीय जागरण और स्वातंत्र्य-संग्राम की उस वेला में गुप्तजी ने लक्ष्मण के कथन के माध्यम से अपने राष्ट्र-प्रेम की भावना को व्यक्त करते हुए 'पंचवटी' खण्डकाव्य में कहा है-'मुझे आत्म-रक्षा के पहले है स्वदेश-रक्षा कर्त्तव्य'।

'राजा-प्रज्ञा' में भी उन्होंने अपनी देश-भक्ति इन शब्दों में दर्शायी है-

'हम स्वदेश को प्यार करें तो गर्व धरा पर
देश अंतत: सर्वस्व है विश्व चराचर।'

इसी प्रकार आर्य-संस्कृति एवं भारत-भूमि के प्रति अपने प्रेम को दर्शाते हुए गुप्तजी ने 'साकेत' में राम के मुख से कहलवाया है-

'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ बताने आया
सुख-शांति-हेतु मैं क्रांति मचाने आया
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया
संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग को लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

राम की तरह ही भरत के मुख से भी उन्होंने कहलवाया है-

'भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में'

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि 'साकेत' के रचना-काल में

भारत अँग्रेजों के अधीन था और भारतवासी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अत्यंत ही व्यग्र थे। यहाँ गुप्तजी ने सीता के रूप में भारत-माता के बंधन की कल्पना की है। 'जहाँ तक परतंत्रता की भावना का संबंध है, साकेतकार ने राष्ट्रीय प्रेम के कारण भी आर्य-संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ कहा है। राम-रावण-युद्ध भी एक प्रकार से आर्य और कौणय संस्कृतियों का युद्ध था जिसमें आर्य-संस्कृति ही विजयी हुई। इस प्रकार 'साकेत' में गुप्तजी की राष्ट्रीय भावना पूर्णत: व्यक्त हुई है। 'साकेत' के विभिन्न प्रसंगों और पात्रों के माध्यम से वे भारतवासियों के हृदय में राष्ट्रीय-चेतना का भाव भरने से नहीं चूके हैं। 'साकेतकार ने सच्चे काव्य-सेनानी की भाँति भारतीय जीवन, समाज और संस्कृति के विराट रूप को विशदता से चित्रित किया है। जातीय स्वाभिमान और राष्ट्रीय गौरव की स्थापना कवि ने हिंदुत्व और आर्यत्व की श्रेष्ठता से कही है। 'साकेत' के सृजन द्वारा भारतीय धर्म, अर्थ, नीति, राजतंत्र, परिवार, व्यवहार और सदाचार के चित्रण में भी कवि सफल रहा है। इन सबके अतिरिक्त साकेतकार भारतीय अतीत के गौरव और युग-धर्म की प्रतिष्ठा के जिन उदात्त लक्ष्यों को चलाया था, उनकी प्राप्ति में भी वह सफल रहा है। अस्तु, उद्येश्य की दृष्टि से विचार करें तो 'साकेत' का स्थान राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक काव्य में आता है।'

गुप्तजी रचित 'स्वदेश-संगीत' में भी राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त प्रगीत मिलते हैं। राष्ट्रीयता का इतना महान आग्रही और भक्त कवि हिंदी साहित्य में दूसरा हुआ ही नहीं। नवीन को भी प्राचीन के ही परिवर्तित रूप में देखने की उनकी प्रवृत्ति थी। यही कारण है कि उनके साहित्य में स्वतंत्र भारत की प्रगति की अनेक संभावनाएँ हैं। डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल के शब्दों में, 'उनका साहित्य भारतीय प्रणाली को विकास के नये राष्ट्रीय रूप में ले गया है तथा उसने स्वतंत्र विकास की संभावनाओं को उजागर किया है। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय और जातीय साहित्य की स्वतंत्र रचना एक असाधारण काम था, पर गुप्त जी ने निर्भीकता के साथ वह कार्य किया। उन्होंने भारतीय हृदय के सामान्य रूप को पहचाना, पुराणों और इतिहास के लोकप्रिय नायकों को माध्यम बनाकर देश की राष्ट्रीयता और अस्मिता को विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ा। उन्होंने अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान वेदनापूर्ण अनुभव को मुखरित किया। राजनीतिक और सामाजिक भावनाओं में संकल्प की दृढ़ता और न्याय के आग्रह पर जोर दिया। सचमुच गुप्त जी का काव्य राष्ट्रीय चेतना

की एक अद्‌भुत चित्रशाला है।

चूँकि गुप्त जी ने गाँधी-युग और स्वांतत्र्योत्तर नेहरू-युग का भी अपनी आँखों देखा था, अतः उनके काव्य में दोनों ही युगों की राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना अभिव्यंजित हुई है।

गुप्तजी जैसे राष्ट्रकवि किसी देश या जाति के इतिहास में विरले की उत्पन्न होते हैं।

उनकी राष्ट्र-भक्ति और काव्यगत राष्ट्रीय चेतना को देखते हुए ही महात्मा गाँधी ने उनके संबंध में कहा था-'मैं गुप्त जी को इसलिए बड़ा मानता हूँ कि वे हमलोगों के कवि हैं और राष्ट्र भर की आवश्यकता को समझकर लिखने की कोशिश कर रहे हैं- मैं फिर तुमसे कहता हूँ कि मैं उन्हें इसलिए बड़ा मानता हूँ कि जैसा मैं चाहता हूँ, वैसा वे काम करने के लिए तैयार हैं।'

गुप्त जी को राष्ट्रकवि की उपाधि से पहले-पहल स्वयं राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने ही सम्मानित किया था। 'किसी बड़ी सरकार कुर्सी पर बैठने से कोई राष्ट्रकवि नहीं हो जाता। गुप्त जी राज्य-सभा का सदस्य होने के नाते राष्ट्रकवि नहीं हुए, बल्कि समाज में स्वीकृत होने से ही उन्हें यह दर्जा हासिल हुआ। उनकी कविता के शब्द जब समाज में साँस की तरह जीवित हुए तो वे राष्ट्रकवि कहलाये।' तभी तो उनके काव्य की प्रशंसा करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है-'कविता को जन-जीवन के अधिक निकट लाने का जो प्रयास भारतेंदु जी की कृतियों से आरंभ हुआ, गुप्त जी की कृतियों में परिपक्व रूप से देखने को मिलता है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय-चेतना का सार इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

'जिसको नहीं निज जाति अथवा देश का अभिमान है,
वह नर नहीं है, पशु निरा है और मृतक समान है।'

जहाँ तक हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की बात थी, राज्य-सभा का सदस्य होने के नाते इन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की वकालत की। जिन दिनों राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करवाने के लिए लड़ रहे थे और महात्मा गाँधी हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना चाह रहे थे, उन दिनों काका साहब कालेलकर, आचार्य विनोवा भावे, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि नेतागण

हिंदुस्तानी के समर्थन में गाँधीजी के साथ थे, मगर श्रीवियोगी हरि, डॉ. संपूर्णानन्द, पं. बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी, काका गाडिगिल और मैथिलीशरण गुप्त हिंदी के समर्थन में टंडन जी के साथ थे। हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर न देखकर गुप्तजी के हृदय को काफी चोट लगी। अपनी हार्दिक वेदना को उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है-

'है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं,
हम निज विचार जना सकें जिससे परस्पर सब कहीं
इस योग्य हिंदी है तदापि अंत तक न निज पद पा सकी
भाषा, बना भावैकता अब तक न हममें आ सकी।'

जब 23 अप्रैल 1963 को सदन में यह विधेयक पारित कर दिया गया कि 1965 के बाद भी अँग्रेजी सखी भाषा के रूप में राज-भाषा बनी रह सकती है तो सदन में बैठे गुप्त जी को यह अच्छा न लगा और उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए काव्य में ही कहा था-

'अँग्रेजी के पक्षपातियो! लो अँग्रेजी बनी रही,
हिंदी को भय नहीं किसी का, मैंने अपनी व्यथा कही।'

उपरिलिखित तथ्यों से स्पष्ट है कि गुप्त जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जहाँ पराधीन भारत के लोगों को उनके ऐतिहासिक उत्कर्ष और गौरव का स्मरण दिलाते हुए स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जाग्रत करने का प्रयास किया वहाँ उन सबमें आशा और विश्वास का संचार भी किया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने देश की भूमि, देश का जन, देश की भाषा, सार्वभौमिकता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भविष्य में भी देशवासियों को सजग और सचेष्ट रहने की बात कही है। वर्तमान भारत की अनेक समस्याओं का निराकरण करने में भी गुप्त जी की रचनाएँ हमारी बहुत बड़ी सहायिका हो सकती हैं। इस दृष्टि से आज भी उनके काव्यों की प्रासंगिकता है। इन्हीं सब कारणों से गुप्त जी को राष्ट्रकवि और उनके काव्य को राष्ट्रीय चेतना का काव्य कहा जाता है।

संदर्भ :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. प्रो. आनन्द नारायण शर्मा-सुकवि-समीक्षा, भारती भवन, पटना-1
3. हिंदी पद्य-संग्रह, भूमिका, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) लिमिटेड,

इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण
4. सं. प्रेमनारायण शुक्ल-सम्मेलन पत्रिका, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक
5. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-भारत-दुर्दशा, संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी
6. मैथिलीशरण गुप्त-भारत भारती, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी
7. सं. डॉ. अवधोश्वर अरुण-युगसंधि, सेरेखा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर
8. मैथिलीशरण गुप्त- 'मातृभूमि' कविता
9. सं. डॉ. सत्यरंजन प्रसाद श्रीवास्तव-साहित्य संसार, वार्षिक पत्रिका, सन् 1956, अभिनव प्रकाशन, अमीनाबाद, लखनऊ
10. श्री निवास शर्मा-हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, तक्षशिला प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली
11. सम्मेलन पत्रिका, संयुक्त विशेषांक, आषाढ़-मार्गशीर्ष, शक 1909
12. जगदम्बा प्रसाद वर्मा-हिंदू, प्रकाशक-विश्व हिंदू परिषद, 494 शंकर लाल भार्गव मार्ग, प्रयाग-3
13. इस्ताम्बोल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित से उद्धृत 'सेअरूल अकूल' नामक पुस्तक
14. उपरिलिखित दोनों ही उद्धरणों को दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मंदिर की वाटिका में आज भी देखा जा सकता है।
15. भारत-भारती, अतीत खण्ड, हमारी सभ्यता
16. मैथिलीशरण गुप्त- पंचवटी
17. मैथिलीशरण गुप्त- राजा-प्रजा
18. मैथिलीशरण गुप्त- साकेत
19. देवी प्रसाद गुप्त- हिंदी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन, अपोलो पब्लिकेशन, जयपुर
20. सम्मेलन पत्रिका राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक, आषाढ़-मार्गशीर्ष
21. मैथिलीशरण गुप्त - अभिनन्दन ग्रंथ, अभिनंदन और शुभ-कामना
22. कामिनी श्रीवास्तव-साहित्य-लोक, संयुक्तां, जनवरी-मार्च, 1974
23. मैथिलीशरण गुप्त-भारत भारती, भविष्यत् खण्ड, राष्ट्रभाषा
24. डॉ. विनोद कुमार सिन्हा- राष्ट्रभाषा हिन्दी : कुछ विचार, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली

'राम चरित मानस' में राष्ट्रीय भावना

युगल किशोर प्रसाद

राम भक्ति शाखा के प्रतिनिधि, साहित्य-मनीषी, उच्च कोटि के वैष्णव भक्त, महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व जहाँ बड़ा ही विलक्षण और क्रांतिकारी था, वहीं उनका कृतित्व भी समाज-सुधार और राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है।

जहाँ तक 'राम चरित मानस' की बात है इसमें गोस्वीमी जी की महाप्राणता, गंभीर जीवन-दृष्टि, अद्‌भुत कला-निपुणता, असाधारण लोक-भावना और सशक्त राष्ट्रीय-चेतना का अनुस्यूतीकरण हुआ है। इसीलिए जहाँ उन्हें बुद्धदेव के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना गया है, वहाँ उन्हें मुगल काल के सबसे महान व्यक्ति की उपाधि भी दी गयी है। अगर इंग्लैण्ड को शेक्सपियर की कृतियों पर गर्व है तो भारतवर्ष को भी गोस्वीमी तुलसीदास की कृतियों पर बड़ा ही अधिक गर्व है और विशेषत: 'राम चरित मानस' पर इसलिए गर्व है कि इसमें जहाँ एक ओर सामाजिक और सांस्कृतिक भावना का समावेश हुआ है, वहीं दूसरी ओर इसमें समन्वय एवं राष्ट्रीयता की भावना भी दृष्टिगोचर होती है।

इसमें संदेह नहीं कि तुलसी ने अपने युग की परिस्थितियों का गहरा अध्ययन किया था, उनकी विषमताओं और विसंगतियों को ठीक से पहचाना था। इन सबको देख-परखकर ही उन्होंने ऐसा काव्य लिखा जो पराजित जाति के मन में आशा और विश्वास का संचार कर सके, उसकी नसों में नया जोश भर सके और संगीत के संगम पर रचित उनका 'राम चरित मानस' निस्संदेह राष्ट्रीय चेतना का तीर्थराज है।

तुलसी ने 'राम चरित मानस' में जो राम-कथा कही है, वह उनसे पहले ही कतिपय कवियों द्वारा कही जा चुकी थी, मगर उन कथाओं में पौराणिकता तो थी, किंतु युगीन चेतना नहीं, ऐतिहासिकता तो थी, किंतु सामयिक प्रासंगिकता नहीं, मनोरंजकता तो थी, किंतु जीवनोपयोगी तत्व नहीं और कथात्मकता तो थी, किंतु राष्ट्रीय भावना नहीं। तुलसी ही एकमात्र ऐसे कवि हुए जिन्होंने पूर्व की रामकथा की तीलियों में हेर-फेर कर उसे आदर्श के धरातल पर प्रस्तुत किया और उसमें राष्ट्रीय चेतना का समावेश कर एक अद्‌भुत चमत्कार ला दिया।

राष्ट्रीय भावना को ठेस पहुँचाने वाले प्रसंगों को उन्होंने

'राम चरित मानस' से बिल्कुल हटा दिया। इस महाकाव्य के अवलोकन से विदित होता है कि तुलसीदास ने राम के चरित्र से शंबूक-वध और सीता-निर्वासन जैसे प्रसंग भी निकाल दिये हैं। दूसरी ओर, राम के परिजनों के प्रति उदारता, शरणागत-वत्सलता और समाज के निम्न वर्ग के प्रति आत्मीयता आधार ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। यह कवि की गहरी युग चेतना, व्यापक सहानुभूति और उच्चतर नैतिकता का प्रकृष्ट प्रमाण है। जिस युग में राज-सिंहासन के लिए भाई के हाथ भाई के खून से रंग रहा हो उस युग के लिए 'भरत की अलप भक्ति' से बढ़कर आदर्श और क्या हो सकता है।

जिन दिनों समस्त उत्तर भारत पर और दक्षिण भारत के भी कुछ भागों पर ही मुसलमान बादशाह शासन कर रहे थे और मुट्ठी भर मुसलमानों की तूती बोल रही थी, बहुसंख्यक हिंदू जनता पर अत्याचार हो रहे थे, उन पर तरह-तरह के कर (Tax) लगाये जा रहे थे, उनकी बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा नष्ट की जा रही थी, उनके सामने ही उनके देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ तोड़ी जा रही थीं, मंदिर गिराए जा रहे थे और धर्मग्रंथ जलाये जा रहे थे, उन दिनों 'राम चरित मानस' जैसा ग्रंथ लिखकर गोस्वामी तुलसीदास ने समस्त हिंदू जनता के बीच एकता का शंख-नाद किया और निर्भीक शब्दों में कहा-

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
सो नृप ओपसि नरक अधिकारी।'

ऐसा कहकर उन्होंने अन्यायी शासक के विरूद्ध हिंदू जनता को संघर्ष करने की प्रेरणा दी। इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह भी जान लेना चाहिए कि उन दिनों हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता थी।

जो लोग 'राम चरित मानस' को भ्रमवश केवल धार्मिक ग्रंथ मानते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने आदर्श और यथार्थ दोनों की संधि कर उसकी लौकित भाव-भूमि प्रस्तुत की है जिसमें राष्ट्रीयता की भावना भरी हुई दृष्टिगोचर होती है।

तुलसी के युग में पूरा-का-पूरा समाज विशृँखलित था। लोग जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के नाम पर विभिन्न वर्गो में विभक्त थे जिससे राष्ट्रीयता की भावना विलुप्त हो गयी थी। तुलसी को लगा कि यदि यही स्थिति भारतवर्ष की जनता की रही, तो समाज और देश की बड़ी क्षति होगी। यही सोचकर उन्होंने 'राम चरित मानस' के अंतर्गत निर्गुण और सगुण

का, भक्ति और ज्ञान का, प्रेम और योग का, गृहस्थ और सन्यासी का, शैव और वैष्णव का, ब्राह्मण और चाण्डाल का तथा प्रकृति और पुरुष का समन्वय करने की विराट चेष्टा की है। वस्तुतः यह ग्रंथ आदि से अंत तक समन्वय की एक महति चेष्टा है।

उन दिनों शैव और वैष्णव आपस में अपने-अपने सिद्धांतों को लेकर लड़ रहे थे जिसे तुलसी ने राष्ट्र-हित में उचित नहीं माना। शैव लोग शिव को और वैष्णव लोग राम को श्रेष्ठ कह रहे थे। तुलसी ने राम से शिव की और शिव से राम की पूजा कराकर दोनों ही देवताओं में समन्वय स्थापित किया और शैवों तथा वैष्णवों का भ्रम तोड़ दिया। उन्होंने पहली बार राम भक्ति के साथ शिव की भक्ति को जोड़कर दोनों ही को अन्योन्याश्रित बना देने का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने राम के मुख से कहलवाया भी है-

'शिवद्रोही मम दास कहावा
सो नर सपनेहु मोहि न भावा
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक मँह वास

राष्ट्र-हित में ऐसा कार्य करने वाला ही सचमुच राष्ट्रकवि होता है। इस दृष्टि से तुलसी को राष्ट्रकवि और उनके 'राम चरित मानस' को राष्ट्रीय महाकाव्य कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी।

राष्ट्र-हित में तुलसी की दूरदर्शिता और संगठन-क्षमता का तो कहना ही क्या? जब औरंगजेब की कट्टरता, धर्मांधता और सांप्रदायिक भावना के विरूद्ध हिंदू जाति ने एक बार फिर अपना सिर उठाया, तो इसके पीछे 'राम चरित मानस' महाकाव्य की प्रेरणा ही काम कर रही थी।

जब कुछ चमचे लोग शासक वर्ग की चमचागिरी कर उससे आर्थिक या राजनीतिक लाभ उठाना चाहते हैं तो इससे चमचों का नैतिक स्तर तो गिर ही जाता है, शासक वर्ग भी मिथ्या अहं की भावना से ग्रस्त हो जाता है। वर्तमान समय में यही स्थिति देखी जा रही है। तभी तो आज सत्ताधारी नेताओं के नाम पर 'हनुमान चालीसा' की तरह चालीसा लिखे जा रहे हैं, 'राम चरित मानस' की तरह 'मानस' ग्रंथ लिखे गये हैं और 'रामायण' की तरह ही नेताओं के नाम से आगे 'अमन' शब्द जोड़कर ग्रंथ लिखे गये हैं। तुलसी के समय में भी ऐसे कुछ चमचे थे, जिन्हें **लक्ष्य** कर उन्होंने कहा है-

'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।'

यहाँ कवि ने तत्कालीन ऐसे राज्याश्रित कवियों की ओर संकेत किया है जो अपने आश्रयदाता राजाओं की मिथ्या प्रशंसा कर उनमें व्यर्थ ही अहं भावना जाग्रत कर रहे थे और अप्रत्यक्ष रूप से समाज और राष्ट्र का अहित कर रहे थे।

तुलसी के 'रामचरित मानस' के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन बड़ा ही सार्थक और समीचीन प्रतीत होता है कि 'एक ओर तो उनकी वाणी व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विराजपूर्ण शुद्ध भगवतभक्ति का उपदेश करती है, तो दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ-ही-साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्ज्वल छटा उसमें वर्तमान है। इस लोकधर्म में ही राष्ट्रीयता की भावना निहित है क्योंकि लोक-धर्म के निर्वाह के बिना राष्ट्र-धर्म का निर्वाह हो ही नहीं सकता।

लोक-धर्म और राजधर्म के नष्ट हो जाने पर सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। तुलसी के समय मुगल-साम्राज्य का ही विस्तार नहीं हो रहा था, बल्कि इस्लाम-धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य भी जोर-शोर से चल रहा था। रावण-राज्य के गोस्वामी जी ने राक्षसी अत्याचारों (मुसलमानों द्वारा मचाए जाने वाले जुल्मों) से ग्रस्त तत्कालीन मुगल-राज्य का ही तो वर्णन किया है जो इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

'जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला
सो बस करहिं वेद प्रतिकूला
जेहि-जेहि देश धेनु द्विज पावहि
नगर गाँउ पुनि आग लगायहि।'

उन दिनों होने वाली गौ-हत्या और हिंदुओं के घर में आग लगाने की घटना आम बात हो गयी थी।

उन दिनों ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कारण समाज विभिन्न प्रकार के वाह्याडंबर और रूढ़ियों से ग्रस्त हो गया था। जो लोग गोस्वामी जी पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप लगाते हैं उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोधी थे। तभी तो काशी के ब्राह्मणों

ने उनका घोर विरोध किया था और उन्हें जान से मार डालने की भी योजना बना ली थी, जो टोडरमल की सतर्कता और उनके संरक्षण के कारण सफल न हो सकी। तुलसी ने राम के द्वारा ब्राह्मणों का विरोध कराया। परशुराम तो ब्राह्मण थे, जिनसे धनुष-यज्ञ के समय लक्ष्मण और राम का विरोध हुआ। ताड़का-सुबाहु और रावण ब्राह्मण ही थे, जिनसे भी राम का विरोध हुआ। 'रामचरित मानस' को ध्यान से पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी रूढ़िवादी और जर्जर व्यवस्था की जगह एक नवीन और आदर्श व्यवस्था लाना चाहते थे, वे मानव-धर्म और मानवीय संस्कृति की स्थापना करना चाहते थे। तभी तो पाखंडी ब्राह्मणों और आडंवरी साधु-संतों को लक्ष्य कर उन्होंने व्यंग भरे शब्दों में कहा है-

'द्विज श्रुतिवंचक भूप प्रजानन
कोउ नहीं मान निगम अनुशासन
मारग सोई जो जाकहँ भावा
पंडित सोइ जो गाल बजावा
मिथ्या अहं दंभरत जोई
ता कहुँ संत कहै सब कोई।'

आज नारी-उद्धार की बात हमारी सरकार कर रही है। गोस्वामी जी ने बहुत पहले ही यह बात कही थी और नारी को पराधीन बताया था जिसे स्वप्न में भी सुख नहीं पाना है-

'कत विधि सृजसि नारि जग माही'
पराधीन सपनेहु सुख नाही।

आज हमारे देश में लोक कल्याणी राज्य हैं, मगर यह सब केवल बकवास है, क्योंकि देश में जो लोग जिस पद पर हैं, वहीं रहकर देश को लूट रहे हैं। घोटाला, हवाला आदि से तो सभी लोग परिचित ही हैं। राजनीति में परिवारवाद घर कर गया है। मंत्री, नेता, पदाधिकारी, वणिक-वर्ग आदि सभी अपने-अपने स्वार्थ में आकण्ठमग्न हैं। इससे राष्ट्र का उन्नयन कदापि नहीं हो सकता। इस स्थिति को लक्ष्य कर ही गोस्वामी जी ने उन स्वार्थी लोगों के प्रति कहा है-

'हम लखि, हमहि हमार लखि, हम हमार के बीच
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।'

श्री राम के लोक रंजनकारी रूप के साथ-साथ उनके लोक रक्षणकारी रूप में एक ऐसे शासक की कल्पना की गयी है, जो

आदर्श और लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना कर सके।

'रामचरित मानस' के सभी पात्र अपनी अलग-अलग विशेषताएँ लिए हुए हैं। राम में पुत्र और पति का आदर्श, सीता में पत्नी और पुत्रवधु का आदर्श, दशरथ में पिता का आदर्श, कौशल्या में माता का आदर्श, जनक में श्वसुर का आदर्श, भरत में भाई का आदर्श, सुग्रीव में मित्र का आदर्श अपनी पराकाष्ठा पर दीखता है। आज अगर देश, समाज और परिवार में ऐसे आदर्श पात्रों की अवतारणा हो जाए तो सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा।

'रामचरित मानस' के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी जी ने राम राज्य का जो वर्णन किया है, उसमें भी राष्ट्रीयता की भावना ही व्यंजित हुई है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी स्वतंत्र भारत में ऐसे ही राम-राज्य की स्थापना चाहते थे। राम राज्य का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है-

'राम राज बैठे त्रैलोका
हरषित भए गये सब सोका
वयरु न कर काहू सन कोई
राम प्रताप विषमता खोई।'

जिस प्रकार राम-राज्य में किसी को भी किसी से बैर न था, विषमता नाम की कोई चीज नहीं थी और सारे लोग भय, शोक तथा रोग से रहित थे, उसी प्रकार आज अगर भारत सरकार अपने को आदर्श बना ले तो इसमें संदेह नहीं कि देश का सर्वाधिक उत्कर्ष हो सकेगा।

राम राज्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि-

'दैहिक दैविक भौतिक तापा
राम राज नहि काहुहि व्यापा
सब नर करहिं परस्पर प्रीती
चलहि स्वधर्म निरतं श्रुति नीति
अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा
सब सुन्दर सब बिरूज सरीरा
नहि दरिद्र कोउ दुःखी न दीना
नहि कोउ अबुध न लच्छनहीना
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी
नर अरू नारि चतुर सब गुनी
सब गुनग्य सब पंडित ज्ञानी

सब कृतग्य नहि कपट सयानी।'

सदियों की परतंत्रता के पश्चात् जब हमारा देश भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया तो यहाँ गाँधी की कल्पना का राम-राज्य स्थापित नहीं हो सका। धर्मप्रधान देश धर्म-निरपेक्ष हो गया, आदर्श संस्कृति-प्रधान देश पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो गया। जिस गाँधी ने भारत में राम-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था, उसे गोली मार दी गयी, देश की सत्ता अपराधकर्मियों और भ्रष्ट लोगों के हाथ चली गयी, राष्ट्र-धर्म का स्थान स्वार्थ-धर्म ने ले लिया, एक ही संसद और एक ही उच्चतम न्यायालयवाले देश के कुछ खास राज्य में विभिन्न संप्रदायों और जातियों के लिए अलग-अलग संविधान बनाये गये, वोट की राजनीति के चलते समाज को विभिन्न जातियों और वर्गो में बाँटकर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने की साजिश रची गयी, अयोग्य लोगों को विभिन्न महत्वपूर्ण पद दिये गये- ऐसी स्थिति में इस देश के अंतर्गत राम-राज्य की स्थापना भला हो ही कैसे सकती है?

अभी भी समय है भारत के आदर्श बनने का, मगर शर्त है कि नेता, पदाधिकारी, वणिक वर्ग और आम नेता 'रामचरित मानस' के आदर्शो का अनुकरण करें।

'रामचरित मानस' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने समस्त भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की है। यह ग्रंथ भारतीय समाज का एक ऐसा दिव्य दर्पण है जिसमें तत्कालीन पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि स्थितियों के प्रतिबिंब देखे जा सकते हैं। इसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का त्रिवेणी-संगम कर महाकवि ने चिन्मय दीप जलाकर माँ भारती की आरती उतारने का बड़ा ही श्लाघ्य प्रयास किया है। तभी तो विश्व भर में इस ग्रंथ को प्रतिष्ठा मिली है। राष्ट्रीय चेतना से युक्त ऐसा महान काव्य संसार की किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं लिखा गया, क्योंकि इस ग्रंथ की रचना वस्तुतः 'नाना पुराण निगमागम' के आधार पर तो हुई ही है, इसमें 'क्वचिदन्यतोऽपि' का समावेश भी किया गया है।

निस्संदेह 'रामचरित मानस' आदि से अंत तक राष्ट्रीय चेतना से युक्त हिंदी का एक गौरव-ग्रंथ है।

क्रांतिकारी देशभक्त और भारतीयों के लिए आस्था के स्रोत नेताजी सुभाष चंद्र बोस

सिद्धेश्वर

भारत के स्वाधीनता आंदोलन में नेताजी सुभाष चंद्र बोस और आजाद हिंद फौज की निर्णायक भूमिका थी। सुभाष चन्द्र बोस का दृढ़ विचार था कि ब्रिटिश सरकार 'अनुनय विनय' तथा अहिंसात्मक आंदोलन से भारत को स्वतंत्रता नहीं देगी। उनका मत था कि क्रांति की तरह और भारतीय सैनिक मिलकर सशस्त्र क्रांति करें। क्रांतिकारियों की प्रमुख पार्टी 'हिंदुस्तान गदर पार्टी' ने भी इसी ढंग से क्रांति करने का आह्वान किया। नेताजी सुभाषचंद्र बोस एक ऐसे महान क्रांतिकारी योद्धा, अपूर्व साहसी, विलक्षण स्वभाव एवं तीक्ष्ण बुद्धि के धनी व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर भारत में अँग्रेज शासन की जड़ें हिला दी थीं। बीसवीं सदी के पूर्व दशकों में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के जिन महानायकों की चर्चा होती है, सुभाष चन्द्र उनमें अग्रगण्य हैं। वैसे युवाशक्ति के तो वे प्रतीक थे ही गरम दल के नेता के रूप में उन्हें ज्यादा याद किया जाता है।

23 जनवरी, 1897 को ओडिशा के कटक में जन्में सुभाषचन्द्र बोस के पिता का नाम जानकी नाथ बोस था, जो कटक के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता थे। बाद में फिर वे सरकारी वकील बन गये और 1912 में बंगाल विधान परिषद् के सदस्य भी हुए। जानकी दास बोस की पत्नी का नाम था प्रभावती जिनके आठ पुत्रों और छह पुत्रियों में से सुभाष उनकी नौंवी संतान थे। सुभाष चन्द्र बोस की प्रारंभिक शिक्षा कटक के प्रोटेस्टैन्ट यूरोपियन स्कूल में हुई थी जहाँ अपने क्लास में पढ़ने-लिखने में प्रथम थे। 1909 में इस स्कूल को छोड़कर फिर रेवेन्शा कॉलेजियट स्कूल में इनका नामांकन कराया गया जिसके प्रधानाध्यापक बेनी माधवदास के व्यक्तित्व का प्रभाव सुभाष पर पड़ा, क्योंकि वे नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देते थे और प्रकृति के बड़े प्रेमी थे।

15 वर्ष की आयु में ही सुभाष चन्द्र बोस के जीवन पर विवेकानन्द के उपदेशों का भी गहरा प्रभाव पड़ा जिसकी वजह से उनमें वैचारिक क्रांति का संचार हुआ। परिणामस्वरूप मानवता की सेवा में

सुभाषचंद्र बोस ने अपने जीवन को समर्पित करने का मन बनाया। इसी बीच उन्होंने रामकृष्ण-विवेकानन्द युवजन सभा का गठन किया। आई.ए. की परीक्षा में विश्वविद्यालय भर में उन्होंने द्वितीय स्थान प्राप्त किया। फिर आगे के अध्ययन हेतु उनका नामांकन कोलकाता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हुआ जहाँ से सन् 1919 में दर्शनशास्त्र में ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी से उतीर्ण हुए। इसके बाद उनके पिताजी ने उन्हें 15 सितम्बर, 1919 को आईसीएस करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया जहाँ से आईसीएस की परीक्षा में वे सफल हुए और योग्यता-क्रम में चौथा स्थान मिला। अंक पत्र से पता चला कि अँग्रेजी रचना में वे प्रथम आए। आई.सी.एस. की परीक्षा में उतीर्ण होने के बाद उन्होंने नौकरी कर ली, पर उनका मन नौकरी करने का नहीं था इसलिए उन्होंने शरतचंद्र को पत्र लिखकर परामर्श माँगा। 22 अप्रैल, 1921 को ही कैम्ब्रिज से भारत सरकार के सचिव ई.एस. मांटेग्यू को सुभाष ने पत्र लिखा कि अगस्त, 1920 में आई.सी.एस. की प्रतियोगी परीक्षा द्वारा चयन किए गए प्रोबेशनरों की सूची से वे अपना नरम वापस ले रहे हैं काफी सोच-समझकर। देशबन्धु चितरंजन दास को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के बारे में सुभाष चन्द्र बोस ने तीन प्रस्ताव भेजा था अपनी सेवाओं के क्षेत्र के संबंध में जिनमें देशबन्धु द्वारा संचालित राष्ट्रीय महाविद्यालय में अध्यापन प्रथम था और दूसरा था देशबन्धु के 'स्वराज्य' अखबार के अँग्रेजी संस्करण में उपसंपादक का दायित्व संभालना और तीसरा था काँग्रेस में शोधकार्य करना। अंत में सुभाष चन्द्र ने यह भी लिखा था कि काँग्रेस को संविधान के लेखन का भी श्रीगणेश कर देना है स्वराज्य की जो धारणा है उसको लेकर।

सुभाष चन्द्र बोस द्वारा आईसीएस की नौकरी छोड़ने की खबर फैली, तो इंग्लैंड के प्रवासी भारतीय समाज में खलबली मच गई और भारत में यह चर्चा का विषय बन गया। अपने बड़े भाई शरत को इन शब्दों में सुभाष ने अपने त्यागपत्र के संदर्भ में लिखा- 'मैं जानता हूँ कि मैंने कितनों का दिल तोड़ा है और कितने गुरुजनों की अवज्ञा मैंने की है, पर मेरा यह निवेदन है कि मैंने जो किया है वह देश के हित के लिए किया है।' सुभाष चन्द्र की माँ प्रभावती ने भी सुभाष को जो चिट्ठी लिखी उससे सुभाष चंद्र को बहुत बल मिला। माँ ने पत्र में लिखा- 'और लोग चाहे जो सोंचे, पर मैं गाँधी जी के ही आदर्शो को सबसे श्रेयस्कर समझ रही हूँ।' माँ के इस आश्वासन से सुभाष चंद्र बोस को अपेक्षित सान्त्वना मिली। फिर

सुभाष चंद्र बोस अपने स्वार्थ-सिद्धि से मुँह मोड़कर देश के हित में जिस *रास्ते पर चल पड़े उससे फिर कभी मुँह मोड़कर नहीं देखा।*

भारत में आने के बाद सुभाष चंद्र बोस गाँधी जी से मिले और फिर चितरंजन दास को अपना गुरु मानकर अपने देश की आजादी के संग्राम में कूद पड़े। देशबंधु चितरंजन दास के सान्निध्य में आने की वजह से सुभाष चंद्र बोस मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, लाला लाजपत राय तथा मौलाना मुहम्मद अली जैसे काँग्रेस के दिग्गज नेताओं के सम्पर्क में आए।

ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिंस ऑफ वेल्स की नवम्बर, 1921 में भारत दौरे की जब घोषणा हुई तो काँग्रेस ने उनके मुंबई उतरने के दिन ही पूर्ण हड़ताल का आह्वान कर दिया। सुभाष के संरक्षण में काँग्रेस के स्वयंसेवकों ने शहर को पूर्ण रूप से संभाल लिया, मगर ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेस पार्टी को ही गैर-कानूनी घोषित कर दिया। फिर इसकी प्रतिक्रिया में स्वयं सेविकाओं के एक जत्थे ने इसको चुनौती दे डाली जिसमें देशबन्धु चितरंजन दास की पत्नी वासन्ती देवी भी शामिल थीं जिन्हें सरकार ने अपने गिरफ्त में ले लिया। इसे देखकर युवक-युवतियाँ सभी ने अपनी गिरफ्तारी दीं। फिर 1921 के दिसम्बर माह में देशबन्धु और अन्य नेताओं सहित सुभाष चंद्र बोस भी कैद कर लिए गए और उनको छह माह की सजा हो गई।

आठ माह के दौरान जेल में देशबंधु से सुभाष चंद्र बोस को बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। सन् 1922 में चौरी-चौरा में उत्तेजित ग्रामवासियों ने थाने में आग लगा दी तथा कुछ पुलिसजनों को रोष में मार डाला। इस घटना से नाराज होकर उनके आग्रह पर काँग्रेस कार्यकारिणी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित कर दिया गया। सुभाष चंद्र बोस देशबंधु के साथ उस जेल में थे। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित होने की खबर सुभाष चन्द्र को मिली तो उन्हें दुख हुआ और वे क्षुब्ध हो गए तथा काँग्रेसजनों में घोर निराशा छा गई। मार्च, 1922 में गाँधी जी को दो वर्षो की सजा हो गई, तो बचे हुए नेताओं ने मोतीलाल नेहरू के संरक्षण में स्वराज्य दल का गठन किया गया, ताकि इस दल के माध्यम से लोग चुनाव लड़कर विधानमंडलों में जा सकें और सरकार का पूरजोर ढंग से विरोध कर सकें।

इसी बीच सुभाष चन्द्र बोस के जेल से छूटने के बाद सर सी. पी. राय द्वारा संचालित राहत के कार्यो में वे लग गए। उत्तर बंगाल में

आई भीषण बाढ़ और वर्षा से मची तबाही में सुभाष चंद्र बोस ने राहत कार्य मैं जी-जान से काम किया, जिससे पूरी मानवता को पूर्णत: त्राण मिला। राहत कार्य की इस सफलता से जहाँ काँग्रेस की प्रतिष्ठा प. बंगाल में बढ़ गई, वहीं इस अवधि में स्वराज्य पार्टी द्वारा संचालित दैनिक पत्र 'बांग्लार कथा' के सुभाष चन्द्र संपादक हो गए और साथ ही स्वराज्य पार्टी के सचिव भी। इसी प्रकार कोलकाता नगर निगम बना तो देशबंधु हुए उसके प्रथम महापौर और सुभाष चन्द्र बोस उसके मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी जिन्होंने विविध सुधार के कार्य किए। दोनों नेता अपने वेतन का आधा गुजर-बसर के लिए रखकर आधा दीन-दुखियों को दान कर देते थे। इस प्रकार सुभाष चन्द्र बोस ने हर लोग के दिल में अपनी जगह बना ली और इनकी सराहना चतुर्दिक होने लगी। देखते ही देखते वे एक महत्वपूर्ण युवा नेता हो गए। इसी क्रम में जब सुभाष चंद्र बोस जवाहर लाल नेहरू के सम्पर्क में आए तो सुभाष ने काँग्रेसी युवकों की 'इन्डिपेन्डेन्ट्स लीग' की स्थापना की, किंतु नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का गरम एवं तीखे तेवरों की काँग्रेसी का नरम रवैया पसन्द नहीं आया।

गुजरात के हरिपुरा में आयोजित 51वाँ काँग्रेस अधिवेशन में सुभाष चन्द्र बोस को पार्टी का अध्यक्ष चुना गया। काँग्रेस अध्यक्ष के रूप सुभाष चंद्र बोस ने देश का व्यापक दौरा किया, ताकि जनता संघर्ष के लिए तत्पर हो जाए। हरिपुरा अधिवेशन के पश्चात् तीन माह के अन्दर उन्होंने काँग्रेस के मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन दिल्ली में बुलाया जिसमें आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से भारत को समृद्ध राष्ट्र बनाने के हित के महत्व की व्याख्या की जा सके। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के बाबत सुभाष चन्द्र बोस के विचार स्पष्ट और सुनिश्चित थे। वे मानते थे कि औद्योगिक क्रांति के बिना भारत समृद्ध नहीं हो सकता है। बेरोजगारी की समस्या हल हो सकती है तो केवल उद्योग धंधों से ही। पर वे कुटीर उद्योगों की भी उपेक्षा नहीं करते थे। लेकिन इतना सब कुछ करने के बावजूद दक्षिणपंथी काँग्रेसी उनके विरूद्ध थे और दूसरी बार उन्हें अध्यक्ष नहीं बनाने देना चाहते थे। अत: दूसरी बार अध्यख बनने की जब सुभाषचंद्र ने घोषणा की तो काँग्रेसी नेताओं ने बहुमत से इनको नकारा। वे अपनी उम्मीदवारी को वापस लेने को तत्पर हो गए, लेकिन शर्त थी कि आचार्य नरेन्द्र देव चुने जाएँ। लेकिन ऐसा न हो सका, तब दक्षिण पंथी नेताओं ने पट्टाभि सितारमैया को उनके विरोध में खड़ा किया। अंतत: दो सौ मतों के बहुमत से सुभाष चंद्र बोस

ही जीत गए। इस चुनाव ने सिद्ध कर दिया कि सारे देश में व्यापक और प्रभविष्णु समर्थन है सुभाष चंद्र बोस का। गाँधी जी बोले कि यह हार पट्टाभि सितारमैया की नहीं हुइ है, यह हार है मेरी, जवाहर लाल नेहरू भी क्षुब्ध थे इन सब घटना के चलते।

इन सभी घटनाओं को लेकर 19 अप्रैल, 1939 को कोलकाता में अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक बुलाई गई और उस बैठक में ही सुभाष चन्द्र बोस ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और 3 मई, 1939 को उन्होंने कोलकाता में ही फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की। यह पदत्याग सुभाष चन्द्र बोस के जीवन के अत्यंत ही एक महत्वपूर्ण अध्याय का अंत था और एक माने में आरम्भ भी था। भारत की आजादी की खोज में उनकी नई दिशा की यात्रा का नि:संशय। फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना के बाद तुरन्त उन्होंने पार्टी के परिवर्तनवादी और प्रगतिशील व्यक्तियों को एकत्र कर एक धड़े का संगठन बनाने में जुट गए और इस प्रकार मई, 1939 से फॉरवर्ड ब्लॉक का कार्यक्रम प्रारंभ हो गया।

सुभाष चंद्र बोस 3 दिसम्बर, 1939 को मद्रास के सागर तट पर एक विशाल आमसभा को संबोधित कर ही रहे थे कि उन्हें यह सूचना मिली कि जर्मनी और ब्रिटेन में युद्ध छिड़ गया है। बस क्या था उन्होंने घोषणा की कि यह अच्छा अवसर है कि हम अपनी आजादी के लिए अविलम्ब ही ब्रिटेन पर धावा बोल दें। मगर गाँधी जी ने वक्तव्य दिया कि इस संकट बेला में भारत को चाहिए कि ब्रिटेन को इस मोड़ पे सब तरह से सहयोग करें। इस प्रकार काँग्रेस में परस्पर दो विरोधी धाराएँ बहने लगीं। 21 जून, 1939 को मुंबई में फॉरवर्ड ब्लॉक का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें वैसे काँग्रेसियों ने सुभाष चन्द्र बोस का साथ दिया जो ब्रिटेन के विरूद्ध शीघ्र ही संघर्ष करना चाह रहे थे।

अक्टूबर, 1939 में नागपुर में साम्राज्यवाद विरोधी सम्मेलन का आयोजन सुभाष चंद्र बोस ने किया जिसमें उन्होंने कहा कि हम एक युग का पटाक्षेप कर रहे हैं और एक नये युग का अभिनन्दन।

सन् 1939 के अगस्त माह से फॉरवर्ड ब्लॉक नामक सप्ताहिक पत्रिका का सम्पादन सुभाष चन्द्र बोस ने प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने सम्पादकीय लेख लिखकर अपने राजनीतिक विचारों से सबको अवगत कराया। फिर सन् चालीस के जून में फॉरवर्ड ब्लॉक के द्वितीय सम्मेलन का आयोजन सुभाष चन्द्र बोस ने नागपुर में किया जिसमें उन्होंने

ब्रिटिश सरकार को सारी सत्ता भारतीय जनता को सौंपने का नारा दिया। नागपुर से कोलकाता वापस होने के दौरान वे गाँधी जी से मिलने सेवाग्राम गए और उन्होंने गाँधी जी से अनुरोध किया कि वे इस संकट-काल में राष्ट्रीय संग्राम की तत्क्षण बागडोर संभाल लें, मगर गाँधी जी सहमत नहीं हुए और गाँधी जी ने सुभाष से कहा कि उसे अपनी अंतरात्मा जो करना चाहे वह बेखटक करें, उन्हें उसमें कुछ नहीं करना है। गाँधी जी ने यह भी कहा कि सुभाष अपने रास्ते से यदि देश को आजादी दिलाएँगे तो वह पहला व्यक्ति होंगे जो उनका अभिनन्दन करेंगे।

सुभाष चन्द्र बोस के समक्ष समस्या यह थी कि एक ओर जहाँ दक्षिणपंथी काँग्रेसी और महात्मा गाँधी जन-संग्राम छेड़ने के अनिच्छुक थे, वहीं दूसरी ओर वामपंथी दलों की कथनी और करनी में बड़ा ही अन्तर था जिसकी वजह से वे कुछ ठोस नहीं कर सकते थे। हिंदू सभा तथा मुस्लिम लीग जैसे दल भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के सवाल पर कुछ भी नहीं करना चाहते थे। वे उल्टे साम्प्रदायिक और पृथकतावादी माँगे प्रस्तुत करते रहते थे। इन्हीं सब बातों को सोचकर सुभाष चन्द्र बोस ने विदेश में ही जाकर सीमा पार से सशस्त्र आक्रमण करके ब्रिटिश इन्डियन आर्मी को विनष्ट करना चाहते थे, क्योंकि उनकी समझ थी कि ब्रिटिश सत्ता को भारत में टिकाए रखने वाला यही तत्व है।

सन् 1940 में जब नेताजी सुभाष ने फॉरवर्ड ब्लॉक द्वारा अवज्ञा आन्दोलन बंगाल में शुरू किया और अपने नेतृत्व में सत्याग्रह करने लगे तो भारत रक्षा कानून के तहत उन्हें गिरफ्तार कर कोलकाता के प्रेसिडेन्सी जेल में डाल दिया गया। जेल में रहकर ब्रिटिश सत्ता को उन्होंने चुनौती दी कि या तो उन्हें जेल से मुक्त करें अन्यथा वे आमरण अनशन प्रारंभ करेंगे। इस बावत उन्होंने ब्रिटिश सरकार को कई पत्र लिखे कि भले ही उन्हें उनके इस कदम को कोई व्यर्थ कहे, मगर उनका मानना था कि कोई त्याग व्यर्थ नहीं जाता। यह संसार नश्वर है और यहाँ की हर चीज नश्वर है, लेकिन उनके विचार, आदर्श और स्वप्न नश्वर नहीं हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपने विचार और आदर्श की खातिर मर सकता है तो अनंतर वही विचार फिर जन्म लेता है सहस्राधिक मनुष्यों के उर में। यदि हम अपने लक्ष्य के लिए मर मिटते हैं और अपने जीवन को भारत माँ के लिए अर्पित कर देते हैं तो इससे बढ़कर परम गति और क्या हो सकती है?

इस प्रकार नवम्बर, 1940 में कालीपूजा के दिन से नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने अनशन शुरू किया जिसकी वजह से ब्रिटिश शासन खिन्न हुआ। अनशन एक सप्ताह तक जारी रहा जिसके बाद बंगाल हुकुमत डर गई यह सोचकर कि कहीं नेताजी का जीवन जेल में अंत हो गया तो भारी बवाल मचेगा। फिर प्रशासन ने गुप्त बैठक कर यह निर्णय लिया कि नेताजी सुभाष को जेल से मुक्त कर दिया जाए।

जब नेताजी जेल से मुक्त हो गए तो उन्होंने छल-बल से योजना बनाना शुरू किया। उन्हें विदेश की गुप्त-यात्रा करनी थी, क्योंकि अब कोई राह नहीं बची थी। उन्होंने उत्तर-पश्चिम सीमान्त से होकर बाहर जाने की योजना को कार्यान्वित गुप्त रूप से किया। सुभाष के बड़े भाई शरत जी का बेटा शिशिर सुभाष को चुपके से कार में बैठाकर स्टेशन छोड़ आए। और वहाँ से सुभाष पेशावर चले जाएँगे। सुभाष ने एक बीमा कम्पनी के इन्सपेक्टर बनकर जियाउद्दीन नाम से यात्रा करने की योजना बनाई। सुभाष और अकबर दोनों ने मिलकर प्रस्थान करने की तिथि निर्धारित की। अपने घरवालों से सुभाष ने 14 जनवरी, 1941 को एकान्तवास करने की बात बताई और 17 जनवरी, 1941 को निर्धारित गुप्त प्रस्थान कर गए। सुभाष ने भूरी शेरवानी और पायजामा, फीतेदार अँग्रेजी जूते, सिर पर काली टोपी पहन रखी थीं। 17 जनवरी, 1941 की रात 1.30 बजे शिशिर ने कार में गुपचुप उन्हें बेखोफ छोड़ दिया। आसनसोल में पेट्रोल डलवाया। 17 जनवरी, 1941 को 9 बजे धनवाद के निकट बराडी जहाँ शरत का सबसे बड़ा पुत्र अशोक रहता था वहाँ दिन में ठहरे और फिर रात में शिशिर संग कार से पहुँचे गोमो स्टेशन और दिल्ली-कालका मेल से सुभाष अकेले अपनी राह से निकल पड़े। दिल्ली से फ्रन्टियर मेल पकड़कर सुभाष 19 जनवरी को पेशावर पहुँचे जहाँ अकबर ने उन्हें पहचान लिया और सुभाष को एक तांगे में बैठाकर दीन होटल गए और फिर ताजमहल होटल में उन्हें ले गया। कई दिनों तक लुका-छिपी करके 30 जनवरी, 1941 को तांगे से काबुल को हो गए रवाना और 31 जनवरी 1941 को सुबह ग्यारह बजे सुभाष पहुँच गए काबुल। काबुल से वे मास्को और वहाँ से बर्लिन पहुँचे वायुयान से।

जर्मनी पहुँचकर सुभाष ने भारत की आजादी के आंदोलन और विश्वयुद्ध के दौरान भारत-जापान के सहयोग के संबंध में एक विस्तृत विवरण पत्र तैयार कर जर्मन सरकार को दिया जिसमें स्वाधीन भारत सरकार

की स्थापना और जर्मनी एवं इटली के संग संधि की भी चर्चा थी। योजना बनी कि युद्ध जीत जाने पर ये दोनों ही देश भारत की आजादी के जमानतदार नि:संशय होंगे और सुभाष ने उसमें ब्रिटिश भारतीय सेना में विद्रोह फैलाने के हित एक सशस्त्र बल के संगठन का भी प्रस्ताव रखा था। फिर सुभाष ने लोगों को संगठित करने के लिए इटली, फ्रांस, ऑस्ट्रिया आदि देशों का दौरा किया जिसमें उनको सफलता मिली क्योंकि 1941 के अंत में बर्लिन में उन्होंने 'फ्री इन्डिया सेन्टर' स्थापित करने में सफलता पाई। फ्री इन्डिया सेन्टर को विदेशी दूतावास का दर्जा दिया गया था और इसके सारे सदस्यों को विदेशी कूटनयिकों की सारी सुविधाएँ भी दी गई।

सन् 1942 के फरवरी माह में रेडियो प्रसारण आरम्भ हुआ सुभाष चंद्र बोस का। अपने प्रथम प्रसारण में नेताजी सुभाष ने कहा-'अब भारत की मुक्ति का समय आ गया। भारत उठेगा और अब गुलामी की जंजीरों को काटेगा जो उसे जमाने से जकड़े हैं। विश्व के अन्य देश और जो हैं गुलाम, वे स्वाधीन हो जाएँगे निश्चय भविष्य में।'

इस बीच एक और घटना यह घटी कि ब्रिटिश शासन ने नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की मृत्यु का अफवाह उड़ा दिया, लेकिन 25 मार्च, 1942 को आजाद हिंद रेडियो, जर्मनी से नेताजी सुभाष ने क्रिप्स मिशन और ब्रिटिश शासन के उस अफवाह के संबंध में यह संदेश दिया- 'मैं सुभाष चन्द्र बोस अब भी जिन्दा हूँ। आजाद हिंद रेडियो से मैं बोल रहा हूँ। मेरी मृत्यु के संबंध में ब्रिटिश शासन ने बेसिर पैर की जो अफवाहें फैलाई हैं वह उनकी सदा से रणनीति रही है, सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत में आखिर इसीलिए तो भारत गए हैं, 'फूट डाल राज करो'। आखिर यही तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति रही है, पर भारत की जनता इसमें सावधान है, क्योंकि ब्रिटिश राजनैतिकों की काली करतूतों को वह जान रही है, ब्रिटिश शासन अल्पसंख्यकों, दलितों और नरेशों के मुद्दों को भी उछाल रही है, क्योंकि भारतीयों में ऐक्य नहीं है, इसलिए मैं अपने वासियों को सचेत कर रहा हूँ कि वे ब्रिटेन के इस युद्ध किसी रूप में भाग न लें। किसी रूप में यदि उन्हें सहायता दी गई तो ब्रिटेन की हार दूर होती जाएगी और स्वाधीनता प्राप्ति निश्चित रूप असह्य विलम्ब और बड़ा त्रासद हो गया यह।' इस संबंध में नेताजी सुभाष ने मई, 1942 में हिटलर से भी प्रथम और अंतिम बार भेंट की थी, लेकिन इस भेंट से वह संतुष्ट न थे, हाँ, इस भेंट से एक लाभ यह मिला कि हिटलर ने उन्हें पूर्वी क्षेत्र में जाने की

सुविधा मुहैया करा दी। फिर इधर काँग्रेस ने 8 अगस्त, 1942 को मुंबई में 'अँग्रेजों, भारत छोड़ो' *का एक प्रस्ताव पारित किया जिसके फलस्वरूप* महात्मा गाँधी आदि सारे बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर भारत की निरीह जनता पर जुल्म ढाना शुरू कर दिया पर भारत की जनता ने भी इस चुनौती को स्वीकार कर जी-जान से अँग्रेजों के विरूद्ध हर तरह से बगावत कर दी। भीषण नरसंहार, पुलिस थानों पर आक्रमण होने लगे और 'करेंगे या मरेंगे' हरेक हिंदुस्तानी का नारा बन गया।

फिर 31 अगस्त, 1942 को नेताजी सुभाष ने आजाद हिंद रेडियो, जर्मनी से दूसरी बार प्रसारण कर भारतीय जनता को अद्यतन स्थिति की जानकारी देते हुए संदेश दिया कि ब्रिटिश शासन जितना अत्याचार करेगी हम उतना ही जुल्म सहेंगे और बलिदान देंगे जिससे उतना ही भारत की प्रतिष्ठा दुनिया में बढ़ेगी, क्योंकि दुनिया का नैतिक समर्थन हमें मिल रहा है। इस प्रसंग में मैं आपसे विनम्र अनुरोध करूँगा कि जो अपने देशवासी देश की आजादी के हित में जी-जान से काम कर रहे हैं विदेश में, उनपर भी विश्वास दिलोजान से करना, क्योंकि हम इस देश के प्रहरी हैं इसमें कोई शक नहीं है और देश या विदेश जहाँ भी हम मौजूद हैं भारत की आजादी के लिए कटिबद्ध हैं। ब्रिटिश शेर दाँतों और पंजों से काटेगा, इसका ख्याल रखना है कि यह मरणासन्न शेर है और हम इसके घातों-प्रतिघातों से बच जाएँगे। इससे निराश नहीं होना कि नेता अपने जेल में बन्द हैं, बल्कि उनको जो यातना दी जा रही है उससे सारे राष्ट्र को संवेदना एवं सतत प्रेरणा और कुछ भी करने की तमन्ना मिलती रहेगी। इसलिए उन्होंने तुम्हें जो योजनाएँ दी हैं उसे तुम्हें कार्यान्वित करना है। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जिसमें मेरे देश की जनता की सहमति न होगी। जबसे मैंने घर छोड़ा है तबसे अबतक देशवासियों से सम्पर्क करता रहा हूँ। ब्रिटिश शासन के खुफिया अफसरों का यह मजाल नहीं कि मुझे पकड़ ले भारत आने में या भारत से भी कहीं बाहर जाने में। वर्तमान स्थिति में जितने देश ब्रिटिश शासन द्वारा शासित हैं या प्रताड़ित हैं वे सब बगावत करने पर आमादा हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम भारत में अपना संघर्ष जारी रखेंगे तब ही शीघ्र दासता से मुक्ति मिल जाएगी, इसमें कोई शक नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि जो और देश ब्रिटेन से शासित हैं वे सब भी आजादी पा के रहेंगे। अंत में मैं कहना चाह रहा हूँ कि यह मुहिम हफ्तों तक नहीं, महीनों तक चलनी ही चाहिए। यदि यह अहिंसक छापामार युद्ध चलता रहेगा तो ब्रिटिश

साम्राज्य ध्वस्त हो ही जाएगा। 'अभी नहीं तो कभी नहीं', 'विजय या कि मौत चाहिए', 'इन्किलाब जिन्दाबाद' 'इन्किलाब जिन्दाबाद'। नेताजी ने प्रसारण में भारतीय जनता से यह भी अनुरोध किया कि सभी टेक्सों का भुगतान रोक दें, क्योंकि इससे शासन को राजस्व मिलता है, उद्योग-धंधे में जितने भी कर्मचारी काम कर रहे हैं वे उत्पादन बंद कर दें और उत्पादक के यंत्रों का तोड़-फोड़ करें, विद्यार्थीगण भी गुरिल्ला जत्था कायम करके रहें, देश के भिन्न-भिन्न भागों में तोड़-फोड़ वे चालू कर दें, डाकघरों पर हमले करके स्टाम्पों को जला दें, महिलाएँ भी छिपे-रूस्तम काम करें और आश्रय दें उनको जो छापामार युद्ध में लगे हैं। मित्रों, जब ये काम अपनाए जाएँगे सारे देश में, तो प्रशासन तंत्र ठप्प पड़ जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है।'

नेताजी सुभाष ने मध्य जून, 1943 में जापानी प्रधानमंत्री तोजो से मिलकर जो मंत्रणा की उससे तोजो पर जैसे पूरे तौर पर जादू सा छा गया। दो मुलाकातों के बाद तोजो ने नेताजी का दाइत संसद में आमंत्रित कर कहा कि भारत को आजादी पाने का जो लक्ष्य है उसका उसे बिना शर्त हम समर्थन देते हैं। नेताजी की यह बेशक बड़ी सफलता थी, क्योंकि किसी विदेशी शक्ति के शासन-प्रमुख द्वारा अपने ढंग की यह एकमात्र घोषणा थी, फिर नेताजी ने जापान में अपनी उपस्थिति की घोषणा कर दी।

आजाद हिंद आन्दोलन के साहसिक कृत्यों से उत्प्रेरित होकर समग्र राष्ट्र सब भेद-भाव भूलकर, देशभक्ति पूर्ण वातावरण में अंगड़ाई लेने लगे। उल्लेख्य है कि आजाद हिंद फौज के शाहनवाज, सहगल और ढिल्लों जो तीन बंदी अधिकारी थे उनकी पैरवी के लिए काँग्रेस ने भूला भाई दो साई की अध्यक्षता में बचाव समिति गठित की और वे तीनों तब राष्ट्रनायक बन गए तथा जयहिंद बन गया नारा देश का, इसके साथ ही ब्रिटिश सेना में खलबली भी होने लग गयी। फिर तो रॉयल इन्डियन एयर फोर्स और इन्डियन नेभी में खुला विद्रोह हुआ और सन् छियालिस आते-आते भारत की आजादी का द्वार खुल गया। नेताजी सुभाष भारतीय सशस्त्र सेना की ब्रिटिश शासन के प्रति जो वफादारी थी, उसे ध्वस्त करके उसको भारत की आजादी के प्रति आस्थावान बनाकर अपने मकसद में कामयाब हो गए। पूर्व एशिया में नेताजी ने अपने भाषणों से आजाद हिंद फौज में भर्ती होने के लिए तथा आर्थिक सहायता का आह्वान कर भारतीयों को यह संदेश दिए कि तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।'

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान आजाद हिंद फौज ने जापानी

सेना के सहयोग से अँग्रेजों के विरूद्ध भारत पर आक्रमण कर दिया। अपनी फौज को प्रेरित करने के लिए नेताजी ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। इनकी दोनों फौजों ने अँग्रेजों से अंडमान और निकोबार द्वीप जीत लिए, पर अँग्रेजों का पलड़ा भारी पड़ने के कारण इनकी फौज को पीछे हटना पड़ा।

6 जुलाई, 1944 को आजाद हिंद रेडियो पर भाषण के माध्यम से नेताजी सुभाष की जो बातें गाँधी जी से हुई उसमें जापान से सहायता लेने का उन्होंने कारण बताते हुए आजाद हिंद फौज की स्थापना के उद्येश्यों के बारे में बताया। इस भाषण के दौरान नेताजी ने गाँधी जी को राष्ट्रपिता से संबोधित कर अपने जंग के लिए उनका आशीर्वाद माँगा। यह वह नेताजी सुभाष ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम गाँधी जी को 'राष्ट्रपिता' की संज्ञा दी थी। 18 अगस्त, 1945 को नेताजी सुभाष ने आजाद हिंद फौज के अपने मित्रों से यह कहा- 'दोस्तों! मातृभूमि की मुक्ति के लिए हम जो संघर्ष करते आए, पर अब ही घिर गए एक अनहोनी से हम। इस संकट की घड़ी में मेरा तुमसे यही आग्रह है कि क्रांति सेना के ही योग्य अनुशासन और आचरण करो तुम, निष्ठावान रहो भारत के प्रति तुम और अपनी आस्था को तुम कभी नहीं डोलने दो। दिल्ली तक पहुँचने की अनेक राहें हैं, अब भी हमारा लक्ष्य दिल्ली ही है। भारत तो आजाद निश्चित ही होगा और इसमें जरा भी संदेह नहीं कि भारत शीघ्र ही आजाद होगा। 17 अगस्त, 1945 को एक संदेश में नेताजी ने पूर्व एशिया में रहने वाले भारतीय लोगों से कहा- भाइयो और बहनो! सुन लो मेरा अब यह विशेष संदेश, भारत की आजादी के संघर्ष का एक विशिष्ट अभी समाप्त हो गया है जिसमें पूर्वेशिया में रहने वाले बेटों और बेटियों ने भी इसमें अपनी जगह स्थायी बना ली है और तुमने भी इसमें धन-जन और रसद देकर देशभक्ति तथा बलिदान का ज्वलंत उदारहरण पेश कर दिया है। मैं कभी न भूल सकता हूँ तेरे इस उदार और साहसिक सहयोग को।

सन् 1942 के आंदोलन के कुचल और दबा दिए जाने पश्चात् से लेकर सन् 1945 के युद्ध के अंत तक देश में मुश्किल से कोई राजनैतिक गतिविधि रही, क्योंकि देश के प्राय: अधिकांश नेता जेल में थे और परिस्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें नया नेतृत्व सामने आ सके। आमतौर पर लोगों में असंतोष और खिन्नता की भावना थी हालांकि अप्रकट रूप से भीतर-भीतर आग सुलग रही थी। युद्ध आगे खिंचा, लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन में ठहराव आ गया था। सुभाष चन्द्र बोस रूस से भारत की स्वतंत्रता के

संघर्ष में मदद लेने के उद्येश्य से मार्च, 1941 में चुपचाप देश से चले गए थे, लेकिन जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और वह मित्र राष्टों में शामिल हो गया। नेताजी सुभाष रूस से इस उद्येश्य से जर्मनी चले गए कि वहाँ पर मदद प्राप्त कर सकें। जर्मनी से थोड़े आश्वासन पाकर वह जापान गए, ताकि उसकी मदद से मुक्ति-युद्ध का संगठन कर सकें। उन्होंने जापानियों के साथ मिलकर भारत की तरफ बढ़ना शुरू किया। आजाद हिंद फौज के अफसरों और सैनिकों में देशभक्ति की भावना थी और उन्होंने मुक्तिदाता के रूप में भारत में प्रवेश करना चाहा। सुभाष चन्द्र बोस स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार के अध्यक्ष होने वाले थे, मगर जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना असफल हो गई। तोक्यो जाते वक्त हवाई जहाज की एक दुर्घटना में सुभाष चन्द्र बोस के घायल हो जाने के बाद तो उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन यह सत्य है कि युद्ध के अंतिम वर्षो में सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिंद फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढाढ़स बंधाया जो निराशा और असहायता से त्रस्त थे। उन्होंने सेना के जवान और भारतीय जनता के हर वर्ग के सामने साहस और देशभक्ति की ऐसी मिसाल रखी जो प्रेरणा देने वाली भी थी और मर्यादा से जोड़ने वाली भी।

नेताजी जैसे स्वतंत्रता सेनानी, अप्रतिम सेनानायक, क्रांतिकारी देशभक्त और देश-समाज के हितचिंतक के समग्र जीवन चरित और उनकी वैचारिकता को समेटना तो एक दुष्कर कार्य है फिर भी मैंने उन्हें स्मरण करते हुए उनके कार्यकलापों पर एक दृष्टि डाली है। आईसीएस जैसी पद व प्रतिष्ठा की परीक्षा में चौथा स्थान पाकर भी नेताजी के मन में नौकरी करने को लेकर जो अंतर्द्वन्द्व रहा वह इस बात का द्योतक है कि अपने देश व समाज की दुर्दशा के बारे में सोचकर वह विचलित हुए। आखिर तभी तो अपने मन की उलझन के बारे में एक परिचित बुटस परिवार को उन्होंने कहा था- 'मेरे लिए सिविल सर्विस की परंपरा में बंधकर देश के लिए वास्तविक कार्य करना संभव नहीं है, क्योंकि कानूनों का अनुगामी होकर राष्ट्रीय व आध्यात्मिक भावों का समन्वय नहीं हो सकेगा। मेरे लिए सुख-दुख व्यक्तिशः मेरे भी नहीं हैं। पूरे भारतीय समाज और संपूर्ण मानव जाति के हैं।' भारतीय राजनीति के मौजूदा परिदृश्य में क्या आज किसी देशवासी या राजनेता से ऐसी उम्मीद की जा सकती है? मुझे तो ऐसी उम्मीद कतई नहीं है।

विभिन्न मंचों से देशसेवा कार्य का करना, आंदोलनों व गतिविधियों में भाग लेना, जेल जाना और फिर नजरबंदी की जगह से वेश बदलकर अफगानिस्तान के रास्ते जर्मनी पहुँचना, बर्लिन में लंबे प्रवास के दौरान हिटलर स मुलाकात व अपने देश की आजादी के लिए सैन्य सहायता की बात करना ये सब बातें आज इस देश की जनता को क्या अकल्पनीय नहीं लगता? नेताजी ने हिटलर से कहा था- 'मुझे अपना देश आजाद कराना है। इस वक्त मेरा एक ही उद्येश्य है जैसा आपका दुश्मनों को पराजित करना। साफ है जैसी आधी दुनिया का मालिक ब्रिटेन आपका शत्रु है ठीक उसी तरह हमारा भी वह शत्रु है। क्या हमदोनों के लिए इतना काफी नहीं है?' द्वितीय महायुद्ध के समय सुभाष चन्द्र बोस जापान की बढ़ती विजयी ताकत को देखकर अपने भारत की आजादी के लिए जापान से मदद पाने को उददत होते हैं। वर्मा व सिंगापुर में प्रवासी भारतीयों के बीच स्वतंत्रता का आह्वान करते हुए वह आजाद हिंद फौज का गठन कर जापानियों की सहायता से ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध 'दिल्ली चलो' के नारे के साथ युद्ध की घोषणा कर अपनी फौज वे आगे बढ़ा देते हैं। इसे देशवासियों को बताना हमारा-आपका यह दायित्व बनता है।

सशस्त्र क्रांति का यह नायक जापान की द्वितीय विश्वयुद्ध की हार के बाद पीछे हटने को विवश हो जाता है और अपने को दुनिया के सामने मौत के परदे में छिपा लेता है और वह अपनी विचारित योजना के तहत आकाशवाणी टोकियो से हवाई दुर्घटना में अपनी मौत का समाचार सुन माँ दुर्गा से कह उठता है 'मां दुर्गे! तू धन्य है तूने अपने लाल को एक बार फिर उबार लिया। पर मां तू यह तो संकेत दे कि तेरा यह लाल अपनी मातृभूमि के चरण स्पर्श कब कर सकेगा?' देश के करोड़ों दिलों की जिज्ञासा भरा यह प्रश्न कि सुभाष इस भूमि की ओर फिर क्यों नहीं मुड़े या अपना पता क्यों नहीं दिया है उनके जैसा व्यक्तित्व क्या शांत रह सकता था?

देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने भी अपनी आत्मकथा में लिखा है कि नेता जी की देशसेवा, निर्भिकता और त्याग के सभी कायल थे अत: आजादी में योगदान के लिए उन्हें उचित सम्मान मिलना चाहिए, ताकि उनके देशप्रेम बलिदान, उनके विचारों एवं संघर्षो की जानकारी देशवासियों को हो सके। मुझे लगता है कि इक्कीसवीं शताब्दी में नेताजी के विचार राष्ट्र के भविष्य एक जीवित सिद्धांत के रूप में व्यावहारिक है।

ऐसा माना जाता है कि वर्मा पतन के बाद से ही नेताजी

चाह रहे थे कि अब सोवियत क्षेत्र में जाकर भारत की आजादी के हित राजनीति कुछ और बनाएँ, लेकिन जापानी हाई कमान जो टोकियो में थे उनके इस विचार से सहमत नहीं हो सके। अंत में 15 अगस्त, 1945 की मंत्रिमंडल की बैठक में निर्णय लिया गया कि नेताजी के संग में एस.ए. अय्यर, आबिद हसन और हबीबुर्रहान भी टोकियो चले जाएँ, वहीं कुछ बने योजना। वे लोग टोकियो के लिए रवाना हो गए और रास्ते में बैंकाक में रूके और सैगाँन में भी। वहाँ उन्हें बैठाया गया एक जापानी बमवर्षक वायुयान में, तब एक सीट ही खाली बची थी, अत: सिर्फ रहमान ही बैठ सके नेताजी के संग। सैगाँन के बाद नेताजी और उनके मेजमानों ने उत्तर हिंद चीन में टूरेन में भी रात बिताई थी। फिर वहाँ से ताइवान के लिए वे दोनों रवाना हुए और उन्हें टोकियो भी जाना था। 23 अगस्त, 1945 को रेडियो टोकियो से प्रसारित हुआ यह दु:संवाद कि ताईहोक्यू के हवाई अड्डे से, जब विमान उड़ान भरने लगा तभी उड़ान ध्वस्त हो गया जिसमें जापानी जनरल शीदेई और पायलट के ही साथ मारे गए परन्तु नेताजी बुरी तरह से जल गए थे जिन्हें उसी रात को ताईहोक्यू सैनिक अस्पताल पहुँचाया गया इलाज वास्ते, तभी नेताजी ने अंतिम सांस ले ली और कहानी खत्म हो गई। कहा जाता है कि हबीबुर्रहमान ने नेताजी का अंतिम संस्कार ताईहोक्यू में ही कर दिया था। फिर सितम्बर के मध्य में जापान पहुँचाई गई उनकी अस्थियाँ और टोकियो के रेंकाजी मंदिर के पास रख दी गई थीं। इस खबर से खासतौर भारतीय समाज संतुष्ट नहीं है और इस प्रकार आज तक नेताजी की मौत रहस्यमय बनी हुई है। पर इतना मैं जरूर कहूँगा कि भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम में अपने वैशिष्ट्य की वजह से नेताजी सुभाष चन्द्र बोस सबसे कुछ भिन्न नजर आते हैं अपने व्यवहार और सिद्धांत के कारण, अपनी साहसिकता और जीवन शैली में वे निश्चित रूप से एक चमत्कारिक व्यक्तित्व हो गए थे। आखिर तभी तो भारत की आजादी के सात दशक बीत जाने के बाद भी नेताजी सुभाष भारतीयों के लिए आस्था के स्रोत बने हुए हैं और सदियों तक भारतवासी उन्हें नहीं भुला पाएँगे उनके योगदान को और वे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाँधी जैसे ही अमर हो गए हैं।

नेताजी के तमाम योगदान और उनकी रचनात्मक दृष्टि का स्मरण दुष्यंत कुमार की एक ग़ज़ल के इस मिसरे की मुझे याद दिलाता है-

'दुकानदार तो लुट गए मेले में यारों,
तमाशबीन दुकाने लगा के बैठ गए।'

मुंशी प्रेमचंद की राष्ट्रीय चेतना

डॉ. सुंदरलाल कथूरिया

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने आधुनिक काल का प्रारंभ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी से माना है। यह काल जहाँ एक ओर राजनीतिक-सामाजिक आंदोलनों से विक्षुब्ध रहा, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य जीवन और साहित्य के संपर्क-संघर्ष से नयी समस्याओं, नयी विचार-धाराओं और नयी जीवन-पद्धतियों ने भी भारतीय जन-मानस को कम आंदोलित नहीं किया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम ने जिस राष्ट्रीय जागरण तथा सामाजिक संचेतना को उद्‌बुद्ध किया उससे रीतिकालीन मानसिकता को प्रबल झटका लगा। भारतीय नवीन मूल्यों और जीवन पद्धतियों की ओर अग्रसर हुए, फलत: साहित्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-प्रणाली और रूप-विधान में भी परिवर्तन के चिहन् दृष्टिगोचर होने लगे। पाश्चात्य औद्योगिकता का प्रभाव और प्रतिक्रिया, धर्म में बौद्धिकता और मानववादी दृष्टि का प्रवेश इस युग के साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्व सिद्ध हुए। पाश्चात्त्य जीवन और साहित्य की अनेक धाराओं ने भी हिंदी साहित्य की अंतश्चेतना को प्रभावित किया। रोमानी स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण के कारण प्रकृति के उन्मुक्त रूप की ओर आकर्षण हुआ एवं पुनर्जागरण के फलस्वरूप देश-भक्ति की भावना प्रगाढ़ हुई तथा सुधार और आंदोलनों का जोर बढ़ा। यों प्राचीन भारतीय साहित्य में देशभक्ति के वे अंत:सूत्र अलभ्य नहीं हैं जिनमें कवियों ने मातृभूमि के प्रति अपने आकृत्रिम अनुराग की जीवंत अभिव्यक्ति की है, किंतु पाश्चात्य चिंतन के संपर्क से आधुनिक लेखक फ्रांस की राज्य-क्रांति तथा काव्य के स्वच्छंदतावादी आंदोलन से परिचित हुए। ब्रिटिश शासन ने जहाँ भारत को साम्राज्यवाद का निरंकुश दमन -चक्र दिया, वहाँ उसके विरूद्ध आक्रोश करने वाली समानांतर स्थिति की कल्पना भी दी, परिणामत: प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के बाद भारत में सांस्कृतिक पुररुत्थान की जो लहर आई उसमें अतीत-प्रेम, निसर्ग-प्रेम तथा राष्ट्रीय चेतना का अपूर्व समन्वय था।

प्रेमचंद इसी युग की उपज थे। साहित्य-जगत् में उनके प्रवेश के पूर्व राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था, किंतु उसका हृदय, विकास और उत्सर्ग होना बाकी था। सन् 1885 में काँग्रेस की स्थापना के बाद राष्ट्रीय अस्मिता का बोध ही नहीं हुआ, यह भाव उत्तरोत्तर

दृढ़ और बलवत्तर भी होता गया तथा गाँधी जैसे युग-पुरुष के नेतृत्व में अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर गया। सन् 1915 के बाद महात्मा गाँधी राजनीति-गमन पर छा गये और उनके प्रभाव से समूचे देश में चेतना की एक लहर-सी दौड़ गयी, स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए आंदोलनों की बाढ़-सी आ गयी और सारा देश देश-प्रेम की तरंगों से तरंगायित हो उठा। प्रेमचंद भी इससे अछूते न रहे। अपनी लेखनी के द्वारा उन्होंने जन-जन में राष्ट्रीय चेतना के संचरण का स्तुत्य कार्य किया, फलत: साहित्य के क्षेत्र में इस दृष्टि से उन्हें वही गौरव मिला, जो राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाँधी को मिला था।

उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से ही नहीं, अपने निबंधों, भाषणों, पत्रों तथा संपादकीय टिप्पणियों में व्यक्त विचारों के द्वारा भी प्रेमचंद ने राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार में अप्रतिम योगदान दिया है, किंतु यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि प्रेमचंद की राष्ट्रीय चेतना संकीर्ण, रूढ़ अथवा अनुदार न होकर अत्यंत व्यापक, उदार एवं जीवंत है- उसमें राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के विधायक उन सभी तत्वों का योगदान है, जो राष्ट्र-हित साधन में समर्थ हैं, लोक-मंगलकारी एवं जनोपयोगी हैं तथा जिनसे भारत में रहने वाली विभिन्न जातियों एवं विविध संप्रदायों में एक्य और सद्भाव संभव है।

साहित्य में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। देश को एक इकाई मानकर किसी काल-विशेष में संस्कृति और सभ्यता की तत्कालीन स्थिति का आख्यान करने वाला साहित्य राष्ट्रीय है। 'राष्ट्र' में 'घ' प्रत्यय के योग से, जिसे 'इव' आदेश होता है, 'राष्ट्रीय' शब्द निष्पन्न होता है (संस्कृत शुद्ध रूप 'राष्ट्रिय' ही है, पर हिंदी में 'राष्ट्रीय' प्रचलित हो गया है।) जिसका अर्थ है अस्मिता, सत्ता का बोध अथवा अस्तित्व का ज्ञान। यह जड़ता का विपरीतार्थक है। जब-जब भी व्यक्ति को अस्तित्व-बोध होगा, उसे अपनी सत्ता का ज्ञान होगा, तब-तब वह जगेगा, अपने अधिकारों के प्रति सजग-सचेत होगा। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि व्यक्ति संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो जाए और जागरण तथा संघर्ष का अनिवार्य परिणाम है परिवर्तन। इस प्रकार, जब समष्टि के धरातल पर समूचा राष्ट्र अपनी अस्मिता का बोध कर, अधिकारों के प्रति सजग और सचेत हो जाता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए संघर्ष-पथ का अवलंबन करता है, राष्ट्रीय-हित सर्वोपरि हो जाता है तथा विविध जातियाँ और संप्रदाय

आपसी मतभेदों को भूलकर एक हो जाते हैं, तो राष्ट्रीय चेतना का उन्मेष होता है। अपने व्यापक अर्थ में 'राष्ट्रीय-चेतना' देशभक्ति की समानार्थी है और दशभाक्त क भावा को अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य राष्ट्रीय चेतना-संपन्न है।

यहाँ देशभक्ति या राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप उन विधायक तत्वों को जान लेना अनुचित न होगा, जो प्रेमचंद के अंतर्मन में थे और जिनका प्रतिफलन उनके समग्र साहित्य में व्यापक धरातल पर हुआ है। राष्ट्रीय चेतना के मूल में जिन तत्वों का योग है उनमें प्रमुख हैं- (1) अतीत का प्रत्याह्वान जिसके मूल में सांस्कृतिक पुनरुत्थान और पुनर्जागरण की चेतना भी है। (2) अपने विशिष्ट भू-खण्ड की प्रकृति की स्थानीक विशेषताओं की परख और उनके प्रति रागात्मक आकर्षण (3) अपने भूखण्ड की भाषा तथा साहित्य एवं कलात्मक परंपराओं का स्तवन तथा उसके प्रति अधिकाधिक संवेदनाओं का विस्तार(4) महापुरुषों का जयगान, उनके प्रति राग और श्रद्धा (5) वर्तमान दुर्दशा की ओर देशवासियों का ध्यान आकर्षित करना, उनके सुधार एवं जागरण की कामना करना, राष्ट्र के भावी स्वरूप की रूपरेखा, राष्ट्र की आशाओं, आकांक्षाओं एवं स्वप्नों का रेखाँकन (6) आक्रामक तत्वों एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह का स्वर (अ) रक्त क्रांति (आ) अहिंसक क्रांति, जिसके मूल में आत्मोत्सर्ग और आत्म-बलिदान की प्रेरणा भी निहित है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र के प्राचीन एवं नवीन मूल्यों के संस्कार-परिष्कार के प्रयास, विश्व-मानव, दार्शनिक-सामाजिक और आर्थिक भावनाओं एवं अवधारणाओं का वह विस्तार जिसमें राष्ट्र के किसी स्वरूप या संदर्भ का मूल्याँकन अथवा पुनराख्यान निहित है, देशभक्ति के व्यापक स्वरूप के अंतर्गत स्वीकृत हैं।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने राष्ट्र के स्वरूप के अंतर्गत भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और जन की संस्कृति- इन तीनों का सम्मिलित रूप ग्रहण किया है। भूमि से उनका आशय पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी, सुंदरता, उपयोगिता और महिमा की पहचान से है। जन के संदर्भ में ही वह पृथ्वी रागात्मकता से संलिप्त होती है, मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है तथा जन के हृदय में राष्ट्र को एक जीवंत इकाई के रूप में अनुभव करने की प्रेरणा अंकुरित होती है।

इस विवेचन का आशय यह है कि देशभक्ति या राष्ट्रप्रेम

किसी वस्तुगत सत्य की अपेक्षा एक भाव विशेष है जिसमें राष्ट्र की अंत:सत्ता के साथ सदाकारिता की भावना छिपी हुई है और वह अंत:सत्ता उस विशिष्ट भूखण्ड की वह गुणात्मक स्थिति है, जो अपने विशिष्ट रूप में भू, जन और संस्कृति तीनों की पहचान और सौंदर्य में निहित है। प्रेमचंद राष्ट्र की इस अंत:सत्ता के साथ सदाकारिता स्थापित करने में पूर्णत: सफल हुए हैं, तभी तो उनके इस महत्व को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में रेखांकित किया है-'अगर उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दु:ख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं, तो मैं आपको नि:संशय बता सकता हूँ कि प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।' वे आगे लिखते हैं- 'प्रेमचंद के अध्ययन से आप उत्तरी भारतवर्ष को जान सकते हैं। उनसे निम्न और मध्य श्रेणी- में श्रेणी की बात कर रहा हूँ, व्यक्ति का नहीं- का जैसा सुंदर और विश्वसनीय परिचय आपको इस ग्रंथकार के जरिए मिलेगा वैसा और किसी के जरिए नहीं मिलेगा- आप बड़े-बड़े आंदोलनों को समझ सकेंगे, कैसे वे रंग बाँधते हैं, कैसे जोर पकड़ते हैं, कैसे ढीले पड़ते हैं और कैसे असफल होते हैं।'

'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है' के सिद्धांतानुसार यह स्वीकार करने में किसी को कोई संकोच न होगा कि प्रेमचंद साहित्य में विभिन्न पात्रों-द्वारा व्यक्त राष्ट्रीय चेतना वस्तुत: प्रेमचंद के अंतस् की ही अभिव्यक्ति है। मातृभूमि के प्रति अनुराग, स्वाधीनता-संग्राम एवं काँग्रेस की नीतियों तथा स्वदेशी आंदोलन के समर्थन और ब्रिटिश शासकों या उनके प्रतिनिधियों के अत्याचारों का वर्णन में प्रेमचंद की उत्कट देशभक्ति दिखाई देती है। 'गबन' में देवीदीन कहता है, 'जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न-जल खाते हैं, उसके लिए इतना भी न करें, तो जीने का धिक्कार है। उसके ये देश के प्रति प्रेमचंद के अनन्यानुराग तथा बलिदान-भावना के द्योतक हैं।

जिस समय प्रेमचंद लिख रहे थे, उस समय काँग्रेस ही एकमात्र ऐसी राष्ट्रीय संस्था थी जिसके कार्यक्रमों के व्यापक प्रचार-प्रसार से राष्ट्र-मुक्ति की संभावना हो सकती थी। इसीलिए काँग्रेस और उसकी नीतियों में उनकी गहरी निष्ठा थी। 'काँग्रेस' शीर्षक टिप्पणी में वे लिखते हैं -'वह गरीबों की संस्था है। गरीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्त्तव्य है। उसके विधान में मजदूरों, किसानों और गरिबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए। वर्ग, जाति, वर्ण आदि के भेदों को उसने एकदम मिटा

दिया है।' काँग्रेस के भी दो दल थे- गरम दल और नरम दल तथा इनकी नीतियों में स्पष्ट अंतर था। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद नरम दल की नीतियों के समर्थक थे, फलतः उनके साहित्य में गाँधीवादी विचारधारा की ही जीवंत अभिव्यक्ति हुई है। यों वे गाँधी के भी अंध-भक्त नहीं थे। आत्म-चेतस् साहित्यकार होने के नाते उनके पास एक सजग अंतर्दृष्टि थी, दूरदर्शिता थी, अतः वे अत्युत्साही काँग्रेसियों द्वारा उस समय किये जाने वाले अत्याचारों, अन्यायों की विवशताओं को समझे बिना उस पर लगाये जाने वाले जुर्मानों या उनके द्वारा किये जाने वाले स्यापों को भी खुली आँखों से देख रहे थे। मेरे इस कथन के प्रमाण-रूप में प्रेमचंद की 'तावान' कहानी देखी जा सकती है। छकौड़ी की पारिवारिक परिस्थिति, दैन्य और विवशता को न काँग्रेस के सदस्य समझते-सुनते हैं और न काँग्रेस-कमिटी के प्रधान ही, बस वे तो उस पर तावान लगाकर पिकेटिंग या स्यापे से उसे वसूलना जानते हैं- भले ही इसके लिए छकौड़ी को अपना घर रेहन रखना पड़े या उसकी रुग्णा पत्नी का देहांत ही हो जाए। काँग्रेसी नेताओं के इस अमनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ प्रेमचंद ने उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति पर भी कटु व्यंग्य किया है। 'गबन' में देवीदीन कहता है : 'इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा इन्हें बस रोना आता है। छोकरियों की भांति बिसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देश-भक्तों को बिना विलायत शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी देसी चीज़ न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब सामान विलायती है।' कुछ काँग्रेसी नेताओं की इस विलासिता और संस्था के कार्यक्रमों को लागू करने में उनकी अमनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से परिचित होने के बावजूद प्रेमचंद अपने साहित्य के द्वारा काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रचार व्यापक राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ही करते हैं-उन्हें लगता है कि स्वाधीनता-प्राप्ति का यह आंदोलन कुछ नेताओं या धन्ना-सेठों का न होकर आम जनता का है, मजदूरों-किसानों का है, गरीबों का है। उनके शब्दों में, 'इसमें संदेह नहीं कि स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आंदोलन है।'

गाँधी जी के काँग्रेस में आने के बाद सत्याग्रह, अहिंसा, असहयोग आदि आंदोलन पर तो बल पड़ ही गये थे, रचनात्मक कार्यक्रमों का भी उन दिनों काँग्रेस में बोलबाला था। 'काँग्रेस के सभी अधिवेशनों में रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल दिया जाता था। चरखा, हाथ से कता खद्दर

और उसका प्रचार, अस्पृष्यता-निवारण, सांप्रदायिक एकता, मादक द्रव्य-सेवन का त्याग, विदेशी कपड़ा तो अन्य वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली, बड़े-बड़े कल-कारखानों के स्थान पर छोटे-छोटे उपयोगी उद्योग-धंधे, ग्रामीण जीवन का आर्थिक सुधार, प्रौढ़ शिक्षा, मजदूरों का संगठन, हिंदी-प्रचार आदि रचनात्मक कार्यक्रम के प्रधान अंग थे।' प्रेमचंद-साहित्य में इन रचनात्मक कार्यक्रमों का व्यापक धरातल पर समर्थन परिलक्षित किया जा सकता है।

प्रेमचंद उपन्यास-सम्राट कहे जाते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा उन्हें जितना बड़ा उपन्यासकार मानते हैं, उतना बड़ा कहानीकार नहीं। उनके शब्दों में, 'कहानी और उपन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं और उनमें प्रेमचंद को अलग-अलग तरह की सफलता मिली है। फिर भी जितने बड़े वह उपन्यासकार हैं उतने बड़े कहानीकार नहीं।' उनके उपन्यासों और कहानियों में समान रूप से काँग्रेस के उपर्युक्त रचनात्मक कार्यक्रमों का व्यापक सशक्त समर्थन उन्हें तत्कालीन राष्ट्रीय चिंता-धारा से जोड़ देता है। आइए, पहले उपन्यास-सम्राट के उपन्यासों की ही इस दृष्टि से छानबीन कर लें।

यों तो मुंशी प्रेमचंद के सारे उपन्यास किसी-न-किसी बिंदु पर राष्ट्रीयता से जुड़े हैं, पर जिनमें काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रमों और तत्कालीन जनांदोलनों की झलक व्यापक धरातल पर दीख पड़ती है उनमें 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' विशेष उल्लेख्य हैं। सन् 1932 में लिखित 'कर्मभूमि' का आधार फलक राजनीतिक है। इसमें 'किसानों के उस लगानबंदी आंदोलनों का चित्रण है जो दूसरे सत्याग्रह का एक मुख्य कार्यक्रम था। स्वतंत्रता संग्राम के गंभीर और व्यापक होने की कहानी है 'कर्मभूमि'। ग्राम के अछूतोद्धार, लगानबंदी आदि आंदोलनों के साथ-साथ शहर के मंदिर प्रवेश आंदोलन तथा जमीन से अलग किये जाने के विरूद्ध चलाए हुए सत्याग्रह का भी इसमें चित्रण है और समाज के सभी स्तरों के लोग देश की कर्मभूमि में उतरते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।' चरखे और खद्दर के प्रचार-प्रसार के माध्यम से भी इसमें प्रेमचंद ने अपनी राष्ट्रीय-चेतना को अभिव्यक्ति दी है। पिता के विरोध के बावजूद, अमरकांत स्कूल से लौटने के बाद नियमत: प्रतिदिन दो घंटे सूत कातता है। वह प्राय: काँग्रेस द्वारा आयोजित जलसों में जाता है और यदा-कदा जोशीले भाषण भी देता है। कर्मभूमि की नारियाँ भी आत्मचेतस् हैं, सजग हैं, और आवश्यकता पड़ने

पर जनांदोलनों में पुरुषों से भी बढ़-चढ़ कर भाग लेती हैं- यहाँ तक कि देश की बलिवेदी पर प्रोणोत्सर्ग करने से भी नहीं हिचकिचातीं। सुखदा अमरकांत से कहती हैं, 'मैं भी जानती हूँ कि हम लोग पराधीन हैं। पराधीनता मुझे भी उतनी ही अखरती है, जितनी तुम्हें। और उपन्यास के उत्तरार्द्ध में हम देखते हैं कि सुखदा, सकीना, नैना आदि सभी नारियाँ सक्रिय रूप से लगानबंदी के आंदोलन में कूद पड़ती हैं तथा नैना के बलिदान से ही आंदोलनकारी सफलता-लाभ करते हैं। यहाँ प्रकारांतर से प्रेमचंद ने मानो यह संकेत कर दिया कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए बलिदान अनिवार्य है।

'कर्मभूमि' का एक अन्य अविस्मरणीय नारी पात्र है मुन्नी। उसके माध्यम से प्रेमचंद ने अँग्रेजों के अत्याचारों का पर्दाफाश तो किया ही है उसके उत्कट साहस और वीरता का परिचय भी दिया है। गोरों के प्रति 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद की दृष्टि इन शब्दों में व्यक्त हुई है-'ये गोरे उस श्रेणी के थे, जो अपनी आत्मा को शराब और जूए के हाथों बेच देते हैं। तीन गोरों द्वारा जब मुन्नी (भिखारिन) का सतीत्व लूट लिया जाता है तो वह सिंहनी का रूप धारण कर लेती है और अवसर मिलते ही दो गौरों की हत्या कर अपना प्रतिशोध लेती है तथा सभी भारतीयों की श्रद्धास्पद बन जाती है। मुन्नी का प्रकरण 'कर्मभूमि' की कथा को एक नया आयाम देता है। इससे अँग्रेजों की बर्बर नृशंसताएँ उजागर होती हैं और यह ज्ञात होता है कि अँग्रेज भारतीय नारियों को अपने उपभोग की वस्तु समझते हैं।

सांप्रदायिक सद्भाव की व्यंजना भी कर्मभूमि में है और अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के दोषों का उद्घाटन भी। अमरकांत और सकीना के पारस्परिक आकर्षण और अमरकांत और सलीम की घनिष्ठ मैत्री के द्वारा उपन्यासकार ने सांप्रदायिक ऐक्य का भी संदेश दिया है। स्वराज्य-प्राप्ति की यह सबसे बड़ी अनिवार्यता थी। यह उस युग की माँग थी कि देश के निवासी हिंदू-मुस्लिम का भेद-भाव भूलकर स्वयं को भारतीय समझें। यही गाँधी का आह्वान था और यही अपने साहित्य के माध्यम से प्रेमचंद का संदेश।

स्वाधीनता-आंदोलन को 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने एक भिन्न कोण से प्रस्तुत किया है। यहाँ मुख्यतः औद्योगीकरण, अँग्रेजी-सत्ता एवं उसके सहयोगियों के विरूद्ध असहयोगियों द्वारा जन-जागरण की कथा को प्रस्तुत किया गया है। इस महाकाव्यात्मक उपन्यास का नायक है सूरदास जो

गाँधी का ही प्रतिरूप बन पड़ा है। अपनी दस बीघा जमीन के लिए जिस ज्ञान सेवक सिगरेट का कारखाना स्थापित करना चाहता है और इस उद्देश्य से वह जमीन हथियाना चाहता है- सूरदास जो व्यापक संघर्ष करता है वह राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम का प्रतीक बन गया है। सामरिक रंगभूमि में उतरे इस खिलाड़ी के आदर्श वही हैं जो महात्मा गाँधी के थे। सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमाशीलता, धर्म, न्यायप्रियता आदि का वह पूँजीभूत रूप है और उन्हीं का संबल उसकी अपराजेय शक्ति है। अपने जिन कतिपय पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने अपनी राष्ट्रीय चेतना को व्यंजित किया है, सूरदास उनमें शीर्षस्थ हैं। ज्ञान सेवक का पक्ष अँग्रेजी सत्ता के पक्ष का प्रतीक है और सूरदास का पक्ष भारत भू और भारतीय संस्कृति की रक्षा के पक्ष का प्रतीक। राजा महेंद्र कुमार सिंह के सम्मुख कारखाना खुलने के जिन संभावित दुष्परिणामों की राष्ट्रीय चेतना ही प्रकारांतर से व्यंजित होती है। सूरदास कहता है, 'सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जाएगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का तो प्रचार बढ़ जायेगा, कसिबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच में दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण, अपने गाँव में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धर्म बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जाएगी। भगवान न करें, यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाएँ यह सारा पाप मेरे सिर पड़े कहने की आवश्यकता नहीं कि गाँधी के समान 'रंगभूमि' का सूरदास भी औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है, क्योंकि इससे धर्मप्राण भारतीय संस्कृति को, जो गाँवों में आज भी अपने मूल रूप में सुरक्षित है, खतरा है।

'रंगभूमि' से पूर्व 'प्रेमाश्रम' में भी प्रेमचंद अपनी राष्ट्रीय चेतना का परिचय दे चुके थे। उनके 'प्रेमाश्रम' में यत्र-तत्र राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोध एवं सामाजिक नवजागरण के संकेत मिलते हैं। औद्योगीकरण का विरोध यहाँ भी लक्षित किया जा सकता है। एक कंपनी के शेयर बेचने के लिए जब एजेंट राय कमलानंद के पास जाता है तो राय साहब इसीलिए शेयर नहीं खरीदते, क्योंकि वे ऐसी व्यापारिक संस्थाओं को देशोद्धार की कुँजी नहीं समझते। उनकी यह दृष्टि निश्चय ही राष्ट्रीय है, देशभक्ति पूर्ण

है और वे व्यष्टि से समष्टि को बड़ा मानते हैं। वे विदेशी वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं, बड़े उद्योग-धँधों के स्थान पर घरेलू लघु उद्योगों एवं वैयक्तिक वैभव के स्थान पर स्वदेश-गरिमा के ही पक्षपाती हैं और उनके ये विचार निस्संदेह राष्ट्रीय भावापन्न हैं, गाँधी जी के अनुरूप हैं।

प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों में यद्यपि तत्कालीन सक्रिय राजनीतिक आंदोलनों का प्रत्यक्ष प्रभाव आनुषंगिक और सामाजिक चेतना बलवती है तथापि उनमें भी उनकी राष्ट्रनिष्ठ दृष्टि देखी जा सकती है। 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में ग्रामीण जीवन की विविध समस्याओं, कृषकों-मजदूरों की दयनीय स्थितियों, सामंतवाद के दुष्परिणामों और वर्ग-वैषम्य के चित्रण में आम आदमी के प्रति प्रेमचंद की निष्ठा, तत्कालीन दुर्दशा के भयंकर चित्र और परिष्कार की कामना, भारतीयों के पतन और दुर्दशा के लिए उत्तरदायी सामाजिक कुप्रथाओं, कुरीतियों एवं अँध-विश्वासों की समाप्ति की उत्कट अभिलाषा, उनके सुधार एवं जागरण की इच्छा तथा राष्ट्रीय आशाओं, आकाँक्षाओं एवं स्वप्नों का रेखांकन परिलक्षित किया जा सकता है। यों, 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' के अतिरिक्त उनके अन्य उपन्यासों में भी विदेशी शासन की बर्बरताओं, आम-भारतीयों की दुर्दशाओं, पुलिस के अत्याचारों, पक्षपातपूर्ण नीतियों एवं स्वराज्यांदोलन की अनुगूँजों को प्रासंगिक रूप में देखा-सुना जा सकता है- 'गबन' की मुख्य कथा के कलकत्ता स्थानांतरित होने के बाद पाठक तत्कालीन स्वदेशी आंदोलनों से परिचित होना है, 'कायाकल्प' सांप्रदायिक सद्भाव का लक्ष्य लेकर चलता है तथा 'सेवासदन' और 'निर्मला' क्रमशः वेश्यावृत्ति एवं अनमेल विवाह की समाप्ति का उद्येश्य लेकर। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के मन में अपने देश, देश की जनता और देश की संस्कृति के प्रति अनन्यानुराग है और उनके समग्र साहित्य में इसी की अनुगूँज है। उनके उपन्यासों और कहानियों में स्वदेश की प्रकृत्ति, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा और स्वदेश-गौरव की जो भावना है वह उन्हें राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने के लिए पर्याप्त है।

प्रेमचंद के उपन्यास ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी उनकी प्रखर राष्ट्रीय चेतना के गवाह हैं। उनकी जिन कहानियों में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की अनुगूँज है उनमें 'अनुभव', 'जेल', 'लाल फीता', 'माँ', 'तावान', 'सत्याग्रह', 'विचित्र होली', 'भाड़े का टट्टू', 'ब्रह्मा का स्वांग', 'सुहाग की साड़ी', 'मैकू', 'एक आँच की कसर', 'नशा' आदि

उल्लेखनीय हैं। स्वातंत्र्य-प्रेमियों या उनके समर्थकों-शुभचिंतकों पर तत्कालीन शासन की निपट क्रूरता का अनुमान लगाने के लिए 'अनुभव' कहानी का प्रारंभिक अंश पढ़ जाना ही काफी है।

'प्रियतम को एक वर्ष की सजा हो गई और अपराध केवल इतना था कि तीन दिन पहले जेठ की तपती दोपहरी में उन्होंने राष्ट्र के कई सेवकों का शर्बत-पान से सत्कार किया था।' इसी प्रकार 'विचित्र होली' में भी अधिशासी वर्ग की सर्व-साधारण के प्रति उपेक्षा और अवमानना देखी जा सकती है, तत्कालीन निरंकमुख दमन-चक्र के दर्शन किए जा सकते हैं। इस दमन-चक्र का विरोध उस समय राष्ट्र-प्रेमी काँग्रेसी झण्डे के नीचे उसकी नीतियों और रचनात्मक कार्यक्रमों के समर्थन द्वारा कर रहे थे। प्रेमचंद की अनेक कहानियाँ इस दृष्टि से उस युग का प्रमाणिक दस्तावेज हैं और उनके द्वारा पराधीन भारत और भारतीय योद्धाओं की अहिंसक क्रांति अपने मूर्तिवत् रूप में आज भी हमारे दृष्टि-पटल के सामने साकार हो जाती है। गाँधी जी ने उन दिनों जो स्वदेशी आंदोलन चलाया उसके परिणामस्वरूप भारतीयों ने विदेशी वस्तुओं को बेचना और खरीदना ही बंद नहीं कर दिया, वरन् विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर उनकी होली भी जला दी। प्रेमचंद की 'तावान' कहानी में छकौड़ी इसिलिए घर-बाहर की फटकार सहता और दण्ड भुगतता है कि वह अपनी पारिवारिक विवशता के कारण विलायती कपड़े पर लगी मुहर तोड़कर दस रुपये का कपड़ा बेच देता है। काँग्रेसी महिला उसे फटकारते हुए कहती है, 'भले आदमी, तुम्हें शर्म नहीं आती कि देश में यह संग्राम छिड़ा हुआ है और तुम विलायती कपड़ा बेच रहे हो, डूब मरना चाहिए। औरतें तक घरों से नकल पड़ी हैं, फिर भी तुम्हें लज्जा नहीं आती! तुम जैसे कायर देश में न होते, तो उसकी यह अधोगति न होती! छकौड़ी की रूग्ण पत्नी भी सील तोड़ने के पक्ष में नहीं। वह देश को, देश की स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानती है और अपने प्राणों की परवाह नहीं करती। उसके माध्यम से प्रेमचंद ने अपनी राष्ट्रीय चेतना को इन शब्दों में मुखरित किया है, 'देश का स्वराज्य मिले, लोग सुखी हों, बला से मैं मर जाऊँगी! हजारों आदमी जेल जा रहे हैं, कितने घर बताह हो गए, तो क्या सबसे ज्यादा प्यारी मेरी ही जान है? छकौड़ी की पत्नी अम्बा के इन शब्दों में प्रेमचंद की आत्मा की आवाज है, मानों प्रेमचंद कह रहे हैं, हम रहें या न रहें पर हमारा देश स्वाधीन हो जाए। प्रेमचंद की जिन अन्य कहानियों में स्वाधीनता संग्राम की झलक मिलती है,

उनमें 'सुहाग की साड़ी' 'तावान' कोटि की कहानी है। इसमें भी विदेशी *वस्त्रों के बहिष्कार और उनकी होली जलाने का जीवंत चित्रण है। विच्य* कहानी का मुख्य पात्र रतन अपनी पत्नी गौरा की विदेशी कपड़े की साड़ी काँग्रेसी स्वयंसेवकों को स्वेच्छा से सहर्ष जलाने के लिए दे देता है और गौरव का अुनभव करता है। 'जेल' कहानी की मृदुला जुलूसों की समर्थिका है। वह कहती है, 'लोक कहते हैं जुलूस निकालने से क्या होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि हम जीवित हैं, हम अटल हैं और मैदान में हटे नहीं है।' 'लाल फीता' कहानी में छात्र-वर्ग स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ना ही उचित समझता है, क्योंकि 'अपने देश से प्रेम करने के लिए उम्र की कैद नहीं है। प्रेमचंद की 'लाल फीता', 'माँ', 'सत्याग्रह' आदि कहानियाँ भी किसी-न-किसी कोण से अप्रत्यक्षत: राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी हैं और उस युग में जन-मानस को आंदोलित करने में प्रेमचंद की इन कहानियों का निश्चित हाथ है।

प्रेमचंद ने कमलेश्वर के शब्दों में, प्रेमचंद ने सांप्रदायिक एकता के अपने सपनों को बड़ी ही मानवीय स्थितियों से जोड़ा है और उन्हे बेहद संवेदना से कहानियों में चित्रित किया है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की दृष्टि से प्रेमचंद ने उस युग में अपनी रचनाओं के माध्यम से जो राष्ट्रीय कार्य किया वह किसी भी राजनीतिक नेता द्वारा इस दिशा में किये गये प्रयत्नों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। सांप्रदायिक ऐक्य की दृष्टि से 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'फातिहा', 'दो कब्रें', 'हिंसा परमो धर्म' आदि विशेषणरूपेण पठनीय हैं। उनकी इन कहानियों में धार्मिक अहिष्णुता का मानवीय धरातल पर जो विरोध है, वह उनकी व्यापक और उदार चेतना का ही ज्वलंत प्रमाण है।

सारत: प्रेमचंद की पहली कहानी-'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', जो अपनी राष्ट्रीय चेतना के विदेशी शासकों द्वारा कारण जब्त हुई, से लेकर उनकी अन्तिम कहानी तक प्राय: सभी कहानियों में किसी-न-किसी कोण से उनके देशानुराग की ही अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुत: प्रेमचंद की सामाजिक चेतना को उनकी राष्ट्रीय चेतना को, उनकी सामाजिक चेतना से अलगाया नहीं जा सकता-ये एक ही सिक्के, देशभक्ति के दो पहलू हैं जो परस्पर अभिन्न और परस्पर अनुस्यूत हैं। 'नमक का दारोगा', 'पूस की रात', 'सवा शेर गेहूँ, 'कफन' आदि भी इसी दृष्टि से राष्ट्रीय और देशभक्तिपूर्ण कहानियाँ ही हैं।

उपर्युक्त पक्षों के अतिरिक्त राष्ट्रीय चेतना के अन्य सभी पक्षों का चित्रण भी प्रेमचंद-साहित्य में सुलभ है। अतीत का गौरव-गान एवं अपने महापुरुषों तथा अपने देश की साहित्यिक कलात्मक उपलब्धियों का स्तवन भी एक सीमा तक प्रेमचंद ने अपने साहित्य में किया है। उनका एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास 'रूठी रानी' तो इस दृष्टि से लिखा ही गया था, 'राणा प्रताप', 'राजा मानसिंह', 'दुर्गादास' के जीवन चरित्र तथा 'राजा हरदोल', 'रानी सान्धा', 'सती' आदि कहानियों में भी यही दृष्टि प्रधान है। जैसा कि डॉ. प्रतापनारायण टंडन ने लिखा है, 'रूठी रानी' में मुंशी प्रेमचंद ने 'भारतवर्ष के परंपरागत आदर्श, शौर्य, राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति आदि गुणों का गान करते हुए बताया है कि इन विशेषताओं के होते हुए भी पारस्परिक ईर्ष्या और विद्वेष के कारण हमारे पूर्वज दासता और विनाश से स्वयं को नहीं बचा सके। इस कृति में प्रेमचंद ने देश की स्वतंत्रता के प्रेमियों का आह्वान करते हुए कहा है कि साहस और शौर्य के साथ एकता और संगठन भी आवश्यक है। वस्तुत: अपने देश के महापुरुषों के प्रति प्रेमचंद के मन में यथेष्ट श्रद्धा थी और यथावसर उनके पुण्य-कार्यों के उल्लेख द्वारा वे भारतीयों के मन में स्वेदशानुराग के भाव जगाना चाहते थे। उपर्युक्त जीवनियों एवं ऐतिहासिक कहानियों के माध्यम से प्रेमचंद ने स्वदेश के महापुरुषों का गौरव-गान कर भारतीयों के मन में न केवल स्वातंत्र्य चेतना उत्पन्न की, वरन् उन्हीं के समान त्याग, बलिदान एवं दृढ़ता की प्रेरणा भी दी।

राष्ट्र के स्थायित्व तथा देशवासियों में ऐक्य के विधान के लिए राष्ट्रभाषा की अनिवार्यता असंदिग्ध है। स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में तो यह और भी आवश्यक हो गया था। उन दिनों गाँधी जी तथा अन्य राष्ट्रीय नेता यह अनुभव कर रहे थे कि अपनी राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ नहीं हो सकती। इसी आवश्यकता की पूर्ति-हेतु हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया और हिंदी सबकी समझ में आ जाए, इस हेतु महात्मा गाँधी ने 'हिंदुस्तानी' का समर्थन किया। भाषा के विषय में भी प्रेमचंद गाँधी के ही अनुयायी हैं। वे अनुभव करते हैं कि 'राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर संपूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। उनका विचार है कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक ऐक्य के लिए 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग ही श्रेयस्कर है, 'जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं, जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे

हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिंदुस्तानी का निमंत्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं है, बल्कि उर्दू और हिंदी का राष्ट्रीय स्वरूप है।' प्रेमचंद ने सैद्धान्तिक धरातल पर ही 'हिंदुस्तानी' का समर्थन नहीं किया, वरन् अपने लेखन में भी उसे मूर्त कर दिखाया। उनकी लोकप्रियता के मूल में उनके इस मौलिक, राष्ट्रनिष्ठ भाषा-प्रयोग का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इस संदर्भ में डॉ. देवराज पथिक के इस मत से अहसमत नहीं हुआ जा सकता- 'आम आदमी पर्याप्त है। भूमि से जुड़ाव के लिए भाषा का जुड़ाव किसी श्रेष्ठ साहित्यकार के लिए पहली शर्त रहती है।' साहित्य मूलत: विचार-विनिमय एवं भाव-संप्रेषण का माध्यम है। जो साहित्य दुरूहता के कारण जन-सामान्य तक नहीं पहुँच पाता, वह व्यापक प्रचार-प्रसार में ही नहीं पिछड़ जाता, वरन् अपनी अर्थवत्ता भी खो बैठता है। प्रेमचंद इस तथ्य से परिचित थे, अत: उन्होंने उस जन-भाषा-'हिंदुस्तानी' का प्रयोग किया जो अपनी सरलता के बावजूद तारल्य एवं भाव-गांभीर्य से भी युक्त है।

प्रेमचंद व्यापक मानवीय संवेदना के कलाकार हैं, अत: उनके हृदय में जनता के प्रति सच्चा प्यार है। वे दलितों-शोषितों के हिमायती, सद्पक्ष के समर्थक, न्याय-प्रिय तथा राष्ट्रीय-शाश्वत मानव-मूल्यों के कथाकार हैं। उनके उपन्यासों-कहानियों में मजदूरों-किसानों, मजबूर स्त्रियों तथा हरिजनों का करुण क्रंदन सुनाई पड़ता है। समाज के कमजोर वर्ग का चित्रण प्रेमचंद ने दूरद्रष्टा के रूप में नहीं किया है। उनके सजीव-मार्मिक-करुण चित्रों को देखकर लगता है कि प्रेमचंद ने स्वयं वही जीवन जिया-भोगा है। उनके साहित्य की इस विशेषता को देखकर बहुत से रचनाकार और आलोचक प्रेमचंद को प्रगतिवादी घोषित कर देते हैं, किंतु उन पर 'वादी' का 'लेबिल' चिपकाना ठीक नहीं। प्रगतिशील होना एक बात है प्रगतिवादी होना दूसरी। रूढ़िबल, गलत, जर्जरित मान्यताओं-परंपराओं को त्यागकर स्वस्थ मानव-मूल्यों की स्थापना का लक्ष्य प्रगतिशीलता के मूल में है और इस बिंदु पर प्रत्येक सही लेखक प्रगतिशील ही होता है। प्रेमचंद भी इसी धरातल पर प्रगतिशील थे। उनका दृष्टिकोण मानवीय और लोकमंगलकारी था तथा उनकी पूरी आस्था भारतभूमि के प्रति थी। उनके साहित्य में वर्ग-संघर्ष का जो रूप मिलता है, वह राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं, वरन् उनकी राष्ट्रीय चेतना का ही एक दूसरा पहलू है। 'हिंदी-साहित्य कोश' में 'राष्ट्रीय साहित्य' के टिप्पणीकार डॉ. प्रेमशंकर भी इस मत के समर्थक हैं। उनके मत में, 'मार्क्सवादी लेखकों की रचनाओं में जो राष्ट्रीय भावनाएँ

मिलती हैं, उनमें वर्ग-संघर्ष की भावना प्रमुख स्थान प्राप्त करती है।' फिर प्रेमचंद तो 'वाद' से बढ़कर 'शील' की सीमा-रेखा का स्पर्श करते दिखाई देते हैं, अत: उन्हें प्रगतिशील विचारोंवाला राष्ट्रवादी कहना अधिक न्याय-संगत प्रतीत होता है।

प्रेमचंद अपने साहित्य और जीवन में एक रूप थे। उनकी कथनी और करनी अभिन्न थी तथा मुखौटा-धर्मिता और आडंबर से उन्हें चिढ़ थी। मरते दम तक उनकी यही साध थी कि भारत स्वतंत्र हो और वे स्वदेश और साहित्य के लिए कुछ-न-कुछ करते रहें। अपने जीवन की आकांक्षाओं के विषय में पूछे जाने पर उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में यही लिखा 'मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं। हाँ यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्येश्य भी स्वराज्य विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। मैं शांति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। स्पष्टत: निरूद्येश्य साहित्य-सर्जन भी प्रेमचंद का लक्ष्य नहीं है। वे साहित्य की रचना 'स्वराज्य विजय' के लिए ही करना चाहते हैं और यही उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा। साहित्य प्रयोजन पर विचार करते हुए अन्यत्र वे लिखते हैं, 'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन सच्चाईयों का प्रकाश हो जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के प्रति प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण केवल युगीन आवश्यकता का ही परिणाम नहीं, उनकी राष्ट्रीय चेतना का भी प्रमाण है।

साहित्य में प्रतिफलित अपनी राष्ट्रीय चेतना का खामियाजा प्रेमचंद ने अपने जीवन में भी भोगा था। उनका कहानी-संग्रह 'सोजे वतन' उनकी राष्ट्रनिष्ठा और देशभक्ति के ही कारण तत्कालीन शासन द्वारा जब्त कर लिया गया था। महात्मा गाँधी की पुकार पर उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी तथा जीवन-भर अभावों से जूझते रहे थे, पर अपने स्वाभिमान और राष्ट्र-निष्ठा की उन्होंने न छोड़ा था। 'हंस' का संपादन-प्रकाशन भी उन्होंने

इसी उद्देश्य से किया था कि वह 'अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए आजादी की जंग में योग' दे सकें।

प्रेमचंद सच्चे राष्ट्रीय चेतना-संपन्न सच्चे देश-भक्त थे। उनसे पूर्व हिंदी कविताओं में राष्ट्रीयता या देशभक्ति की यत्किंचित् अनुगूँज सुनाई पड़ती है, पर हिंदी-कक्षा-साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के सूत्रपात और चरम विकास का श्रेय प्रेमचंद को ही दिया जा सकता है। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों से ही नहीं, उनकी संपादकीय टिप्पणियों तथा अन्य निबंधों-भाषणों से भी उनकी उत्कट देशभक्ति प्रकट होती है। प्रेमचंद का साहित्य भारतीय संस्कृति एवं तत्कालीन स्वतंत्रता-संग्राम का प्रमाणिक दस्तावेज है। प्रेमचंद की अंतिम साध यही थी कि भारत स्वाधीन हो जाए। उनकी यह साध उनके जीवन-काल में पूरी न हो सकी, पर इसके प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त थे। आज यदि हम स्वाधीन भारत में सांस ले रहे हैं, तो इस स्वाधीन-प्राप्ति में प्रेमचंद-साहित्य और उनकी राष्ट्रीय चेतना का भी सुनिश्चित योगदान है और उनके इस ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते।

राष्ट्रीय एकता में संतों एवं सूफियों का योगदान

डॉ. शिववंश पाण्डेय

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही राष्ट्रीय एकता और अखंडता का अभियान जोर पकड़ता जा रहा है। कारण यह कि देश से बाहर निकलते-निकलते अँग्रेज प्रजाति, क्षेत्र आदि संकीर्ण मनोवृत्तियों के नाम पर इतना विषाक्तमय बना दिया कि लगा देश टूट जायेगा और हम आपस में ही लड़-कट मरेंगे। कहीं भाषा के नाम पर आत्मदाह किया जाने लगा तो कहीं पंथ और मजहब के आधार पर पृथक राष्ट्र की माँग की जाने लगी। पृथक प्रजाति (रेस) और पृथक भाषा-परिवार का मुद्दा खड़ाकर राष्ट्र को विखंडित करने का विदेशी षड्यंत्र विकराल रूप धारण करने लगा। ऐसी स्थिति में देश विभाजित हो गया, धर्म के नाम पर अपने ही भाइयों के खून बहाए गए। भाषा-प्रजाति के नाम पर आत्मदाह होने लगा। हम विदेशियों एवं पड़ोसी राष्ट्रों के चक्रजाल में पड़कर अपने राष्ट्र के मान-सम्मान को रौंदने लगे, अपने शत्रुओं को जयचंद-सा न्योतने लगे। ऐसा लगा कि हम शीघ्र सचेत नहीं हुए तो पथभ्रष्ट एवं अविवेकी स्वार्थान्ध लोगों के भ्रमजाल में पड़कर वह राष्ट्र विखंडित हो जाएगा जो युग-युग से राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष करता रहा है तथा राष्ट्र को, मातृभूमि को माता जैसा पूजता रहा है-माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः ।

इस संदर्भ में हमारा ध्यान अपने गौरवमय अतीत की ओर जाता है जब देश के राजनयिक शासक और सामान्य जन ही नहीं, अपितु संत महात्मा तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने के लिए प्रयत्नशील रहे थे। विभिन्न धर्मो, संप्रदायों, पंथों के प्रवर्तक एवं प्रचारक भी राष्ट्रीय एकता को सर्वोपरि महत्व देते रहे थे। वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से अनुप्राणित हमारी संस्कृति में कामना की गई है-

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग्भवेत्।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति धर्म, भाषा, प्रजाति, क्षेत्रीयता आदि की संकुचित मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर एक ऐसे राष्ट्र एवं समाज की कल्पना करती है जिसमें सभी मनुष्य समान हैं और धर्म, भाषा, प्रजाति, क्षेत्रीयता आदि की संकीर्णताएँ नहीं हैं।

राष्ट्रीय एकता की नींव धर्म, भाषा, प्रजाति और क्षेत्रीयता

संबंधी संकीर्ण विचारों के कारण ही कमजोर होती है। हमारे यहाँ के अधिकांश संत महात्माओं ने राष्ट्रीय एकता को दृढ़तर बनाए रखने के लिए *धर्म, भाषा, प्रजाति, क्षेत्रीयता संबंधी क्षुद्र विचारों* को उत्खादित करने का भरपूर प्रयास किया है।

सर्वप्रथम यदि हम धर्म को लेते हैं तो पायेंगे कि भारतीय संतों ने सर्वधर्म समभाव को अपना लक्ष्य मानते हुए ही अपने विचारों, उपदेशों का सर्वत्र प्रचार किया है। भारतीय संतों की दृष्टि से धर्म वह धारणा है जो मानव को अपने साथ दूसरों को भी सम्यक रूप से रहने की दिशा दिखाता है। उससे ही हमें नैतिकता, सदाचार, सद्व्यवहार की शिक्षा मिलती है। धर्म ही हमें अहिंसा, सत्य, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, दान, धर्म, दया और शांति का पाठ पढ़ाता है। धर्म की ये विशेषताएँ प्राय: सभी धर्मो में समान रूप से पायी जाती हैं।

हमारे प्राचीनतम धर्मग्रंथ वेद हैं। वेद में देश की धरती माता के रूप में, आकाश देवता के रूप में वर्णित है- द्यौर्मे पिता जनिता (ऋग्वेद 1/64/33), द्यौर्मे पिता पृथ्वी में माता (काठक संहित 31/15/16)। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त तो आर्यो के राष्ट्रप्रेम का समुज्ज्वल प्रतीक है। अथर्व वेद (काण्ड 12 सूक्त 1) में पृथ्वी का जैसा वर्णन है वह अटूट देशभक्ति का परिचायक है। इस सूक्त के रचयिता (द्रष्टा) ऋषि अथर्वा ने मातृरूपपृथ्वी को समग्र पार्थिव पदार्थो की जननी तथा संपोषिका के रूप में अभिवर्णित किया है- सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पय: । अर्थात् भूमि उसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में जहाँ एक ओर मातृभूमि की सेवा उप सर्प मातरं मातृभूमि (ऋग्वेद 10/8/10), स्वराज्य के लिए सदा यत्न करो यतेमहि स्वराज्ये (ऋग्वेद 5/66/6) की पथ्योक्ति है वहीं यजुर्वेद में राष्ट्र में सावधान होकर नेता बनने की मंत्रणा है-वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता: ' (यजुर्वेद 9/23) अथर्ववेद में तो राष्ट्रीय भाव का सविस्तर उल्लेख हुआ है-

भद्रमिच्छन्त ऋषय: स्वर्विदस्तपोदीक्षामुप निषेदुरग्रे।
त्तो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसनमनतु।।

इस मंत्र में देवलोगों को परामर्श दिया गया है कि वे राष्ट्रभाव, राष्ट्रीय बल और राष्ट्रीय ओज प्राप्त करें और एक होकर इसे नमस्कार करें। एक शब्द संनमन्तु (अर्थात् एक होकर नमस्कार करो) में राष्ट्रीय एकता का प्रत्यक्ष उद्बोधन हुआ है।

राष्ट्रीय भाव में जन्मभूमि या मातृभूमि की यशोगाथा के वर्णन अभिनंदन का विशेष महत्व होता है। मातृभूमि का यशोगान अथर्ववेद में इस प्रकार किया गया है।

'ये ग्रामा यदरण्यं यासंभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामा: समितय: तेषु चारू वदेम ते।।

अर्थ यह हुआ कि ग्रामों, नगरों, वनों, युद्ध-सभाओं, युद्ध-भूमियों तथा समितियों में हमें अपनी मातृभूमि का गान सदैव करते रहना चाहिए।

अथर्ववेद (6/64/3) में राष्ट्रीय जनों को संबोधित करते हुए ऋषियों ने कहा है-

'समान व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनोयथा व: सुसहासति।।'

अर्थात हे राष्ट्रीय जनो! तुम्हारा संकल्प एक हो, तुम्हारा मन एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों जिससे तुम्हारा उसका मेल हो।

वेदों के बाद हमारे धार्मिक जीवन में रामायण, महाभारत और पुराणों का स्थान है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि और महाभारत के रचयिता वेदव्यास क्रांतिदर्शी थे। वे राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता बनाये रखने के प्रबल पक्षधर थे। सांस्कृतिक एकता बनाए रखने में इन दोनों कृतियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हित चिंतक रहे हैं। राष्ट्र एवं राष्ट्रजनों का हित चिंतन उनके अनुसार राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य है। भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी रूप में वे समग्र समाज और राष्ट्र के कल्याण की कामना करते हैं।

महाभारत के यशस्वी कृतिकार ऋषि व्यास की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त और ओजस्विनी है। उनके अनुसार राजा राष्ट्र का केंद्र होता है जो अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त रहता है, वह होता है प्रजा का सार्वभावेन चिंतक तथा मंगलसाधक। भारत कृषि प्रधान राष्ट्र रहा है, अत: व्यास जी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि कार्य नहीं करता उसे राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता-

'न न: स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत कृषिम्'

(उद्योग पर्व-36/31)

साम्य, समानता का भाव राष्ट्रीय एकता का सबल आधार है। इस ओर भी हमारे ऋषि-संतों का व्यावहारिक रूप इस प्रकार प्रकट

हुआ है–

'यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
आधिक याभिमन्यत स स्तेनों दण्डमर्हति।।'

अर्थात् हमारा अपनी कमाई में भी उतने पर ही अधिकार है जितने से हमारा पेट भरता है। उससे अधिक पर अधिकार जमाना चोरी है, इसलिए दंडनीय है।

भारत में इस्लाम के प्रवेश के बाद हिंदू धर्म और इस्लाम धर्म को लेकर भारी विवाद खड़ा हो गया था। इन दोनों धर्मो के वैचारिक संघर्ष राष्ट्रीय एकता को खंडित कर रहे थे। भारतीय संतों ने इस विवाद को मिटाकर राष्ट्र को खंडित होने से बचाने का अथक प्रयास किया है। ऐसे संतों में सूफी संतों का भी उल्लेख्य भूमिका रही है। तेरहवीं शताब्दी में ही हजरत चिश्ती के शिष्य एवं सुविख्यात सूफी संत अमीर खुसरो ने अपने महाकाव्य नूहे सिफर में देश की गौरव महिमा का गान करते हुए हिंदू मुस्लिम एकता के लिए अपनी आवाज बुलंद की थी। भारत को अमीर खुसरो ने बहिश्त का दर्जा दिया है। उन्होंने लिखा है कि आदम और हौवा स्वर्ग से निकलकर सीधे भारतवर्ष में ही उतरे थे। वे भारतवर्ष के सामने तुर्की, रूस, चीन खुरासान, समरकंद, मिश्र, कंधार एवं बसरा को तुच्छ मानते हैं। खुसरो ने यह भी लिखा है कि कोई मुझसे पूछ सकता है कि तू मुसलमान होकर हिंदुस्तान की प्रशंसा क्यों करता है, तो सपाट उत्तर यह होगा कि इसलिए कि हिंदुस्तान हमारी जन्म-भूमि है और पैगम्बर साहब का हुक्म है कि तुम्हारी जन्मभूमि का प्रेम तुम्हारे धर्म-प्रेम में शामिल होगा। अमीर खुसरो ने यह कहकर कि आदमी का जन्मभूमि का प्रेम उसके धर्मप्रेम में शामिल होता है, हिंदुस्तान में जन्में मुसलमानों को बता दिया है कि अपनी जन्मभूमि भारत के प्रति प्रेम रखना नैतिक ही नहीं धार्मिक कर्त्तव्य भी है। एक आदर्श भारतीय मुसलमान के रूप में अमीर खुसरो का नाम भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।

सूफी संत केवल मुसलमान ही थे, ऐसी बात नहीं। बहुत से सूफी संत हिदू भी थे। यह आंदोलन ईरानी तसव्वुफ और भारतीय वेदांत के मेल से पैदा हुआ था। सूफी संत आजाद तबीयत के होते थे। वे न तो सुलतानों से डरते थे और न उलेमाओं के उपदेश से प्रभावित होते थे। सुलतान और उलेमाओं की धार्मिक कट्टरवादिता के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी जिसे सूफी संतों ने अपने

उदारवादी दृष्टिकोण से पाटने की भरपूर कोशिश की। अनेक मुस्लिम संतों के शिष्य हिंदू थे और अनेक सूफी हिंदू संतों के शिष्य मुसलमान थे। धार्मिक एकता पर जोर देकर इन सूफी संतों ने दोनों धर्मो के लोगों को एक मंच पर खड़ा करने का प्रशंसनीय कार्य किया। वे हिंदू और मुसलमान एक ऐसे धर्म का अनुयायी बनाना चाहते थे जो आत्मा और मानवता का धर्म था। सभी सूफी संत धार्मिक आडंबरों के खिलाफ थे। इसलिए हिंदू और मुसलमान दोनों वर्गो के उदारवादी लोगों को इनके उपदेश बहुत पसंद आए और इनलोगों ने इन्हें अपना लिया। फलतः राजनीति के धरातल पर बँटे लोग धार्मिक धरातल पर निकट आते गए। ऐसे सूफी संतों में जायसी, आलम, मंझन, उसमान, कुतुबन, मुल्ला दाउद, ईश्वरदास, गणपति आदि प्रमुख हैं।

अमीर खुसरो के बाद धर्मो के बीच फैली संकीर्णता और अँधता के सबसे बड़े विरोधी संत कबीर थे। कबीर मानते थे कि सभी धर्मो का स्रोत स्थल एक ही है और धर्म के नाम पर लड़ने-झगड़ने वाले राष्ट्र के ही नहीं, मानवता के भी शत्रु हैं। उनका कहना था कि वर्त्तमान रूप में प्रचारित हिंदू और इस्लाम दोनों धर्म अधूरे हैं, क्योंकि वे बाह्याचार और आडंबरों में उलझे हुए हैं। उनके अनुसार अनुष्ठान और आचार धर्म के मूल तत्व नहीं, ढकोसले हैं। असली धर्म वह है, जो हिंदूत्व और इस्लाम दोनों से आगे जाता है-

'सुर, नर, मुनि और औलिया, ये सब बेलें तीर।
अलह राम की गति नहीं, तहं घर किया कबीर।।
हद्द छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।।

कबीर की परंपरा में अनेक संत हुए जिन्होंने सदियों तक कबीर की एकता के नारे को बुलंद रखा। ऐसे संतों में गुरुनानक, रैदास, धन्ना, सुंदरदास, दादू दयाल, गरीबदास रज्जब, मलूकदास, सहजो बाई और धरनीदास, गुरु गोविंद सिंह के नाम आदर के साथ लिए जा सकते हैं। धार्मिक समन्वय के द्वारा पारस्परिक सौहार्द और राष्ट्रीय एकता स्थापन संबंधी उनकी बाणियों के उदाहरण स्थालीपुलाक न्यायवत् प्रस्तुत हैं-

1. 'दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान,
दोनों भाई आँख हैं, हिंदू मुसलमान।'

(दादू दयाल)

2. 'सो जोगी जो जुगुति पछाणै
गुर परसादी एको जाणै
काजी जो से उलटी करै
गुर परसादी जीवतु मरै
सो ब्राह्मण जो ब्रह्म बीचारै
आपि तरै सगले कुल तारै
दानसबंदु सोइदिलि धोवै
मुसलमाणु सोई मलु खोवै
पड़िया बूझै सो परवाणु
जिसु सिरिदगह का नीसाणु।'

(गुरु नानक)

3. 'नाव लागि नर निस्तरहि, हिंदू मुसलमान
उभै दौर एकै कही, रज्जब वेद कुरान।'

(संत रज्जबजी)

4. 'ऐसा अविगत राम है कादिर आप करीम
मेरा मालिक मेहरबां रमताराम रहीम।'

(गरीबदास)

5. 'कुंजर चीटी, पशु, नर सबमें साहब एक
काटे गला खोदाम का, कहे सूरमा लेख।'

(मलूकदास)

6. 'सब कोउ साहब बन्दते, हिंदू मुसलमान
साहब तनको बंदता, जिसका ठौर इमान।'

(मलूकदास)

7. 'सीखो सबे संस्कृत और पढ़ो सो वेद पुरान
अर्थ करो द्वादश के, पर आप न होये पहचान।'

(प्राणनाथ)

8. 'जहं आदि न अंत न मद्ध है रे, जहं अलख निरंजन है भेला
जहं वेद कितेब न भेद है रे, नहिं हिंदू तुरुक न गुरु चेला।'

(बुल्ला साहब)

9. 'नहिं था राम रहिम का, मैं गतिहीन अजान
दरियासुध बुध ज्ञान दे, सतगुर किया सुजान।'

(दरिया साहब मारवाड़ वाले)

10. 'क्रिया कर्म मर्म उरफेरे ये माया के झटके
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाही राम रहीमा फटके।'
(चरण दास)

11. 'खुदी को मार खुदा को याद कर, खुदी ने सबै संसार मारा
पिण्ड और ब्रह्मांड में आप ही रम रहा, हिंदू और तुर्क में भ्रम मारा।'
(पानपदास)

12. 'हमारा एक अलह पिय प्यारा है
घट घट नूर मुहम्मद साहब, जा का सकल पसारा है
बेनमून बेचून अकेला, हिंदू तुरूक से न्यारा है
सोइ दखेस निज पायो सोई मुसलम सारा है।'
(यारी साहब)

हिंदू और इस्लाम धर्म के बीच धर्म के नाम पर आपसी संघर्ष के कारण राष्ट्र में जो विखंडन की प्रवृत्ति बढ़ रही थी उसे इन संतों के प्रयास से हम क्रमशः शमित होते देखते हैं।

बाद में चलकर गोस्वामी तुलसीदास और रहीम भी राष्ट्रीय एकता के संतों के प्रयास में महत्वपूर्ण योगदान करते दिखाई देते हैं। मागि के खैबो मसीह में साइबो कहकर वे हिंदू मुस्लिम भेद की संकीर्णता को मिटाने का ही प्रयास करते हैं।

तुलसी रचित और हिंदुओं के परम प्रिय ग्रंथ रामचरितमानस की प्रशंसा में रहीम द्वारा व्यक्त विचार भी सिद्ध करते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास धर्म की संकीर्णताओं को मिटाकर राष्ट्रीय एकता की नींव मजबूत करना चाहते थे-

'रामचरितमानस विमल, संतन जीवन प्रान।
हिंदु आन को वेदसम, तुरकहिं प्रगट कुरान।।

अँग्रेजी शासनकाल में अँग्रेजों की फूट डालो नीति के कारण राष्ट्रीयता की लहर मंद तो अवश्य पड़ी पर संत महात्मा भीतर-भीतर ही राष्ट्र का अलख जगाते रहे। वैदिक धर्म के कट्टर, पृष्ठपोषक स्वामी दयानंद सरस्वती ने राष्ट्रीय एकता को कायम रखने के उद्देश्य से अपने द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज में ईसाई मुसलमान, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन सभी धर्म के लोगों को आमंत्रित किया था। हिंदू-मुस्लिम एकता का जोरदार आंदोलन महात्मा गाँधी ने आरंभ किया। उनका सुविचारित मत था कि बिना

इन दोनों धर्मो में एकता स्थापित किए राष्ट्रीय अखंडता की रक्षा नहीं हो सकती। 1920 ई. में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सर्वधर्म समन्वय का नारा लगा और दोनों धर्मो के संत, फकीर, हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान के बदल बोलने लगे-

'हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई
आपस में हैं भाई-भाई।'

महात्मा गाँधी ने तो अपनी प्रार्थना में 'अल्ला ईश्वर एको नाम, सबको सन्मति दे भगवान' को ही सर्वत्र प्रमुखता दी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी सर्वधर्म समभाव का समर्थन करते हुए कहा कि सभी धर्म एक हैं, विभिन्न रूपों में प्रचारित धर्मो को पृथक-पृथक रूप मात्र ढकोसले हैं अत: धर्मो को छोड़कर केवल धर्म को पकड़े रहना चाहिए।

भाषा -

भारत जैसे बहुभाषी देश विश्व में कम ही हैं। भाषा से उत्पन्न दूरत्व के कारण देश के विभिन्न भाषा भाषियों के बीच क्रमश: पार्थक्य का भाव उत्पन्न हो जाता है जो शनै: शनै: ईर्ष्या, द्वेष और आक्रोश में बदल जाता है। बहुभाषाभाषी देशों में भाषा संबंधी मतभेदों को दूर करने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जो संपूर्ण देश को एकता के भावात्मक सूत्र में बाँध सके। इस प्रकार की भाषा के निर्माण में व्यावसायियों, धर्मापदेशकों, तीर्थयात्रियों, पंडा-पुजारियों, साधु-संतों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इस भाषा का विकास प्रथमत: तो एक खिचड़ी भाषा के रूप में होता है जो कालक्रम से परिष्कृत रूप धारण कर लेती है। यह भाषा प्राय: सभी भाषाभाषियों द्वारा समझी और बोली जाने लायक बन जाती है जिसके द्वारा संपूर्ण देश के लोग एक-दूसरे से बँधे दिखाई देते हैं जो राष्ट्रीय एकता के बँधन को दृढ़ता प्रदान करती है।

भारतीय संत-महात्माओं एवं सूफी संतों ने अपनी वाणियों, उपदेशों, व्यवहारों में अत्यंत उदारतापूर्वक विभिन्न भाषाओं से शब्द ग्रहण कर एक ऐसी भाषा का व्यवहार किया जिससे संपूर्ण देश में भाषा संबंधी एकता स्थापित हो सकी। भाषा के नाम पर राष्ट्र को बाँटने का प्रयास करने वाले स्वार्थी तत्वों को राष्ट्रीय एकता को खंडित करने के प्रयास में इनके समन्वयात्मक प्रयासों के कारण सफलता नहीं मिली।

भारतीय संतों, सूफी साधकों की भाषा पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि जहाँ संत कबीर, दादू, रज्जब आदि संतों की बानी हिंदी, पंजाबी, मराठी, बंगला, तमिल, तेलुगु आदि सभी भारती भाषाओं के शब्दों

से सजी संवरी है, वहीं गुरु नानक देव, गुरु गोविंद सिंह आदि सिख गुरुओं के भजनों में भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के शब्द नगवत जड़े हुए हैं। इसी प्रकार सूफी संतों की रचनाओं में हिंदी, उर्दू, फारसी, अरबी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का एक ओर शृंगार है तो दूसरी ओर नामदेव, ज्ञानेश्वर और तुकाराम सदृश ज्ञानमार्गियों के वचनामृतों में विभिन्न भारतीय भाषाओं के शब्दों का सुधावर्षण हुआ है। सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में कहा जाता है कि संतों की भाषा प्रारंभ से ही एक व्यापक भाषा थी, इसलिए विचारों के आदान-प्रदान के लिए अहिंदी भाषी प्रदेशों में भ्रमण करते समय लोग इसी भाषा का प्रयोग करते थे।

कहने का आशय यह है कि संत-महात्माओं की भाषा जनसामान्य की ऐसी भाषा रही है जिसमें प्रांतीय भाषाओं के शब्दों के साथ हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हैं। बानगी स्वरूप कतिपय संतों की रचनाएँ निदर्शनार्थ निवेदित हैं-

1. 'तू पाक परमानंदे
   पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मै गरबी क्या गंदे
   तुम दरिया सबही दिल भीतरि, परमानंद पियारे
   कंहे कबीर में बंदा तेरा खालिक पनह तुम्हारी।'
   (कबीर)
2. 'अब कैसे छूटै राम नाम रट लागी
   प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी
   प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सोहागा
   प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।'
   (रैदास)
3. 'लालजी भगत भीख न माँगिये, माँगत आये शरम
   घर-घर टांडत दुख है, क्या बादशाह क्या हरम।'
   (संत लालदास)
4. 'असत मिलइ अंतर पडइ पाख भगति रस जाइ
   साध मिलई सुख उपजई, आनंद अंग नबाई।'
   (दादूदयाल)
5. 'कहत मलूक जो बिन सिर खैव सो यह रूप बखानै
   या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जानै।'
   (मलूकदास)

6. 'धूत कहौं अवधूत कहौं, रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ
काहू की बेटी से बेटा ना ब्याहब, काहू की जाति बिगाड़ न सोऊ।'
'तुलसी सरनाम, गुलाम हैं। राम को, जो की रुचै सो कहै करो कोऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबों, लेबे के एंक न देबे के दोऊ।'

(तुलसीदास)

7. 'तू मत बरजै माई री, साधो दरसन जाती
राम नाम हिरदै बसै, महिले मदमाती।'

(मीरा बाई)

8. 'देखि गदर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान
छिनहि बादसा-वंश की, ठसक छोरि रसखान।'

(रसखान)

9. 'सीय रही मुरझाई सबै मन, राम कहा मन बात धरेंगे
तीर सरासनि शंकर जो जिम मोहि वद्योतिम अहर बरेंगे।'

(गुरु गोविंद सिंह)

उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि संत कवियों ने कभी भी भाषा संबंधी रूढ़िवादिता को प्रश्रय नहीं दिया। उनकी रचनाओं में संस्कृत, हिंदी, उर्दू, फारसी, अरबी के शब्दों के साथ क्षेत्रीय भाषाओं एवं लोकभाषाओं के शब्द भी निर्बाध रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार सूफी संतों की रचनाओं में भी भाषा संबंधी ऐसी ही उदारता के दर्शन होते हैं। कुछ नमूने प्रस्तुत हैं-

1. 'न चितउर, मन राजा कीन्हा
हि सिंघल बुधि पर्वमनी चीन्हा
गुरु सुआ जेई पंथ देखावा
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।'

(जायसी)

2. 'आदि हुता विधि माथे लिखा
अच्छर चारि पढै हम लिखा
देखत जगत चला सब जाई
एक वचन पै अमर रहाई।'

(उसमान)

3. 'कथा जो एक गुपुत महं रहा
सो परगट उधारि मैं कहा

हंस जवाहिर विधि औतारा
निर्मल रूप सो दई संवारा।'

(शेख नबी)

4. 'रूकमिनि पुनि वैसहि मरि गई
कुलवंती सत सों सति भई
बाहर वह भीतर वह होई
घर बाहर को रहै न जोई।'

(कुतबन)

5. 'आगमपुर इन्द्रावती, कुँवर कलिंजर राय
प्रेम हुते दो उन्ह कहं, दीन्हा अलख मिलाय।'

(नूर मुहम्मद)

6. 'उज्जल वरन अधीन तन, एक चित दो ध्यान
देखन में तो साधु है, निपट पाप की खान।'

(अमीर खुसरो)

क्षेत्रीयता एवं प्रजाति-

प्रजाति की भावना का होना राष्ट्रीय एकता में बाधक है। आज राजनीति का सारा जोर हिंदू-मुस्लिम एकता पर है, किंतु प्रजाति के आधार पर फैली भावना भी राष्ट्रीय एकता को कमजोर कर रही है। प्रजाति से तात्पर्य यह है कि कौन समुदाय किस स्थान का मूल निवासी है और उसकी मूलजाति क्या है? प्रजाति अँग्रेजी शब्द रेस का द्योतक है।

भारत में पहले प्रजाति के सिद्धांत की चर्चा नहीं थी। प्रजाति के अर्थ में आर्य शब्द का प्रयोग पहले पहल 1853 में मैक्समूलर ने किया। प्रजाति के सिद्धांत को लेकर हमारे देश में आर्य और द्रविड़ का प्रश्न उठा। आर्य और द्रविड़ भारत की जनसंख्या को विभक्त करने वाले यूरोपीय विद्वान थे। उन्हीं का अनुकरण कर भारतीय विद्वान भी इसे दुहराने लगे। आर्य विदेशी थे और द्रविड़ों को पराजित कर यहाँ अपना उन्होंने वर्चस्व जमाया था, दोनों की भाषाएँ दो परिवार आर्यभाषा परिवार और आर्येत्तर भाषा परिवार की हैं, आदि बेबुनियादी प्रश्न उठाकर कतिपय निहित स्वार्थवाले लोग देश को विभाजित करने का षड्यंत्र रचने लगे। फलत: दक्षिण में एक आंदोलन पैदा हो गया जो उत्तर का विरोध करता है।

जहाँ तक आर्यभाषा परिवार की बात संस्कृत को लेकर की जाती है तो यह ध्यातव्य है कि संस्कृत केवल उत्तर की ही नहीं, दक्षिण

की भी भाषा रही है। इस भाषा के माध्यम से दक्षिण का चिंतन आज के समान पहले भी उत्तर पहुँच जाता था और दक्षिण के विद्वानों के विचार से उत्तर के विद्वान प्रेरित हो उठते थे। ऐसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का प्रतिफल है कि शारीरिक भाष्य शंकराचार्य द्वारा केरल में लिखा गया परंतु उस पर टीका लिखी वाचस्पति मिश्र ने मिथिला में। भवभूति यद्यपि जन्में बरार में थे, किंतु ज्ञानार्जन कुमारिल भट्ट के चरणों में बैठकर किया था। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी दक्षिण का योगदान उत्तर की अपेक्षा अधिक ही रहा है। शंकराचार्य से लेकर रामानुजाचार्य, निम्बार्क तक दक्षिण की ही देन है। प्राचीन काल में धर्म की लहर यदि उत्तर से उठकर दक्षिण पहुँची तो मध्य काल में धर्म की लहर दक्षिण से उत्तर में फैली।

धर्म, भाषा आदि की भांति प्रजाति संबंधी संकीर्ण विचारों का भी भारतीय संतों ने सदा विरोध किया है। सूफी संत अमीर खुसरो ने भारत को पृथ्वी का स्वर्ग माना है और भारत क सामने बसरा, तुर्की, रूस, चीन, खुरासान, समरकंद, मिश्र, गंधार आदि को तुच्छ बताया है। वे उत्तर और दक्षिण आर्य और अनार्य की बात नहीं मानते। स्वामी विवेकानंद ने अपने मद्रास के भाषण में कहा था- प्रजाति के सिद्धांत के चक्कर में पड़े तो तुम लोग लड़कर मर जाओगे। उन्होंने कहा था किरेस थ्योरी में विश्वास मत करो। दो अलग भाषाएँ होने के कारण दो अलग प्रजातियाँ नहीं बनती हैं क्योंकि एक ही जाति में अनेक भाषाएँ चल सकती हैं और एक भाषा बोलने वाले अनेक जातियों के हो सकते हैं। सन् 1926 ई. में गाँधी जी ने लिखा था- जो संस्कृति दूसरी संस्कृति से परहेज करती है वह जीवित नहीं रहेगी। शुद्ध आर्य संस्कृति नाम की कोई चीज भारतवर्ष में नहीं है। आर्य मूलत: भारत के निवासी थे अथवा हमलावर के रूप में बाहर से आये। इस विषय में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरी दिलचस्पी तो केवल इस बात से है कि हमारे पूर्वज, बहुत प्राचीन काल से ही, परस्पर मिलकर एक हो गये थे। हम उसी एकता की संतान हैं। स्पष्ट है कि धर्म, भाषा, प्रजाति के आधार पर राष्ट्रीय एकता को खंडित करने का प्रयास भारतीय संस्कृति की आत्मा का हनन है जिसका विरोध कर भारतीय संतों ने राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में अमूल्य योगदान किया है।

नामक्कल रामलिंगम पिल्लै की कविता में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता

डॉ. जयलक्ष्मी सुब्रह्मण्यन

भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के काल में तत्कालीन समाज की आशाओं-आकांक्षाओं को अभिव्यंजित करते हुए, समर सन्नद्ध जनता को अपनी सशक्त वाणी द्वारा प्रेरित करने वाले राष्ट्रकवि सभी भारतीय भाषाओं में हुए हैं। इस युगबोध को स्वीकार कर गरिमामय प्राचीन युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों से प्रेरणा और शक्ति ग्रहण करके तमिल में रामलिंगम पिल्लै, जो अपने जन्मस्थान नामक्कल इलाके के उपनाम से नाक्कल कविज्ञर के नाम से अभिहित हैं, राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने में कटिबद्ध थे।

साहित्यिक वातावरण :

तमिल काव्य में भारतीय युग में ही सशक्त रूप में प्रारंभित और विकसित राष्ट्रीय चेतना स्वतंत्रता आंदोलन के युग में एक ओर गाँधीवादी आदर्शों को स्वीकृत कर युगबोध को काव्यरूप देने लगी तो दूसरी ओर सामाजिक चेतना के प्राधान्य से सुधारवादी भावना एवं कभी-कभी क्रांति की भी अभिलाषा में प्रगति भावना को स्थान देने लगी। इनमें गाँधीजी के आदर्शों को काव्यरूप देते हुए नामक्कल काव्य-साधना करते रहे जिनकी राष्ट्रीयता में भारतीय सांस्कृतिक चेतना की अंतर्धारा स्पष्ट है।

देश के प्राकृतिक वैभव पर गर्व :

जिस मातृभूमि के शत्-शत् भव्यचित्र बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ के द्वारा निखर उठे और जिसके बारे में हिंदी में श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि और तमिल में भारती जैसे कवि स्वयं मुग्ध हुए और दूसरों के मन में मातृभूमि-प्रेम को जागृत करने में सफल हुए उसके प्राकृतिक वैभव ने नामक्कल कवि को भी आकृष्ट किया। पिरार्त्तनै (प्रार्थना-गीत) काव्य-संग्रह की अनेक कविताओं से स्पष्ट होता है कि नामक्कल कवि के लिए भारत भू वैभव, प्राकृतिक समृद्धि एवं जनसमृद्धि से समन्वित है। भारत माँ का स्तवन कविता में इन्होंने कहा है कि हमारा मातृदेश जड़ प्रतीक नहीं, बल्कि सजीव और मूतिमत्त है। अत: ये अपने देशीय जीवन के सक्रिय पक्ष की ओर अधिक आकृष्ट हुए। फलत: देशभक्ति का रागात्मक स्वरूप उभरने लगा। इन्होंने एक ओर देश की मानवनिर्मित प्राचीन संस्कृति की गरिमा दिखायी तो दूसरी ओर राष्ट्रीय

आंदोलन की क्रियाशीलता पर ध्यान दिया।

सांस्कृतिक वैभव :

मानक्कल कवि को अपने इस महामहिम देश की ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति पर बड़ा गर्व है। वे प्रसन्नता के साथ गाते हैं कि

'ज्ञान का उदय इसी देश में हुआ
प्रज्ञा-बोध भी जाना पहले इसी ने
श्रेष्ठ मुमुक्ष जन भी रहे इस देश में।'
(ज्ञानमुदित्तदु मिन्नाडे अरूल
मोनमरिन्द मुदल् नाडे वेगु
मुत्तरिरून्ददु मिन्नाडे)

'मलर्न्द पूक्कल (खिले हुए पुष्प) काव्य संग्रह की एक कविता में (देश को भूले हो मन)- देशत्तै सरन्दनै मनम

कहते हैं कि वेद-वेदांतों के द्वारा सर्वप्रथम आत्मशक्ति और अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने में भारत विश्ववंद्य रहा है। पिरार्त्तनै की देशोकुम्भी कविता में तमिल की सांस्कृतिक महिमा पर बल देते हैं कि तमिल भाषा और संस्कृति का भी इस ज्ञान परंपरा के विकास में योग रहा है 'तमिल भाषी का हृदय' इस भाव की अभिव्यक्ति में रचित एक सुंदर कविता है जो तमिलनाडु में आज भी बड़े गर्व के साथ प्रत्येक व्यक्ति से गाया जाता है।

'तमिल भाषी एक अलग जाति है
पृथक उसका विशेष गुण भी है
अमृत ही उसका पंथा है
स्नेह ही उसकी भाषा है।'
तमिलन एन्ड्रोर इनमुण्डु
तनिये अवर्कोर गुणमुण्डु
अमिलदम् अवनुडै वलियागुम
अनबे अवनुडै मोलियागुम

भारतीय संस्कृति और तमिल संस्कृति में तात्विक दृष्टि से भिन्नता न होने पर भी तमिल भाषा की अति प्राचीनता के कारण तमिल संस्कृति को विशेष महिमा से युक्त माना जाता है। इस दृष्टि से भी लोगों में आत्मबल को प्रबल करके आशा का संचार करना कवियों का लक्ष्य रहा है। तमिल संस्कृति के तत्वों को मानवीय उत्कृष्ट आदर्श मानकर प्रत्येक

व्यक्ति को इस मार्ग में चलने एवं युग-परिवेश में राष्ट्र मंत्र पढ़कर राष्ट्रीयता को सुदृढ़ करना ही अभीसिप्त ध्येय है।

नामक्कल कवि की कविता में तमिल संस्कृति के तत्व :

तत्वज्ञान, आत्मज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान, व्यापक स्नेहभाव, त्याग, ममता, सात्विकता, सौम्यविचार, सरसता और समन्वय, सहनशीलता, जाति मतभेद रहित ज्ञान इन गुण-विशेषताओं को मलर्न्द पूक्कल की अनेक कविताओं में आलोच्य कवि ने तमिल संस्कृति के रूप में वाणी दी है जो वस्तुत: भारतीय संस्कृति की ही निधियाँ हैं। इनके शब्दों में विशिष्ट रूप से सत्य और अहिंसा की श्रेष्ठता सर्वोपरि है।

हिंसा न करना, झूठ न कहना इन दोनों में सभी सद्नीतियों को प्रतिष्ठित देखकर मनसा वाचा कर्मणा सज्जन इन तत्वों को पूजते आए हैं। गाँधीजी इन्हीं को अपना अस्त्र-शस्त्र मानकर स्वतंत्रता संग्राम के कर्णधार बने और मानवीय मूल्यों की स्थापना में सहायक होकर राजनीतिक समय को विश्व बन्ध रूप देकर भारत का गौरव बढ़ाया। ज्ञानसागर का मंथन करके प्राप्त तिरूक्कुरल चरम काव्यानंद प्रदान करने वाला 'कंवरामायण', पातिव्रत धर्म की महिला 'चिलप्पधिकारम्', तमिल सभ्यता के अनन्य ग्रंथ चिंतामणि, मणिमेखलै, पत्तुप्पाटटु इत्यादि का उल्लेख करके कवि ने इनमें तमिल संस्कृति की विशेषताओं का गुण गाया है। तमिल-भाषियों के विशेष गुण के रूप में दान, मानव, समत्व, साहस, धैर्य, आत्माभिमान, सभ्यता, भाषा प्रेम, समरसता आदि महान् आदर्शो को राष्ट्रीय जागरण एवं रौकय के लिए अनिवार्य बताया गया है। तमिल भाषा प्रेम और तमिल जाति की विशेष प्रशंसा कवि ने की है तो वह उसके वैयक्तिक महत्व पर बल देने के लिए की है, न कि भारतीयता से उसका स्वतंत्र अस्तित्व निरूपित करने के लिए। इस बात में वे अन्य कई कवियों से भिन्न हैं जिन्होंने तत्कालीन राजनीतिक विचारों के प्रभाव में आकर भारतीयता से पृथक् तमिल संस्कृति की कल्पना की है। यह ध्यान देने और गौर करने की बात है।

नामक्कल कवि पर तिरूवल्लुवर का प्रभाव -

तमिल साहित्य के विविध कालखंडों में प्रेम, वीरता, त्याग, स्नेह, धैर्य, समता, भ्रातृत्व आदि मानवीय गुणों की जो भी व्याख्या मिलती है उन सबके दो हजार वर्षों पूर्व ही तिरूवल्लुवर ने अपने काव्य में वाणी दी है। अत: उस महान कवि का प्रभाव परवर्ती सभी कवियों पर पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रेरणास्रोत का सत्यज्ञान सनातन काल से हमारे

देश में प्रचलित होने के कारण हमारे कवि ने इसकी अपार ज्ञान निधि को अपनी सांस्कृतिक महिमा बतायी है।

'अमृतमयी कहकर अति प्रसन्नता से
बुध विद्वान इसका करत है प्रशंसा
ज्ञान-बोध प्राप्त भाषा वही है
ऐसी ख्याति है प्राप्त इसे जग भर में
तमिल भाषा को अमर बनाने वाली
महत्ता प्रदान करता भी यही'

'तिरूक्कुरल का गौरव' यही है और छात्रावस्था से ही नामक्कल ने इस ग्रंथ के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की है। आलोचना और अनुसंधान बुद्धि के कारण सन् 1932 में वेलूर के कारावास में इन्होंने कुरल के प्रसिद्ध टीकाकार परिमेललगर की चंद व्याख्याओं को और भी सरल रूप में स्पष्ट करने का निश्चय कर लिया था और उसी का परिणाम है 'तिरूक्कुरल: नयी व्याख्या' (तिरूक्कुल पुदु उरै), तिरूवल्लुवर और परिमेललगर (तिरूवल्लुवरूम परिमेललगरूम), तिरूवल्लुवर स्तंभित होंगे (तिरूवल्लुवर तिडुक्किडुवार) आदि गद्यग्रंथों का प्रणयन। कवि के मन में गाँधीय सिद्धांतों के प्रति अपार श्रद्धा के परिणामस्वरूप भी इस ग्रंथ के प्रति विशेष श्रद्धा स्वाभाविक है। इन्होंने अपनी आत्मकथा में कहा है कि 'गाँधीय विचारों में तथा गाँधीजी के प्रत्येक क्रियाकलाप में तिरूवल्लुवर के बताए आदर्शो का जीवित नमूना दिखता था।' मुक्तकंठ से गाँधीजी प्रदत्त शांति मार्ग की प्रशस्ति में कहा है कि तिरूक्कुरल का सारा ज्ञान एक साथ समविष्ट नीति के रूप में गाँधीजी में अवतरित हुआ है जिससे हमें और साथ ही समस्त विश्व को एक शांति मार्ग मिला है। स्पष्ट है कि गाँधीय विचारों को वाणी देकर भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को रूपायित करने में भी यही ग्रंथ प्रेरक तत्व रहा है।

भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के वाहक :

मानवीय महान मूल्यों को आत्मसात करती हुई भारतीय राष्ट्रीयता ने महात्मा गाँधी जी के नेतृत्व में जो अद्वितीय रूप संवारा, वह विश्व के इतिहास में अनुपम है। स्वतंत्रता संग्राम की क्रियाशीलता को वाणी देने में एवं राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए आदर्श संजोने में गाँधीजी का महान व्यक्तित्व एवं उनके सिद्धांत तद्युगीन कवियों के लिए प्रेरणादायक रहे। उनके नेतृत्व में राष्ट्र प्रादेशिकता, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता आदि से ऊपर

उठकर संपूर्ण भारत की एक इकाई बन गया था।

डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में 'यह राजनीतिक चेतना साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना से भी आगे बढ़ गयी थी। गाँधीवादी कवि नामक्कल कवि की राष्ट्रीयता ने युगनेता के सैद्धांतिक और व्यावहारिक सभी तत्वों को पूर्णत: आत्मसात कर लिया था और इसलिए नामक्कल रामलिंगम पिल्लै तमिल के श्रेष्ठ गाँधीवादी कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। इनके शब्दों में गाँधीजी इस देश के ज्ञानमार्ग की शक्ति है, महान तपोबल हैं और वेदों की साधना का मूर्तिमान रूप हैं। उनके आदर्शो को ग्रहण करके इन्होंने सत्य और अहिंसा, आत्मशक्ति और त्याग, सत्याग्रह और भ्रातृप्रेम के माध्यम से सात्विक संग्राम की प्रेरणा दी है। 'शंखनाद' (शंगोलि), 'सत्यमूति हमारे गाँधी' ('सत्तियामूत्ति नम् गाँधी'), 'अद्‌भुत गाँधी' ('अरपुदन गाँधी'), 'किसने साधा' ('रोवर् सादित्तार'), 'गाँधीवाद ही संसार की रक्षा करेगा' ('गाँधीयमे उलगैक् काक्कुम'), 'गाँधी का मार्ग' ('गाँधियिन् वलि') सजज्ञ अनेक कविताएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं। इनके शब्दों में अहिंसा की परिभाषा देखें-

'हिंसा किसी की न करना मात्र अहिंसा कदापि न हो सकती
सब कार्यो में सत् उद्येश्य को समन्वित करना अहिंसा का लक्ष्य है।'

('कोल्लादिरूप्पदु ओन्ड्रेदान्/ कूरुम् अहिंसै रोन्ड्रल्ल/ रोल्लाच्चेयलिलुम नन्नोक्कम्/ इणैन्ददु अहिंसै तन्नाक्कम्।') भावुक कवि ने सत्य-अहिंसा के अण-शण को ही स्वतंत्रता संग्राम का सशक्त बल स्वीकार किया है।

'शण के बिना, रक्त के बिना
युद्ध एक आ रहा है
सत्य की नित्यता पर विश्वास कर
आ मिलें सब एक साथ। '

('कत्तियिन्ड्रि रत्तमिन्ड्रि/ युद्धमोन्डु वरुगुदु/ सत्तियत्रिन् नित्तियत्तै/ नम्बुम यारुम् चेरुवीर्।')

यही वह 'पथगीत' है जो महाकवि सुब्रह्मण्य भारती के 'डर नहीं डर नहीं' ('अच्चमिल्लै, अच्चमिल्लै') की शैली में प्रणीत गीत है जो वीरव्रतियों को उकसाने में भारती की गति से भी अधिक सशक्त था और इससे कवि का गौरव अधिक बढ़ गया। यह नमक-सत्याग्रह के समय तमिलनाडु का प्रयाण गीत बना। सत्याग्रह की नवीनक्रांति का रूपायित करने वाला तारकमंत्र बन गया था। कवि क्रांति शब्द को नया अर्थ प्रदान करता

है–

'चाहिए क्रांति, चाहिए क्रांति
चाहिए अवश्य हाँ क्रांति
चाहिए क्रांति शब्द के भाव अर्थ में
चाहिए अवश्य क्रांति।'

(पुरट्चि वेण्डुम वेण्डुम/ पुरट्चि वेण्डुमडा/ पुरट्चि रोनुम चाल्लिन् पोरूलिलां पुरट्चि वेण्डुमडा)

सत्य-प्रथा का सात्विक मार्ग अब क्रांति की साधना बन गया और भारतीय राष्ट्रीयता अपनी इसी सांस्कृतिक महिमा का संदेश देते हुए विश्व के लिए एक प्रशस्त सात्विक एवं अहिंसा का मार्गदर्शन देते हुए पूर्णत: निखर उठी। स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण और स्वर्णिम भविष्य के लिए भी गाँधीजी के सभी कार्यक्रमों का ग्रहण नामक्कल कवि की एक उल्लेखनीय विशेषता है। मुख्यत: राष्ट्र निर्माण एवं समाज सुधार के लिए 'खादी' को स्वदेशप्रेम, आर्थिक उन्नति, भ्रातृत्व, सहकारिता, अहिंसा का प्रतीक एवं चारित्रिक शुद्धि का संदेशवाहक मानकर उन्होंने गाया है–

'पाप घटेगा, कहकर चर्खा चले-अब
भय छिपेगा, कहकर चर्खा चले
कोप धुलेगा, कहकर चर्खा चले
सत्वणुण बढ़ जाएँगे, कहकर चर्खा चले।'
(रावण् कुरैयुमेन्डु आडु राट्टे-इनि
भयड्गल् मरैयमेन्डु आडु राट्टै नल्ल
कोबम् कुरैयुर्मन्डु आडु राट्टे।)

गाँधीजी के सभी रचनात्मक कार्यो को कवि ने कविता का विषय बनाया। गाँधीय विचारों एवं कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार में समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि से इन्हें अधिक ख्याति प्राप्त हुई। ये प्रथम राजकवि के रूप में तमिलनाडु में विख्यात रहे। श्री पे. तूरन के शब्दों में 'नामक्कल कवि गाँधीजी के सिद्धांतों को मधुर कविता में अभिव्यक्त करने वाले तमिल् शंख हैं।' डॉ. मु. वरदराजन के शब्दों में 'इनकी रचनाओं में संस्कृति की भव्य शांति को देख सकते हैं जो गाँधीय विचारों के अनुकूल हैं।'

सत्य और अहिंसा के पुजारी नामककल कवि : सत्य राष्ट्रीयता के विविध आयाम

और अहिंसा के जो महान् तत्व गाँधीजी के महान् व्यक्तित्व एवं जीवन दर्शन के अभिन्न अंग थे और जो भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के रथ के पहिया थे, गाँधीवादी कवि नामक्कल जी के व्यक्तित्व के भी अभिन्न अंग बन गए। 'अद्भूत गाँधी', 'सत्यमूर्ति हमारे गाँधी', 'विश्व के स्तुत्य गाँधी', 'सत्यशील गाँधी' आदि अनेक कविताओं में स्पष्टत: विश्लेषित है कि विश्वभर के लिए अत्यंत उपयोगी इन तत्वों को अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट करने के कारण ही गाँधीजी महात्मा हो गए।

'चित्त को मंदिर बनाकर
सत्य को ईश्वर बनाकर
असत्य को निंदनीय बनाकर
करुणा का हृदय उसने देखा।'

('मनत्तैक् कोपिलाक्कि/ सात्तियत्तैक् कडवुलाक्कि/ पोय्मैयै कडिन्डु/ करुणै इदयम अवन् कण्डान्')

गाँधी जी की कथनी-करनी की एकरूपता व्यक्ति के लिए अभिलाषित मार्ग हो तो विश्व भर में शांति की स्थापना होगी।

नामक्कल कवि की प्रासंगिकता : वैष्णवधर्म का सार और कुरल् का जीवित प्रतिमान गाँधी जी के राष्ट्रीय आदर्श हैं जो किसी भी युग में किसी भी राष्ट्र के लिए मार्गदर्शन दे सकते हैं। आतंकवाद को समूल नष्ट करने में, वैयक्तिक और सामूहिक पाप-विचारों को उखाड़ने में सत्य-अहिंसा का अद्वितीय मंत्र समर्थ है और इसीलिए गाँधीवादी कवि नामक्कल रामलिंगम पिल्लै की कविताएँ प्रासंगिक होकर और भी महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान युग परिवेश में विश्वशांति के लिए गाँधीजी-प्रदत्त मार्ग ही एकमात्र साधन है। इसकी अपरिमित शक्ति के लिए इतिहास साक्षी है।

महाकवि सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं में राष्ट्रीयता

वी. चित्रा

ऐसे कवि विरले ही होंगे जिनके पास दिव्यदृष्टि हो और आने वाले कल का सजीव चित्र अपनी कविताओं में प्रस्तुत करता हो। महाकवि सुब्रह्मण्य भारती ऐसे ही कवियों में से एक हैं। उनके समय में स्वतंत्रता के लिए लड़ाई हो रही थी और कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि हमें स्वतंत्रता प्राप्त हो जायेगी। लेकिन वे लिखते हैं- 'आडुवोमे पल्लु पाडुवो में आनन्द सुतनदिरम अडैन्दुविट्टोम रान्ड्रू' अर्थात नाचेंगे, गाएंगे क्योंकि हमें स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है। उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी है और इसी कारण आम लोगों को स्वतंत्रता संग्राम में कूदने को प्रेरित करने के लिए इतना उपयोग किया जाता था।

उनकी कविताएँ युवाओं को राष्ट्र-निर्माण के रचनात्मक काम करने की प्रेरणा देती थीं और आज भी देती हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी निम्नलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है।(1) सालैगल सेयवोम, कलवी सालैगल सेयवाम (सड़क बनाएँगे, पाठशालाएँ खोलेंगे)

किसी भी कवि पर युगीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। भारती जी के साथ ही ऐसा ही हुआ। उनका युग स्वाधीनता संग्राम का युग था इसलिए उनमें राष्ट्रीय भावना उभरी हुई थी। साथ ही उनको चिदंबरनाट और सुब्रमण्य शिवा जैसे मित्र भी मिले। यह आग में घी डालने का काम बन गया।

भारती जी राष्ट्रीय एकता पर जोर देते थे। इस पर उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं- अन्नियर वन्दु पुगल रान्न नीति? नम्मिल सन्डै सेयतालुम सहोदरर अन्ड्रो अर्थात यहाँ हजारों जातियाँ हैं लेकिन इसमें विदेशियों का बीच में आना कहाँ का न्याय है? आपस में झगड़ने पर ही हम सहोदर ही हैं।

उनके समय में नारियाँ घर से बाहर पाँव नहीं रखती थीं। ऐसे माहौल में जब वे एक बार स्वामी विवेकानंद जी की शिष्य सिस्टर निवेदिता से मिले तो वह उनकी पत्नी के बारे में पूछने लगी। भारती जी ने बताया कि वे अपनी पत्नी को कहीं बाहर नहीं ले जाते। सिस्टर निवेदिता आश्चर्यचकित हुई और पूछने लगी कि जब जनसंख्या में आधे से अधिक महिलाएँ है तो उनके सहयोग के बिना पूर्ण स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकती

है? भारती जी इस बातचीत से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महिलाओं में सोई हुई राष्ट्रीयता को जगाने-हेतु अपनी पत्रिका 'स्वदेश मित्रन' में जोश भरो लेख लिख डाले। इन लेखों का प्रभाव इतना था कि गृहणियाँ भी स्वतंत्रता आंदोलन में कूदने को तत्पर हो उठीं। उन्होंने महाभारत का सहारा लेकर नारी-जागरण पर 'पांचाली शपथम' लिख डाला।

भारती जी अपनी एक कविता में कहते हैं कि 'गंगै नदिपुरत्तु गोदुमै पंऽम कावेरी वेट्रिलैककु मारुकोलवोम सिंग मराट्टियर तम कवितै कोडु चेरत्तु दंतगल परिसलिप्पोम अर्थात् गंगा नदी के तट पर उगने वाली गेहूँ को कावेरी नदी के तट के पास उगने वाली पान से बदल लें। मराठियों की कविताओं के लिए चेर प्रदेश हाथी दाँत भेंट दें। इस तरह हम देखते हैं कि भारती जी का विचार यह था कि देश के संसाधनों का सभी देशवासी समान रूप से उपयोग करें जिससे राष्ट्रीयता की भावना बढ़े।

भारती जी की कविताएँ और अन्य रचनाएँ कई नौजवान और युवतियों के प्रेरणास्रोत हैं और इससे समाज के नव निर्माण करने की भावना मजबूत होती है।

अध्याय : दो
साहित्य और राष्ट्रीयता

प्राचीन साहित्य में राष्ट्रीयता

डॉ. राज नारायण राय

वयं राष्ट्रं जागृयामः पुरोहिताः (यजुर्वेद : अ. 9/23)
माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या। (सामवेद : कांड 12)

उपरिनिर्दिष्ट स्तुतिमूलक कंठस्वर है क्रांतिदर्शी ऋषियों का जिसके आलोक में भारतीय मानस प्राचीनकाल से ही अपनी मातृभूमि अर्थात राष्ट्र के संरक्षण-संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहा है। वैदित संहिता वह उत्तंग पर्वतीय उद्‌गम स्वर है जिससे राष्ट्रीयता की शाश्वत निर्मल सलिला प्रवाहित होती रही है। बहुभाषी, बहुवर्णी और बहुधर्मी भारत को राष्ट्रीयता की जो विस्तृत धारा है वह विश्व बंधुत्व के सागर में अंततः अंतर्लीन हो जाती है। राष्ट्रीयता की भावना संसार को ही एक कुटुंब देखने का पक्षधर है और सभी मानव को अपना देशवासी।

'राष्ट्र' शब्द रा-दोन अथवा राज-दीप्तो धातु से ष्ट्रन प्रत्यय लगने से व्युत्पन्न हुआ है। अँग्रेजी राष्ट्रवाची शब्द 'नेशन' शब्द के मूल में लैटिन धातु नेशिओ (Natio) है जिसका अर्थ होता है जन्म अथवा प्रजाति। नेशन शब्द अतः नस्त अथवा कौम का संकेतक है।

इस वैदिक शब्द के अनेक निर्दिष्ट अर्थ हैं- राज्य, देश, मुल्क, जाति, ईति आदि। शब्दमर्मी रामचन्द्र वर्मा के अनुसार 'किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक से रीति-रिवाज तथा एक-सी विचारधारा होती है।' किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह के अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द आता है। (द्र. रामचन्द्र वर्मा : मानक हिंदी कोश विद्वद्वर डॉ. फतेह सिंह के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है- रातियों का संगम स्थल। 'राति' शब्द देन का पर्यायवाची है। राष्ट्रभूमि और राष्ट्रजन भी यह संयुक्त इकाई राष्ट्र इसलिए कही जाती है कि यहाँ राष्ट्र जन अपनी-अपनी 'रीति' अर्थात् देन राष्ट्रभूमि के चरणों में अर्पित करते हैं। (द्र. ले. डॉ. भुवनेश्वर गुरुमैता, भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय अस्मिता) श्रीकीय रामायण में 'राष्ट्र' शब्द आया है उस देश या क्षेत्र के

लिए जो दशरथ या भरत द्वारा अधिकृत और शासित होता था। राम पूछते हैं : 'कैसी कुमार! तुम्हारे राज्य की प्रजा कठोर दंड से अत्यंत उद्विग्न होकर तुम्हारे मंत्रियों का तिरस्कार तो नहीं करती?

कच्चिन्नोग्रेण दंडेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः
राष्ट्रे तवावजानन्ति मंत्रिणः कैकयीसुत

-अयोध्याकाण्ड : सर्ग 100 : श्लो. 27

इस संदर्भ में निम्नोद्धृत श्लोक भी अनुशलनीय है :

कच्चित् ते मंत्रितो मंत्रो राष्ट्रं न परिधावति।

-उपरिवत् : श्लो. 18

महाभारत के खिल भाग 'हरिवंश पुराण' के प्रणेता 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग शासित क्षेत्र अर्थात राज्य के लिए करते हैं- राष्ट्रस्यच्छसिचेत स्वस्तिः निशभ्यवेद सुदुर्जयम्। (हरिवंश) पर्व : अध्याय 20, श्लोक सं. 53

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'राष्ट्र' शब्द अनुपस्थित नहीं है। इस ग्रंथ का अनुशीलन यह स्पष्ट करता है कि राजकोष के लिए आयस्रोत-साधन थे वे सब राष्ट्र कहे जाते थे। समाहर्ता दुर्ण राष्ट्रं खनिं सेतु वनं ब्रजं वणिक्पथ चावेक्षेत (प्रकरण सीता भागो बलिः करो वणिक नदी पाल स्तरो नावः पट्टन विवीरतं वर्तनी रज्जूच्चोररूज्जूश्च राष्ट्रम् (अधिकरण 3 : प्रकरण 22 अध्याय 6/3) समाहर्त्ता का कर्त्तव्य है कि दुर्ग सेतु वन आदि के साथ भाँति 'राष्ट्र' के कार्यो का निरीक्षण करता रहे। ज्ञात होता है कि 'राष्ट्र' वस्तुतः कर स्रोत था जिसके दस भेद थे-वस्तुतः ये कर के प्रकार थे।

राष्ट्र शुक्रनीति (रचना काल ईसा की अष्टम शती) के राष्ट्रकरण में बोधक है- स्थावर और जड्गम अर्थात् वृक्षसपर्वत आदि तथा मनुष्य, पशु आदि का। वस्तुतः राज्य का पर्याय है जिसमें ग्राम, पल्ली, कुंभ आदि बस्तियाँ होती हैं। यह ग्रंथ राजधर्म का प्रतिपादक है, अतः न भारत-प्रशस्ति-गान है, न पर्वतों और नदियों की स्तुति ही।

श्री किशोरी दास वाजपेयी का अभिमत है कि 'संस्कृति ही किसी जाति को दूसरी जाति से पृथक करती है और संस्कृति ही राष्ट्र बनाती है। सुसंस्कृत और सुशासित देश को राष्ट्र कहते हैं। एक देश या राष्ट्र की जनता एक 'जाति' है और उस जाति का जो स्वरूप है जातीयता, उसी कौ 'राष्ट्रीयता' कहते हैं। राष्ट्रीयता ही किसी राष्ट्र का जीवन है जो संस्कृति का नामांतर भर है। (द्र. 'कल्याण' के 'हिंदू संस्कृति अंक' का 'हिंदू

संस्कृति और राष्ट्रीयता' शीर्षक निबंध)

यह ध्यातव्य है कि 'राष्ट्रीयता' की भावना की उत्कटता-प्रखरता में 'राष्ट्र' का बीज निहित होता है। 'राष्ट्रीयता' के अभाव में राष्ट्र का अस्तित्व अकल्पनीय है। राष्ट्र के घटक तत्व हैं- राष्ट्रीयता की प्रबल भावना, भूभाग और राजनीतिक स्वतंत्रता। इन घटक तत्वों के संयोग से राष्ट्र निर्मित होता है। हमारी राष्ट्रीय चेतना में इनका सहयोग रहा है।

प्रतीत होता है कि जन्मदायी माता के प्रति संतति के अंतर्मन में नैसर्गिक अनुराक्ति-असिक्ति सर्वप्रथम पैदा हुई तत्पश्चात् यायावरी जीवन (Nomadic Life) के परित्याग के बाद चरवाहा-जीवन (Pastoral Life) अपनाने पर व्यक्तियों में मातृभूमि के प्रति प्रेम। कृषि जीवन की स्थिरता से भूमि-भक्ति या प्रेम जागृत हुआ। अथर्ववेद में प्राप्त भूमि स्यूक्त को इस कथन के प्रमाण रूप में देखा जा सकता है। राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई परवर्तीकाल में। अत: यह मानना अनुचित नहीं कि राष्ट्रीय चेतना की बीज-भूमि प्रेम में है। यदि किसी में अपनी भूमि, जिसका विकसित रूप देश है, के प्रति आसक्ति नहीं है तो उसमें अपने राष्ट्र के प्रति रागात्मक संबंध कैसा होगा, यह सहज ही अनुमेय है।

अध्येय विषय है राष्ट्रीयता जिसका संबंध भारत से है इसलिए इसका निर्वचन आवश्यक प्रतीत होता है। 'भारत' में 'भा' आभा, सौंदर्य, प्रकाश, क्रांति, ज्ञान आदि अर्थो का द्योतक है और 'रत' सूचक है तल्लीनता प्रसन्नता और अनुरक्ति का। इस प्रकार अर्थ हुआ- वह वर्ष या देश जहाँ के निवासी ज्ञान प्रकाश के अन्वेषण प्रचार-प्रसार में अनुरक्त हों। ब्रह्म पुराण के अनुसार सुतो जज्ञे दुष्यन्त महात्मन: शकुंतलायां। भरतो यस्य नाम्ना तु भारत: (13/57) भागवत पुराण इस संदर्भ में आदि पुरुष, मनु के प्रपौत्र 'भरत' का स्मरण करता है। (स्कंध 11/15/17)। पं. आधा प्रसादत्त ठाकुर नामकरण का हेतु किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं देखते, बल्कि इस अत्युर्वर देश में जो अपार अन्न-धन है उसी से उसकी संतान का भरण-पोषण मानते हैं :-

'अन्नैर्ध नैर्य तोऽयं देशस्त्वेषां परेषां च।
उदरं भरति ततोऽयं देशो भारत इति प्रथित:।।'

-(द्र. वेदों में भारतीय संस्कृति : पृ. 245)

और आर्यावर्त? आर्यो का आवर्त अर्थात देश है इसलिए यह शस्य श्यामल भूमि क्षेत्र आर्यावर्त है। अमरकोश के अनुसार विन्ध्याचल-

और हिमालय पर्वतों के मध्य का क्षेत्र आर्यावर्त है- आर्यावर्तः पुण्य भूमिर्मध्यं विन्हरा हिमालयोः (द्वितीय कांड भूमि वर्ग : 8)। मनुस्मृति के साक्ष्य पर यह ज्ञात होता है कि पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से विध्यांचल के बीच में जो देश है वही आर्यावर्त है :-

'आ समुद्रात् वै पूर्वादास मुद्रात्तु पश्चिमात्
तयोरेवान्तरं गिर्योरावर्त विदुर्बुधाः।'

यह स्मृतव्य है कि विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में भारतवासियों के लिए भारत जन का प्रयोग मिलता है- विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतजनम्। (मण्डल 3 सू. 53 मं. 12) वैसे वैदिक युग में 'भरत' नाम की एक जाति थी जो शौर्यवीर्य में प्राव्यात थी। इसलिए संभावना है कि भारत नामकरण का आधार रहा हो- वह पराक्रमी जाति जो अग्नि के उपासक थे।

जर्मन भाषा में 'वेद का साहित्य और इतिहास' लिखने वाले रूडोल्फ रोथ ने 'राष्ट्र' के छह अर्थ निर्दिष्ट किए हैं जिनके हिंदी में अर्थ डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के अनुसार है- राज्य क्षेत्र या आधिपत्य, प्रदेश या क्षेत्र, भूमि, जनता या लोग और जनता। (द्र. वैदिक राजनीतिशास्त्र)

वैदिक संहिताओं में राज्य के चार तत्व संकेतित हैं। वे हैं- ब्रह्म, क्षत्र, दिश और राष्ट्र। कासांतर में ब्रह्म और राष्ट्र क्रमशः धर्म और पूषा कहे गए। धर्म बोधक है प्रभु का, क्षत्र राजा का, तिश राज्य की जनता का और राष्ट्र भूभाग का, 'राष्ट्र' शब्द मंत्र द्रष्टाओं का प्रिय शब्द है इसलिए वैदिक साहित्य के विंशाधिक मंत्रों में राष्ट्र और संयुक्त शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद्- इन तीनों में राष्ट्र अधिक चिंतनीय विषय रहा है, सामवेद की अपेक्षा।

वेदत्रयी में प्रथम गण्य है ऋग्वेद जो अन्य से प्राचीनतम है। इसमें तदयुगी प्रतिष्ठित देवताओं की मनोहर स्तुति है। कहते हैं, महाराष्ट्र में ऋग्वेद को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली है। इस वेद के अनेक मंत्र अथर्व और साम-दोनों वेदों में संकलित हैं। 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग अनेक मंत्रों में हुआ है (द्र. ऋग्वेदः दशम मण्डल में 173 मूक्त में मंत्र 1,2,5, 174 सूक्त में मंत्र 1,5) राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में राष्ट्र और जनपद-एकार्थक हैं और आर्य बस्तियों का विभाजन था ग्राम दिश और राष्ट्र के रूप में। भले ही भौगोलिक दृष्टि से वैदिक काल का राष्ट्र आज के एक जनपद के समान हो तथापि देवताओं और दाताओं को प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली स्तुतियों

में राष्ट्रीयता के वैशिष्ट्य तो हैं ही। इस संदर्भ में कुछ मंत्र उद्धृत हैं :

समान मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त मे साम।

-मण्डल 10, सूक्त 191 : मंच 2

अर्थात् विचार में, समिति में, सभा में, मन और चित्त एक साथ हो और समान उद्देश्यवाला हो।

'संगच्छध्वं सवंदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यधापूर्वे सज्जनानां उपासते।।'

-ऋग्वेद, मण्डल 10 सू. 191 मं. 2

अर्थात्- संग संग चलो, संग में बोलो, तुम्हारे मन एक हों जैसे देवता पहले से करते आ रहे हैं, उसी प्रकार भाग करो।'

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।

-ऋग्वेद, मण्डल 10 सू. मं. 2

अर्थात्- 'तुम लोगों के समस्त संकल्प समान हों, समस्त हृदय एक हों और अंतकरण समतुल्य हों, जिससे एकत्व का संचार हो।

यजुर्वेद वेदत्रयी में द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यजुः का तात्पर्य है- गद्यात्मक मंत्र- गद्यात्मक यजुः। कहा जाता है कि मध्यप्रदेश में इसी वेद को महत्व दिया जाता है और बग्डाल में समावेद को। मंत्र द्रष्टा कवि केवल आत्म कल्याण के लिए नहीं अपितु राष्ट्र के सुत्र-समृद्धि, उन्नयन-उल्कर्प के लिए अनेक मंत्रों में स्तुति करता है। राष्ट्रीय अवधारणा को व्यंजित करने वाला एक प्रख्यात मंत्र यहाँ द्रष्टव्य है-

ऊँ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो, ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योति, व्याधिमहरथौ जायताम्
दोगघ्री धेनु वोंढ़ान इवानाशुसप्तिः पुरधिर्योषा जिष्णु
रथेष्टा सभेयो पुवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो नः औषधि या पच्यंताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम्।

यजुर्वेद : अध्याय 22 : मंत्र 22ध

उपरिनिर्दष्ट मंत्र का भावार्थ है : 'हे ब्रह्मण्। हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वी उत्पन्न हों : धनुर्विधा में कुशल शूरवीर हो, दुष्टों का दलन या अति वेधन करने में समर्थ वृषभ तथा द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हों, दूध देने वाली गौएँ भारवहन करने में समर्थ वृषभ तथा द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हों,

सर्वगुण संपन्न महिलाएँ हों, रथयानों से संपन्न, सभ्य युवक और वीर पुत्र उत्पन्न हों, इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें, राष्ट्र में अन्न से परिपूरित सस्य उत्पन्न हो और हमारे राष्ट्र में सदैव योग क्षेत्र बना रहे।'

यजुर्वेद यंजन करने का वेद है इसलिए आध्वर्च्यव के नाम से भी प्रख्यात है तथापि यह समस्त राष्ट्रनिवासियों के सुखोत्कर्ष की कामना करता है। जातीय एकता सुदृढ़ करने के लिए यह आवश्यक है कि सभी में पूर्ण मैत्री भाव हो- राग-द्वेष की भावना से सर्वथा मुक्त। ऋषि की प्रार्थना है-

मित्रस्याज्एँ चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

-यजुर्वेद : अ. 36 : मंत्र 18

अर्थात मैं मित्र दृष्टि से सब प्राणियों का सम्यक् देखूँ। हमलोग परस्पर मित्र दृष्टि से देखें। यह मंत्र राष्ट्रीय ऐक्य भावना के निर्माण मे ही नहीं, अपितु विश्व बन्धुत्व के सृजनात्मक चिंतन में भी सहायक है।

वेदत्रयी में परिवाण्य न माना जाना वाला वेद अथर्व है जिसका, अनुशीलन ऐहिक फल प्रदान करता है। इसके अनेक अभिधानों में प्रमुख हैं- ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद आदि जिनके मंत्र द्रष्टा हैं अथर्वण और आंगिरस ऋषि। इनके मंत्रों में पृथिवी-महिमा के साथ राष्ट्र के प्रति मंत्र द्रष्टाओं के हृदयोद्गार व्यक्त हैं जो राष्ट्रीयता के अध्येताओं के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त या भूमि सूक्त में मंत्रद्रष्टाओं की जैसी रागात्मिक अनुभूति भूति या राष्ट्र के प्रति अभिव्यक्ति मिलती है वैसी अन्य वैदिक संहिताओं में नहीं दृष्टिगोचर होती।

माताभूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या: (12/1/12)

अर्थात् हमारी भूमि माता है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ।

राष्ट्रशक्ति पैदा करने वाला ऐसा मंत्र या स्वर आदि है, ऐसा मानना अनुचित नहीं। अथर्वा ऋषि की स्तुति है कि पृथ्वी! हमारी उत्तम मातृभूमि या उत्तम राष्ट्र में तेज और बल बढ़ाने-सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधात्रूत्त में (अथर्व. 12/1/8)। यह पृथ्वी सूक्त या भूमि सूक्त है। दूसरे शब्दों में, मातृभूमि सूक्त है जिसे निर्विवादत: इस वैदिक गीत को राष्ट्रीय गीत का उच्चासन प्राप्त है। इस बहूच्चरित सूक्त में कुल तिरसठ मंत्रों का संग्रह है जो आज भी भारतीयों के लिए हृदयंगम करने योग्य है

क्योंकि यह राष्ट्रीय भावना को न केवल जाग्रत करने वाला है, बल्कि उत्कर्षक भी है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का यह कथन कि 'पृथिवी सूक्त भारत-भूमि की विशालता और उसके नानाविध वस्तुओं का विराट् गौरवान्वयन है' नितांत समीचीन है (द्र. वैदिक राजनीतिशास्त्र)

विश्व पुराणों में भागवत शीर्षस्थ है। यह पुराण उपजीत्य है विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित सुविशाल सरत कृष्ण साहित्य का। भगवत के प्रणेता व्यास भारतवर्ष में कृष्णवाद के प्रतिष्ठापक थे। उनकी राष्ट्रीय चेतना एकता और अखण्डता से समन्वित थी। भागवतकार व्यास भारत के प्राकृतिक भौगोलिक सौंदर्य का मोहक वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवता भी मुक्त कंठ से उन मनुष्यों की महिमा का गान करते हैं जिनका जन्म इस पुण्य वर्ष में हुआ है। (द्र. भागवत : 5/9/21) वे तो यहाँ जन्म लेना सौभाग्य मानते हैं। भागवत प्रणेता की दृष्टि में भारत में प्रवाहित होने वाली अगपित सदा नीरा महानद्-नदियाँ भारतवासियों को पवित्र करती हैं। (द्र. भागवत : 5/9/17) भारतवर्ष को कर्मक्षेत्र बनाते हुए वे कहते हैं कि यहाँ कम आयु वाला होकर भी जन्म लेना उत्तम है- क्षणायुषां भारत भूभयो वरम् (द्र. भागवत : 5/19/23) भारतवर्ष की परिचय अग्नि पुराण का एक सौ अठारहवाँ अध्याय भी देता है। इस पौराणिक ग्रंथ के अनुसार भारत नामक जो वर्ष है वह समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित है और इसका विस्तार नौ हजार योजन है। जो व्यक्ति स्वर्ग और अपवर्ग की कामना करता है उसके लिए यह कर्मभूमि है। भारत सुशोभित है- महेंद्र मलय, सह्य शुक्तिमान, हिमालय, विन्ध्य और परियात्र - इन सात कुल पर्वतों से। अग्निपुराणकार का कथन है कि नर्मदा आदि नदियाँ आत्मजा है विन्ध्याचल की और तापी, गोदावरी, भीमरथी कृष्णवेणा आदि हैं सह्याद्रि पर्वत की। भारतवर्ष का वर्णन ब्रह्मण्ड पुराण के अनुषङ्गपाद में भी दृष्टिगोचर होता है।

मत्स्य पुराणकार की दृष्टि में भारत कुमार-द्वीप है-जायामस्तु कुमारिका तो गंगाया:। यह सुरम्य द्वीप फैला हुआ है- कन्याकुमारी से गंगोत्री तक।

भारतवर्ष का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करने में पद्यपुराण कार पीछे नहीं है। इन्होंने 'स्वर्णण्ड' में नदियों की नामावली दी है उसके साथ भारत के उत्तर और दक्षिण में स्थिर जनपदों का वर्णन किया है। इन दिनों उत्तर भारत में तीन ऐसे जनपद थे जिनके अभिधाव में राष्ट्र शब्द से जुड़े

थे। वे थे गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र और सुराष्ट्र। इस पुराण के अनुशीलन से पता चलता है कि उत्तर भारत में फैले यन न और काम्बोज बर्बर और क्रूर थे। वैष्णन पुराणों में परिगण्य गरुड़ में 'वर्षवर्णन : कुल पर्वत कीर्त्तनच्त्र' शीर्षक अध्याय है (द्र. 55वाँ) जिसमें कुल 18 श्लोक हैं। यह अध्याय राष्ट्रीयता के शोधकर्ताओं के लिए पठनीय है। यद्यपि इसमें वर्णन में न वरर्णीर्णता है, न ही अभिनवता।

वस्तुतः पूर्व वर्णन की आवृत्ति है। पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद निर्मित इस पुराण में उल्लिखित हैं- चतुर्वर्ण, अनेक पर्वत, द्वीप, जनपद, नदियाँ आदि भावात्मक एकता की दृष्टि से भौगोलिक वर्णन अनुपेक्षणीय है क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय चेतना को अप्रत्यक्षतः उससे बल मिलता है।

विदेशी विद्वानों का मानना है कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, बल्कि अनेक राष्ट्रों का समूह हैं मगर यह भ्रम है, क्योंकि राज्य और राष्ट्र में अंतर है, राज्य एक राजनैतिक समुदाय को कहा जाता है जबकि 'राष्ट्र' अभिधान मनुष्यों के उस वृहत् समुदाय को व्यक्त करता है जिसकी सांस्कृतिक, मनोवृत्यात्मक और राजनैतिक दृष्टि से समानता हो और भूभाग-वासी एक ही मातृभूमि के होने का अनुभव करते हों। एक राष्ट्र में अनेक राज्य हो सकते है। हमारा देश अनेक राज्यों का समूह है।

यह सच है कि हमारा राष्ट्र भाव-बोध अतीत से लेकर आज तक एक-सा नहीं रहा हैं, परंतु प्राचीन भारतीय साहित्य में राष्ट्रीयता की अत्यंत उदात्त कल्पना मिलती है। वे सारे तत्व स्पष्टतया प्रस्तुत हैं जिनसे राष्ट्रीयता की चेतना प्रस्फुटित, संवर्धित और सुविकसित होती है। छायावाद के प्रख्यात कवि श्री सुमित्रानंदन पंत का यह कथन कि 'भारतीय काव्य साहित्य में राष्ट्र-भावना को ऊर्ध्व, गहन एवं व्यापक मूल्य प्रदान करने का अविराम सृजनशील प्रयत्न चल रहा है।' (द्र 'कला और संस्कृति' में 'कविता में राष्ट्रभावना' शीर्षक निंबध)

एक विदेशी लेखक सर जॉन स्ट्रेची ने सिपाही-विद्रोह के लगभग एक वर्ष पूर्व अपनी धारणा व्यक्त की थी की भारत न कभी एक था न कभी रहा है।

'This is the first and most essential thing to know learn about India. That there is not and never was an India.'

-J. Strachery : India (London 1888)

यह कथन लेखक की साम्राज्यवादी दृष्टि का परिचायक है। अतः भ्रामक एवं कटु है। क्योंकि इसे न तो भारतीय वैदिक-लौकिक *संस्कृत साहित्य और संस्कृति का सम्यक् परिज्ञान था न उसमें थी* सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति।

भारतीय साहित्य में राष्ट्र-प्रेम का जितना आकर्षक वर्णन दृष्टिगोचर होता है उतना विश्व के अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं। हम भारतवासियों के लिए यह भूमि अर्थात् अपनी जन्मभूमि स्वर्ग से भी उत्तम अर्थात श्रेष्ठतर है-

अपनी भूमि के प्रति जो उत्कट प्रेमभावना है वही समस्त देशवासियों को एकसूत्र में बाँधती है। राष्ट्रीयता व्यक्ति का समष्टि या लोक के कल्याण के लिए महान संकल्प है। पर जब यह भावना-अत्यंत उग्र का प्रचंड रूप धारण करता है तब राष्ट्रवाद, उग्र राष्ट्रीयता (Chauvinism) और साम्राज्यवाद (Imperialism) में परिणत होने लगता है। ऐसी स्थिति में विश्वबन्धुत्व या वैश्विक शांति का महावट वृक्ष घायल होता है। पाश्चात्य देशों में उपजा राष्ट्रवाद संकीर्णता का शिकार हो चुका है जिसके विध्वंसक परिणाम से हम भारतीय अवगत हैं। पर भारतीय मनीषा की आस्था है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में उसकी कामना रही है- समस्त विश्व को एक नीड़ के रूप में देखने की, जिसमें सभी पृथ्वीवासी भौतिक, दैहिक और दैविक तापों से मुक्त हो जीवन-यापन करें।

'यत्रविश्वंभवत्येक नीडम' (यजु : अध्याय 32/8)

समसामयिक हिंदी और तेलुगु कविता

डॉ. मूर्ति वाई.एस.एस.एन.

भारत में आजादी के पश्चात् देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में महान परिवर्तन आया। जनता की दृष्टि बदल गयी। उनकी आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ बढ़ गयीं। जीवन-मूल्य बदल गये। देश के नव निर्माण में जनता लग गयी। प्रजातंत्र आ गया। परंतु, जनता में असंतोष फैल रहा है। बेकारी बढ़ने लगी। भ्रष्टाचार एवं हिंसा की सीमा नहीं रही। अराजकता का राज्य चल रहा है।

जन मानस को प्रतिबिंबित करना ही साहित्य का प्रधान लक्षण है। यह लक्षण पूर्ण रूप से हिंदी एवं तेलुगु कविता में दिखाई पड़ता है। समसामयिक चेतना के बल पर ही हिंदी और तेलुगु की समसामयिक कविता का विकास होता रहा विशेष रूप से हिंदी और तेलुगु कविता की मूल प्रेरणा समाज ही है।

आज के कवि के सामने एक प्रधान समस्या है- 'आज के वैज्ञानिक, तकनीकी और औद्योगिक युग में मनुष्य की आत्मोपलब्धि एक ऐसा प्रश्न है जिसके समाधान से उसके संघर्षरत जीवन की अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। जहाँ जीवन के आदर्श बदल रहे हों, व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों में परिवर्तन हो रहे हों, वहाँ एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है जो सामाजिक शक्तियों के विकास में मानवता को दृष्टि पथ में रखे और मनुष्य को अंदर से टूटने न दे। आज के कवि को भूले-भटके मध्यम वर्ग को उचित मार्ग पर ला खड़ा करना है और सच्चे मानव संबंधों को स्थापित करना है। दूसरे शब्दों में जीव की वास्तविक समस्याओं के प्रति प्रतिबद्ध होने ओर उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना है। कविता के प्रभाव से आज के युग में मनुष्य यह सोचे कि अभी कुछ बिगड़ा नहीं है और मानवात्मा संघर्षरत होते हुए भी निर्वाण प्राप्त कर सकती है।

आजकल के हिंदी कवि के मन में सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के प्रति पीड़ा और आक्रोश है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति द्वारा वह समस्त संसार की पीड़ा और क्षोभ को अपनी संवेदना में समा लेना चाहता है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'गीत फरोश' में विशाल मानवात्मा को समेट लेने का प्रयास किया गया हे।

अपनी मानसिक विफलता और विखरते हुए मूल्यों और

मर्यादाओं और निर्जीव पड़े हुए पुराने मानदंडों के बीच वह स्वयं नया मार्ग ढूँढ़ता हुआ, दूसरों को इसी मार्ग पर चलने के लिए आह्वान करता है। अपने बौनेपन में भी अपने को संतुष्ट रखना चाहता है, भले ही अपने टूटे मन की उदासी उसे घेरे रहती हो। इस संदर्भ में भारत भूषण अग्रवाल यों कहते हैं-

आजीवन
बौने बने रहने की नियति को
वरदान मानकर सिर माथे लेना
कितनी महानता है
मुझे छोड़ इसका मर्म कौन जानेगा?

भवानी प्रसाद मिश्र जी जीवन को संघर्ष मानते हैं और संघर्ष करने पर जोर देते हैं-

कि टूटना, बिखरना
कुछ नहीं है
जीवन संघर्ष है
लड़ो

क्योंकि नयी पीढ़ी का जन्म जिसमें हुआ है, वहाँ अंधकार ही अंधकार है, जहाँ से सूर्य का प्रकाश दूर है जहाँ संघर्ष ही संघर्ष है।

आज का कवि पलायनवादी नहीं। उसमें जीवन के प्रति आस्था और विश्वास के अंकुर भी अंकुरित होते रहते हैं। केदारनाथ सिंह का कथन है-

कल उगूँगा मैं
आज तो कुछ भी नहीं हूँ
नए नन्हा बीज में
अज्ञान नवयुग का
समूचा विश्वा होना चाहता हूँ...

आज के कवि अपने स्वर में करोड़ों कंठों को सुनने की आकांक्षा से प्रेरित होता है। आज के संतप्त जीवन में अपनी चेतना बचाकर चल नहीं पा रहा अपने अस्तित्व के साथ साथ उसे अपने दायित्व का बोध है। इस संदर्भ में लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं-

'जब मैंने पुस्तक खोली
मुझसे इतिहास पुरुष ने कहा

किसे ढूँढ़ते हो? मुझे? या अपने आप को!
मैंने कहा केवल अस्तित्व को....'

कुँवर नारायण का कहना है-

'बल्कि अस्तित्व को दूसरे अर्थों में प्रकाशित करता हूँ।' सामयिक हिंदी कविता में सार्वदेशिकता है और अंतरराष्ट्रीय मानवतावादी परिप्रेक्ष्य है। भारत की वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति, भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार एवं प्रयोग, यांत्रिक जीवन-पद्धति, आर्थिक विषमताएँ, बेकारी, मूल्यों की टकराहट, मनोप्रवृत्तियाँ, चारित्रिक एवं नैतिक पतना आदि के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों ने सामयिक कविता को प्रभावित किया है और कवियों ने मानव को लक्ष्य बनाकर अनेक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है। सामयिक कवि ने स्वतंत्र भारत के जीवन की विडंबनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न मानसिक पीड़ा, मूल्य भ्रष्टता जीवन में छाई हुई है, व्यक्ति की नगण्यता, अनैतिकता, साधारण जन की असहाय स्थिति, कृत्रिमता, संस्कारहीनता, असंतुलन, चारित्रिक विघटन आदि के बीच भटकते मनुष्य का रूप चित्रित किया है। देखिए अजित कुमार के शब्दों में एक दृश्य-

मैं इस दुनिया में वैसा ही खुश हूँ
जैसे मेले में छोटा बच्चा हूँ.....
यों ऐसा हुआ कि नकली फूलों के
मेले में जाकर फले बच्चे ने
असली से भी बढ़कर माना है

इस संदर्भ में केदारनाथ सिंह का कहना है-

'एक नन्हा बीज में अज्ञान नवयुग का
आहा कितना कुछ सभी कुछ
न जाने क्या-क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ।

जीवन के प्रति आस्था जितनी दृश्यरूप में गिरिजा कुमार माथुर में दिखाई देती है, उतनी अन्य कवियों में नहीं-

अपना ऊँचा सिर न झुका कर
केवल मिथ्या आदर्शों से नहीं
नहीं कोरी रंगीन कल्पनाओं से
किंतु जिंदगी की मिठास न रस लेने को
हमने कटुता से खुलकर संघर्ष किया है।

सामाजिक कवि ने जीवन की जटिलताओं और दुरुहताओं के बीच जो जीवन दृष्टि पाई है, उसे उन्होंने सच्चाई के साथ व्यक्त करने की चेष्टा की है। आज के युग में वे अपने आप को अभिमन्यु समझते हैं। श्री कुँवर नारायण के शब्दों में-

मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ।
यह महासंग्राम
युग युग से चला आता महाभारत।

सामयिक हिंदी कविता में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं-

1. मानव मूल्य और अस्तित्व की खोज,
2. आधुनिक जीवन की आशंका, भय, अपने से ऊब भीड़ में अकेलापन की भावना।
3. नई भाषा, नया शिल्प और नयी कविता।

समसामयिक हिंदी कविता की तरह तेलुगु कविता में भी जनता की कठिनाइयों का, विडंबनाओं का, असंतोष का वर्णन प्रखर रूप से विद्यमान है। अंतरराष्ट्रीय प्रचार के साथ, संसार के निर्माण के लिए लाखों कवियों को, करोड़ों लोगों को नये पथ पर अपने साथ ले जाने का श्रेय महाकवि 'श्री श्री' को प्राप्त है। आजकल भी समसामयिक तेलुगु कवि उसके प्रभाव से ही रचना करता है। 'अतीत के इतिहास में क्या रखा हुआ है? वर्तमान में जीवित रहो'- श्री. श्री. के इन वचनों के प्रभाव ने तेलुगु कविता को नयी दिशा प्रदान की है। इस संदर्भ में श्री. श्री. यों कहते हैं।

ए देश चरित्र चूसिन एमुन्नदि गर्व कारणम?
नर जाति चरित्र समस्तमु परपीडन परायणत्वम।

श्री.श्री. के अनुसार हर देश का इतिहास परपीड़न परायणता से भरा हुआ है। प्रजातंत्र की महानता का प्रचार तेलुगु कवियों ने किया है-

'व्यक्तुलु परिपालिंगचे शक्ति नशिचिंदि नेडु।
रक्तम् लो अणुवणुवु शक्ति गाडिंचिंदि नेडु।'

अर्थात् आज साम्राज्यवादी या पूँजीवादी व्यक्तियों में शासन करने की शक्ति लुपत हो गयी। आज भारत जाति के खून के हर एक कण में शक्ति भरपूर है।

देश में आज कल दिन-व-दिन विकृत रूप धारण करने वाली जीवन समस्याएँ समाज में कैंसर की तरह व्याप्त भ्रष्टाचार, दुराचार, राजनीतिक भँवर, इनके बीच में जनता की दयनीय दशा, इससे बढ़कर

मनुष्य के छल-कपट और अभिनय तथा उल्टी परिस्थितियों के बढ़ने के कारण दिगंबर कविता का उद्‌भव हुआ। एक स्पष्ट सामाजिक व्यवस्था की स्थापन के लिए निष्कपट और प्रसन्न समाज के लिए रात अनबुझी आग में चलने वाली आत्माओं को दिगंबर कवि अपनी कविता सुनाते हैं। वे कहते हैं-

इस देश में इस भूगोल में
साँस लेने वाले हर व्यक्ति के
अस्तित्व के लिए तपकर
उसकी भावी देखकर
पगली बन बहने वाली कविता...

वे आगे कहते हैं- 'किचड़े के नीचे पड़े मनुष्य को ऊपर उठाना, आँखों के पीछे छिपे सही आँसुओं को फैलाना, निर्भय सच प्रकट करना' ही दिगंबर कवियों का लक्ष्य रहा। दिगंबर कवियों के द्वारा चलाया गया आंदोलन, विप्लव (क्रांति) कवियों के हाथों में प्रखर बन गया। विप्लव कवियों को भी आगे ले चलने का श्रेय श्री.श्री. को ही प्राप्त है।

विप्लव कवियों में विद्रोह का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है। वे मानते हैं कि लोगों के रक्त-माँस को चूसने वाले व्यक्तियों के द्वारा ही देश का शासन चल रहा है। ऐसे लोगों से प्रयोजन शून्य है। देश की भलाई के लिए ऐसे लुटेरों का वध ही उचित है। वे कहते हैं-

'स्वेच्छा जीवुल रक्तम् माँसम्
यथेच्छगा तिन मरिगिन रक्कसि
शिरच्छेदनम् मन कर्त्तव्यम्
दानिकि निं धर्मम् शून्यम्'

क्रांति का आवाहन करते हुए श्री.श्री. कहते हैं-

'नेल मीद न्यायम निलपडानिकि
श्रम दोपिड़ी नाशन चेय्यडानिकि
कानल्लोकि-कोनल्लोकि
कदलि रा।'

(इस भूमि पर न्याय की स्थापना के लिए श्रम लुटेरों का नाश करके कानूनों को, कानून के कोने कोने में आ जा)

विप्लव कवि मानते हैं कि साम्यवादी समाज के द्वारा ही देश का कल्याण होगा। देश की उन्नति होगी। उनका अटल विश्वास है, देश की

उन्नति के लिए हिंसापूर्ण क्रांति ही एकमात्र मार्ग है। प्रगतिवादी कवि भी क्रांति का आवाहन करते हैं, परंतु वे हिंसा से दूर रहते हैं और हिंसा का विरोध करते हैं।

प्रगतिवादी विप्लव धाराओं के साथ-साथ आज दो धाराएँ प्रमुख रूप से तेलुगु कविता में दिखाई पड़ती हैं वे हैं- स्त्रीवादी कविता और दलित कविता।

'युगों युगों में स्त्री जाति दबायी गयी है।
स्त्री पुरुषों के अत्याचारों की बलि
होती जा रही है। इसका अंत नहीं है क्या?'

इस तरह आज स्त्रीवादी कवयित्री प्रश्न कर रही है। वे कहती हैं-(रेवती देवी)

'मग की आड की
शीलान्नि आस्तिनी
समंगा वर्तिपिंचडि
कागिताल मीदा वेदिकल मीदा कादु
निजंगा समंगा वर्तिपिंचंडि'

अर्थात् चरित्र में ही नहीं संपत्ति पर भी स्त्री-पुरुषों का समान अधिकार है। केवल कागजों के ऊपर आँकड़े दिखाने से क्या होगा? सच्चाई से कानून को लागू करना है। इस वाद के अंतर्गत ओल्गा, जयप्रभा, रेवती, ईश्वरी और निर्मला आदि के विद्रोहात्मक स्वर सुनाई पड़ते हैं।

सामाजिक न्याय के वास्ते पिछले दो दशकों से आँध्रा में कविता आंदोलन चल रहा है। लघु मानव को जगाने का प्रयास किया जा रहा है। राज्य ही नहीं साहित्य भी दलितों पर अन्याय कर रहा है। दलितों का कहना है कि दलित समाज को सामाजिक न्याय प्रदान करना है तो स्वयं दलित को ही न्याय के लिए लड़ने को तैयार हो जाना चाहिए। दलितों को जगाने में उनकी भलाई के लिए स्वयं साहित्य का सृजन करना है। दलित कवि प्रश्न करते हैं-

'एलु कोसिव्वडानिकि
ई रोजु
नेनु पिच्चि एकलव्युण्णुकुन्नावा?

दलित एक जमाने में भोले हो सकते थे, लेकिन आज ऊँगली काटकर देने को मैं एकलव्य की तरह भोला नहीं हूँ।

इस देश के सभी आंदोलन सभी राजनीतिक दल, विपक्ष-दल, सभी लोगों ने दलितों के प्रति अन्याय किया है। दलित उनके हाथों की लाठी है नहीं तो एक यंत्र है, या एक साधन है या एक हथियार मात्र है। इसके सिवाय उसका कोई महत्व नहीं है। इसका विरोध करते हुए वे कहते हैं-

तर तराल कर्र पेत्तनान्नि तृणीकरिंचंडमें
एव्रनी देविरिंचकुंडा एक्किरावडमें।

अर्थात युग गुगों के दवाब को कब तक सहते रहेंगे? दूसरों की दया की जरूरत नहीं। अपने आप ऊपर चढ़ेंगे।

आज इस तरह स्त्री-वाद कविता एवं दलित कविता, प्रगतिवाद और विप्लव कविता-धाराओं के साथ-साथ बह रही है। इन महान कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा व्यक्ति, समाज, भारत राष्ट्र और भारत देश की संस्कृति एवं प्रगति के लिए सफलतापूर्वक प्रयत्न किये हैं।

हिंदी और तेलुगु की सामयिक कविता को तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर निम्नलिखित विषय सामने आते हैं-

आज का कवि विद्रोही पहले है, बाद में कवि। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति और प्रचार एवं प्रसार ने उसके विद्रोह की और भी प्रखर बना दिया है। जीवन में संघर्ष और तनाव की स्थिति चढ़ गई है। राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं, बेकारी, भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अब तक आदर्श समझे जाने वाले जीवन मूल्यों को नकारा जा रहा है। नयी भाषा और नयी अभिव्यक्ति अपनायी गयी है। आज हिंदी कविता और तेलुगु कविता, दोनों देश की एकता एवं सांस्कृतिक विकास तथा समाज की उन्नति के लिए अग्रसर हो रही हैं।

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता

डॉ. शरण बंधु

विश्व सभ्यता और संस्कृति के विकास में उनींसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का काल भयानक रूप से संक्रमण का वह काल रहा है जिसमें हर राष्ट्र अपनी पहचान तलाशने में लगा हुआ है। यूरोप और अमरीका में उदारतावादी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों का उदय और विकास आधुनिक सभ्यता के भीतर पहली बार दुनिया में सोवियत यूनियन ने सुनियोजित ढंग से रूस को साम्यवादी राष्ट्र में परिणत कर- नए सूर्योदय की घोषणा की, पर उस सूरज को भी विश्व साम्राज्यवादी शक्तियाँ निगल गई हैं और मार्क्सवाद के अप्रासंगिक होने की घोषणा भी जोरों पर है, ग्लोबलाईजेशन, वैश्वीकरण के नाम पर राष्ट्रीय अस्मिता के विनाश का षड्यंत्र कि वह युगों-युगों तक गुलाम बनकर अपने मालिक के लिए सुख-सुविधा की चीजें पैदा करता रहे।

विश्व पूँजीवाद ने अपने अनुरूप ही उदारतावादी मानवतावाद को आधुनिक मानव मुक्ति का दर्शन घोषित कर उसे जोर-शोर से उछाला एवं मानवतावाद के क्षेत्र में वर्गीय सर्वहारावाद का घोर विरोध किया। पर उदारतावादी मानवतावाद अंततोगत्वा एक अमूर्त मानवतावादी दर्शन के रहस्य में खो जाता है और पीड़ित-शोषित सर्वहारा वर्ग की परवाह नहीं करता।

बहरहाल, द्वितीय महायुद्ध के बाद संपूर्ण पश्चिम में जिस एब्सर्ड पीढ़ी का जन्म हुआ था वह उस विश्व-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था का जीता-जागता प्रतिफलन था। आधुनिक जगत ने अपनी सारी शक्ति भौतिक विकास की ओर ही खर्च कर दी है। उसको आत्म-विकास की ओर देखने का मौका ही नहीं मिल पाता। ऑफिस और ऑफिस बिजनस और सबसे बढ़कर जो बात है- वह है 'लाइफ इज बिजनेस और इस बिजनेस की सबसे बढ़कर जो बात है- वह है 'लाइफ इज बिजनेस और इस बिजनेस की सबसे बड़ी समस्या है हिप्पोक्रेसी, ऑटोक्रेसी, ब्यूरोक्रेसी। इस पूँजीवादी ब्यूरोक्रेसी के चलते ही आजतक भी इस देश की कोई एक राष्ट्रभाषा व्यावहारिक स्तर पर अपना एक स्थान बना पाने में अपने को असमर्थ पा रही है।

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सारा देश एक वाणी बोलता था। हिंदी ही स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा बन पाने की क्षमता-शक्ति को संपूर्ण देश ने एक स्वर से स्वीकारा था, क्योंकि 'आधुनिक राष्ट्र' की परिकल्पना के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा का बहुत महत्व है। जबतक किसी राष्ट्र के पास राष्ट्रभाषा नहीं तब तक वह कोई राष्ट्र नहीं। राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा के महत्व पर सबसे अधिक गहरा चिंतन और मनन प्रेमचंद का है। भारत में स्वराज प्राप्ति के बाद जिस सर्वहारा संस्कृति का मूलाधार ही भारत की एक राष्ट्रभाषा को मानते हैं, क्योंकि किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान या कहा जाय कि राष्ट्रीय पहचान का मूलाधार उसकी राष्ट्रभाषा होती है। इसीलिए प्रेमचंद राष्ट्रभाषा को लेकर इतनी गहरी चिंता में थे। वे एक जगह कहते हैं :

'जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आप के पास राष्ट्रभाषा नहीं, आप का कोई राष्ट्र नहीं, दोनों में कारण और कार्य का संबंध है।'

संपूर्ण भारतीय साहित्य में राष्ट्रभाषा के महत्व, जरूरत और उसके सांस्कृतिक मूल्य को लेकर जितना अधिक चिंतित प्रेमचंद थे उतना और कोई लेखक क्यों नहीं?

क्योंकि प्रेमचंद युग-युग से उस उपेक्षित और गूँगी जनता के मुँह में वाणी डालना चाहते थे- जो जिंदगी भर हर तरफ से मार खा-खाकर भी रोती नहीं।

'जो मार खा रोई नहीं
जो सबकुछ समझती है... जानती है.... पर जिसके
मुँह में जबान नहीं है.....
जो अपने ही घर में बेगानी हो गई है।'

आजादी के बाद जन्मी इस बेगानी पीढ़ी की ओर संकेत करते हुए रघुवीर सहाय ने एक जगह कहा है-

'बीस वर्ष-
जन्मी-पली पुसी क्लेश में
एक पूरी पीढ़ी
बेगानी हो गई
अपने ही देश में।'

आजादी के पहले तक संपूर्ण देश के सामने 'भारतमाता' के रूप में एक राष्ट्रीय बिंब था और हर प्रांत, हर भाषा के राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों, कलाकारों के स्वर में राष्ट्रीयता की प्यास थी।

इसीलिए आजादी-पूर्व संपूर्ण देश का स्वर था- 'राष्ट्रभाषा हिंदी'

रवीन्द्रनाथ, बंकिमचंद्र, सुभाषचंद्र बोस, केशवचंद्र सेन प्रभृति मनीषियों ने मुक्त मन से यह घोषणा कर दी थी कि भारतीय मन को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति सबसे अधिक राष्ट्रभाषा में है और वह राष्ट्रभाषा हिंदी ही हो सकती है।

मैं यहाँ उदाहरणस्वरूप कुछ मनीषियों के कथन उद्धृत करूँगा-

1. हिंदी देश के सबसे बड़े हिस्से में बोली जाती है हमें इस भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

-रवींद्रनाथ

2. हिंदी को भारत की एक भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो सहज में ही एकता संपन्न हो सकती है।

- केशवचंद्र सेन

3. देश के सबसे बड़े भूभाग में बोली जानेवाली हिंदी ही राष्ट्रभाषा के अधिकारिणी है।

-सुभाषचंद्र बोस

4. हिंदी में अखिल भारतीय भाषा बनने की क्षमता है।

-राजा राम मोहन राय

5. यदि भारतीय लोककला, संस्कृति और राजनीति में एक रहना चाहते हैं तो इसका माध्यम हिंदी हो सकती है।

-चक्रवर्ती राज गोपालाचारी

6. भारत में एक भाषा हिंदी ही राष्ट्र भाषा का स्थान ले सकती है।

-ग्रियर्सन

7. कोई राष्ट्र अपनी भाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। भाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी जरूरी है।

-थामस डेविड

8. जबतक आप के देश का कार्य और शिक्षा का प्रसार हिंदी के माध्यम से नहीं होगा यह देश वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता।

-डॉ. मे. पी. चेलिशोब (मास्को)

9. यदि हिंदी की उन्नति नहीं होती है तो यह देश का दुर्भाग्य है।

-बंकिम चंद्र

10. यदि भारत की किसी भाषा को सर्वसाधारण की भाषा मानी जाए तो वह हिंदी है।

-बंगाल मैगजीन, सन् 1874 ई.

11. हिंदी प्रचार का कार्य दूरदर्शितापूर्ण है। इसका सुपरिणाम आगे निकलेगा।

-सुभाषचंद्र बोस

12. राष्ट्र को एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्व नहीं। मेरे विचार से हिंदी ही ऐसी भाषा है।

-बाल गंगाधर तिलक

13. हमारी बहुत-सी देशी भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं और इसलिए सब प्रांतों के लिए राष्ट्रभाषा के नाते हिंदी ही अनुकूल है।

-महात्मा गाँधी, यंग इण्डिया, 21.5.1920 ई.

इस तरह के अनेकानेक वक्तव्यों से हमारा बौद्धिक जगत अटा पड़ा है- पर आजादी के बाद उन बौद्धिक राष्ट्रीय सपनों को दफना कर- राजसत्ता भोग की उस व्यावसायिक, नैतिकताविहीन राजनीतिक जीवनप्रणाली का जन्म हुआ, जिसने सारे प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं समाजवादी सपनों को फूहड़ता में बदल दिया है।

अगर प्रजातांत्रिक मूल्यों को सही रूप से अपनाकर देश का भविष्य गढ़ा जाता तो रातों-रात पूरा राष्ट्र अपनी सूरत बदल सकता था- पर सूरत बदलने के बदले सूरत और अधिक बद से बदतर होती गई..

जैसे आधुनिक भारतीय राष्ट्रवादी गाँधी, रवींद्रनाथ, प्रेमचंद, सुभाषचंद्र बोस मनीषियों की भावनाओं का रूप अति व्यापक दिखाई देता है।

यहाँ पर राष्ट्रवादी शब्द का गलत संदर्भ उठाकर विरोध करने की बजाय उस राष्ट्र प्रेम की भावना से द्रवित हृदय को समझने की जरूरत है- जिसमें राष्ट्रप्रेम की भावना गहराई से है। वे अलग-अलग प्रांत, अलग-अलग भाषा के होकर भी आंतरिक भावना के स्तर पर एक थे। और वे उस केंद्रीय भाषा की तलाश खुले दिल से करते थे। उन्हें यह महसूस होता था कि इस अभागे देश को सबसे पहले अपने जुबान चाहिए। इस गूँगे राष्ट्र को एक राष्ट्रभाषा चाहिए। अखंड भारत की एकता एवं अखंडता को बरकरार रखने के लिए इस राष्ट्र को एक राष्ट्रभाषा चाहिए।

हिंदी में आधुनिक युग का जनक भारतेंदु को ऐसे ही नहीं

माना जाता है? भारतेंदु ही वह महान चिंतक था, जिसने सर्वप्रथम राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश की। उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की-

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को भूल
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटे न मन को शूल।'

अँग्रेजी का कितना ही ज्ञान क्यों न हो जाय, मन का शूल, मन का दर्द, आत्मा की पीड़ा तो अपनी ही भाषा में आश्रय लेता है। बिना अपनी भाषा के मन का शूल नहीं मिटता, कविता में लय और छंद नहीं पैदा होती। संभवत: जीवन में कोई कविता पैदा नहीं होती? कोई सुर कोई लय! कोई अनहद संगीत! कोई पहचाना लोक-ध्वनि। जब मनुष्य सभ्य हुआ तब से लेकर अबतक अगर भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों की चर्चा छोड़ भी दें, तो यह बिल्कुल व्यावहारिक बात है कि जन्मजात भाषा में जो रक्तबिंब तैयार होते हैं- वे ही आगे चलकर भावनाओं को प्रतीकों में बदलते हैं, ये शब्द क्या हैं? मानवीय भावनाओं, विचारों के प्रतीक हैं। शब्द या भाषा किसी न किसी मानवीय भावनाओं, विचारों, कहा जाय तो आम परिस्थितियों के बीच जीनेवाले आम लोगों की संघर्षशील भावनाओं को उजागर करने वाली वह सांस्कृतिक शक्ति होती है- जिसका ऐतिहासिक मूल मिथकों, पुराणों एवं हजार-हजार बरसों पुरानी सभ्यता और संस्कृति के भीतर गहराई से व्याप्त रहा करती है। कोई भी विदेशी भाषा क्यों न हो, एक भारतवासी उसे अनुवादिक क्रिया के द्वारा ही ग्रहण करता है, अत: उसकी आधी ऊर्जाशक्ति भाषा को अनुवादित करने में खर्च हो जाती है और वह आधी ऊर्जाशक्ति द्वारा ही भाषा में व्यक्त विषय वस्तु को समझने के लिए बाध्य होते हैं। फलस्वरूप हमें विषय वस्तु का मौलिक और स्वाभाविक ज्ञान नहीं हो पाता, जिसके चलते देश में मौलिक, प्रतिभावान चिंतक-विचारक, वैज्ञानिक और राजनेता नहीं पैदा हो रहे हैं। आज नए सिरे से अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली के वर्चस्व को कायम कर पूरे देश की आम जनता को देश के भाग्य से काटकर अलग-थलग कर देने का भयानक षड्यंत्र शुरू हो गया है। गाँव के गलियारे तक में कॉन्वेंट का आतंक छा गया है। रक्तबीज राक्षस की तरह वह आम जनता की सांस्कृतिक पहचान को नेश्तनाबूद करने पर आमादा है, देसी मुर्गी और बिलायती बोल के मुहाबरे को सार्थक करती हुई यह अँग्रेजी संस्कृति देश में एक ऐसे आततायी वर्ग को पैदा कर रही है जिसके लिए पैसा ही सबकुछ है, जिसको मानव मूल्य और नैतिकता से कुछ भी लेना-देना नहीं हैं। जो शिक्षा सिर्फ पैसा पैदा करने वाला रोबोट

तैयार करती है- जो अपनी माँ तक से नफरत करने लगती है- आम जनता की तो बात ही अलग है। इस अँग्रेजीदाँ, वर्ग के सामने देश की आम जनता मूर्ख, जाहिल और घृणित है, क्योंकि इस अभागे देश की अभागी जनता अँग्रेजी नहीं जानती, हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि मातृभाषा जानती है। अँग्रेजीदाँ आर्य हैं और शेष जनता अनार्य! अँग्रेजीदाँ मालिक हैं और शेष जनता गुलाम। यहाँ अँग्रेजीदाँ के लिए बड़े-बड़े पद और प्रतिष्ठान हैं, उच्च शिक्षा है, अच्छी-अच्छी नौकरियाँ हैं, सामाजिक सम्मान है- वे सभी बड़े और (महान?) लोग हैं, वे विशिष्ट हैं, हाई फाई प्राणी हैं। हैल्लो और हाई करते रहते हैं। विदेशीपन का भूत उनपर इतना सवार हो गया है कि तथाकथित मध्यवर्गीय निम्न मध्यवर्गीय माँ अपने बच्चों के मुँह से मम्मी, डैडी सुनकर ज्यादा आह्लादित होती है। अँग्रेजी स्टॉल आधुनिकता का मानदंड बनता जा रहा है।

दूसरी ओर इस गरीब और गूँगे देश की आम जनता किसान, मजदूर, शिक्षक, शिल्पी, साहित्यकार, बुद्धिजीवी आदि को भयानक संकट से होकर गुजरना पड़ रहा है, ये सभी अपने ही देश में निर्वासन की जिंदगी जीने के लिए बाध्य कर दिये गये हैं। देश की अस्सी फीसदी जनता को अँग्रेजी के नाम पर देश की तकदीर से काटकर अलग कर दिया गया है। बीस फीसदी अँग्रेजीदाँ देश की सारी सुविधायें अपने हक में कर लेते हैं, क्योंकि अस्सी फीसदी लोग तो अपने आप छंटे जो हैं! क्योंकि व्यवस्था की मशीनरी अँग्रेजीनुमा है।

प्रेमचंद ने वर्तमान भारतीय जीवन की विडंबना पर विचार करते हुए एक जगह कहा है-

अँग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अँग्रेजी भाषा का है। अँग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अँग्रेजी भाषा को आप गुलामी ताबीज की तरह गर्दन में डाले हुए हैं...पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अँग्रेजीदाँ का भेद है। अँग्रेजीदाँ आर्य हैं, उसे हाथ में अपने स्वामियों की कृपादृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर अँग्रेजीदाँ अनार्य हैं और उसका काम केवल आर्यो की सेवा टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन दूना, रात चौगुना।

इस आर्य वर्ग के लोगों में आज राजनेता, एम.एल.ए., एम. पी., मंत्री, उद्योगपति, बड़े-बड़े अभिनेता, खिलाड़ी, नौकरशाह, सुविधापरस्त बुद्धिजीवी, साहित्यकार, चिंतक सभी शामिल हैं। इस आर्यवाद की रेस में सभी अपने जैकपॉट लग जाने की प्रत्याशा में दौड़ रहा है... दौड़ रहा है और हाँफ रहा है... और इस मृगतृष्णा रूपी दौड़ में अधिकांश के दम उखड़ जाते हैं- खासकर इस दौड़ में मध्यमवर्ग और निम्नमध्यम वर्ग बेमौत मारा जाता है। कनखजूरे की तरह शहर बाजार में उग आये अधकचरे कॉनवेंट स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे न तो तीतर न तो बटेर की निर्यात में फँसकर सारी जिंदगी फाकाकशी में जीने को बाध्य होते हैं।

हिंदुस्तानी साहबों की देखादेखी में जीने वाला यह वर्ग तरह-तरह की विसंगतियों में फँसकर अपना अस्तित्व बोध ही खो देता है और सारी जिंदगी अर्थहीनता में बिताता है, क्योंकि अँग्रेजियत का जादू उसे हिप्नोटाइज किये रहता है।

प्रेमचंद के शब्दों में-

हिंदुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गई है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा-बरताव सब साधारण जनता से अलग है। साफ मालूम होता है कि यह कोई नई उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिंदुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजी ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है।

आज इस हिंदुस्तानी साहबों की जमात में शामिल होने के लिये सभी लालायित और बाध्य हैं। देश के किसी न किसी भी राजनीतिक पार्टी के नेता को राष्ट्रभाषा की समस्या क्यों नहीं सताती? क्यों नहीं सारे देश के बुद्धिजीवियों को यह समस्या सालती? इस मुद्दे पर सारा देश एक होकर क्यों नहीं सोच पाता? क्यों राष्ट्रभाषा की समस्या के बहाने क्षेत्रीयता की राजनीति फलने-फूलने लगी? कहीं हिंदी के नाम पर राष्ट्रभाषा के अस्तित्व को ही नकारा गया तो कहीं राष्ट्रभाषा के नाम पर हिंदी विरोध की राजनीति फैलाई गई, अशिक्षित और क्षेत्रीयता की भावना से पीड़ित और अँध जनता को राष्ट्रभाषा का महत्व न समझा कर अँध विद्रोह की क्षेत्रीय राजनीति को हवा दी गई। दक्षिणपंथी तो दक्षिणपंथी इसमें वामपंथी भी पीछे नहीं रहे। किसी ने भी राष्ट्रभाषा के महत्व एवं उसकी राष्ट्रीय अनिवार्यता को स्वीकार करने का प्रगतिशील कदम नहीं उठाया। उल्टे राष्ट्रभाषा और हिंदी के नाम पर क्षेत्रीयता की भावना को फुरफरी देकर व्यावसायिक

राजनीतिज्ञों ने अपना वोट बैंक स्थापित करने का प्रयास अधिक किया। इस अभागे देश ने कभी उदार और कभी मुक्त होकर इस समस्या पर विचार नहीं किया। आम जनता को भी भरमाया-बहकाया गया और राष्ट्रभाषा की समस्या हासिये पर सरका दी गयी है... जब हिंदीवाले खुद ही अँग्रेजियत के पीछे परेशान हैं तो औरों से क्या उम्मीद की जा सकती है?

दूसरी तरफ वे पूरे देश की एकता के नारे को जोर-शोर से उछालते रहते हैं... पर वे यह नहीं महसूस कर पाते कि किसी भी राष्ट्र की एकता कायम करने में राष्ट्रभाषा से बढ़कर और कोई कारक शक्ति नहीं होती, क्योंकि जनता के बीच भावात्मक एकता कायम करने में राष्ट्रभाषा प्रमुख भूमिका अदा करती है।

महान वोल्शेविक क्रांति संपन्न होने के बाद बहुभाषी रूस में जब राष्ट्रभाषा की समस्या उठ खड़ी हुई तो बहुत सारे कॉमरेडों ने नकारात्मक रूख अपनाया, पर लौह व्यक्तित्व स्टॉलिन ने उनको राष्ट्रभाषा का महत्व समझाया, खासकर समाजवादी सपनों को पूरा करने के लिए, अपने वतन के जर्रे-जर्रे को अनुप्राणित और विवेकवान एवं शक्तिशाली बनाने के लिए अपनी मातृभाषा (राष्ट्रभाषा) की कितनी बड़ी जरूरत है? वह तो राष्ट्रीय सांस्कृतिक इमारत की नींव की पहली ईंट है। भाषा पर ही सांस्कृतिक दीवार खड़ी होती है, संस्कृति ही मनुष्य को संस्कार देती है और संस्कार से ही मनुष्यता फलती-फूलती है और मनुष्यता ही मनुष्य का सार तत्व है। अँग्रेजी भाषा पढ़ना डॉक्टर, इंजीनियर, ऑफिसर बन जाना आसान है। पर मनुष्य बन पाना आसान नहीं है, क्योंकि मनुष्यता बनाम प्रेम, ईमानदारी, त्याग, उत्सर्ग आदि मानवीय भावनाओं से ही मानवता की फुलवारी हरी-भरी रहती है, पर ज्योंही उस फुलवारी में स्वार्थी फुलवारी दैत्य सेल्फिस जेंट का प्रवेश होता है- त्योंही संपूर्ण फुलवारी उजाड़ हो जाती है, अब उनमें फूल नहीं फूलते, चिड़िया नहीं गाती, बसंत नहीं बौराता...।

आज हमें सेल्फिस जेंट बनकर जीने के लिए जो शिक्षा दी जा रही है, वह बिल्कुल मूल्यहीन है, वह न तो भौतिक सुख-सुविधा उपलब्ध करा पा रही है और न तो नैतिक! क्योंकि वह तीसरी दुनिया के माथे पर लाद ही गयी है। भारत जैसे विकासशील देश की अस्मिता को संकट में डालकर यह आरोपित अँग्रेजी शिक्षा प्रणाली देश में एक ऐसे वर्ग को तैयार कर रही है जो अपनी सारी प्रतिभा विश्व पूँजीवादी साम्राज्यवाद

के पोषण में लगाए। भारत के प्रतिभाशाली छात्र वे समझे जाते हैं, जो देशी खर्चे से पढ़-लिख कर किसी विदेशी फर्म, पूँजीवादी साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी कंपनी जो विश्व-बाजार के लिए ग्लोबलाइजेशन के नाम पर देशी कंपनियों को निंगलने का काम करती है- में बड़े-बड़े गुलाम बनकर अपने मालिक की जी हुजूरी करते हैं। देश को मूर्ख श्रमिक जनता ने नहीं, वरन् पढ़े-लिखे बाबुओं, व्यापारी, राजनेता, अफसर आदि ने मिलकर लूटा है। जनता को बेजुबान रखने का अपराध इन सबों ने मिलकर किया है।

प्रेमचंद के शब्दों में-

'हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अँग्रेजी में होती है अँग्रेजी में भाषण दिए जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा पढ़ी अँग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है, यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासमखास झंडेबरदार हैं, सभी कार्रवाई अँग्रेजी में करते हैं। जब हमारी कौमी संस्था की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और युनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें?'

फिर आगे वे कहते हैं-

'मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संस्था जनता की भाषा का बायकॉट करती है, उस पर दूर से ही लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है? और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे हो सकते हैं, फिर चाहे वे समाजवाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आएँ।'

आज किसी भी पार्टी और नेता के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। उन्होंने मिलकर सत्ता भोग की राजनीति तय कर ली है, देश की समस्या जाए भाँड़ में। उनका अपना स्वस्तिक ठीक रहे- वे यही सिद्धांत अपनाकर जीते हैं.....

लेकिन जो लोग हिंदूस्तान को एक कौम देखना चाहते हैं, इसलिए नहीं कि वह कौम कमजोर कौमों को दबाकर भांति-भांति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और अपना ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताकत पर घमंड करे, बल्कि इसलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और पैदा करे और हमें इस योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें। उनका फर्ज है कि कौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। क्योंकि

कौमी भाषा ही देश में एकता स्थापित करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है, क्योंकि मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालने वाला रिश्ता भाषा का है।'

राष्ट्रभाषा राष्ट्र की आत्मा होती है, इसलिए वह केवल अमीरों और रईसों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे अमीरों से ही या रईसों से ही राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। अत: आज हमें नये सिरे से, उन्मुक्त होकर, फिर से राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय अस्मिता एवं एकता की समस्या पर विचार करने की जरूरत है, क्योंकि राष्ट्र के रूप में हुए बगैर हमारा दुनिया में जिंदा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर यह सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनना है, उसे एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी।

भारतीय कविता में नवजागरण

कविता वाचक्नवी

हिंदी साहित्य के इतिहास में जहाँ से साहित्य का आधुनिक काल आरंभ होता है, उस कालखंड को समाज सांस्कृतिक व ऐतिहासिक दृष्टिवेत्ताओं ने नवजागरण काल कहा उससे थोड़ा आगे-पीछे भारतीय भाषाओं में जो भी एक पुनरूत्थान की लहर क्रमशः तिरले लगी, वह भी उसी में परिगणित हुई। होनी भी चाहिए थी, क्योंकि समान समाज-संहिता में दीक्षित हुआ भारतीय परिदृश्य तब भाषा की चौहद्दियों में यों बँटा हुआ नहीं था। सामाजिक चेतना के बीच जिस स्रोत से आए थे, वह स्रोत पाश्चात्य रेनासां तो कदाचित था ही नहीं। था तो पूर्ववर्ती साहित्य और सुधारकों द्वारा परंपरा की सही व्याख्या की पहल। सही स्रोत की खोजबीन और उसे मान्यता देने-दिलाने का संकल्प, प्रयास एवं परिणाम समकालीन समाज के भाषायी संकुचल की सीमारेखा तोड़ने में सहायक सिद्ध होगा, इस स्थिति में आज इस विषय को उठाने की आवश्यकता जान पड़ती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तथा 18वीं शती के अंत में जहाँ तत्कालीन परिस्थितियों से खिन्न समाज की मानसिकता में सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह का बीजोरोपण हो चुका था, वहीं अपने समाज में संस्कृति के प्रति अनुराग का भाव भी पनपने लगा था। राजनीतिक वातावरण ने, सामाजिक जागृति की कसमसाहटों ने तत्कालीन काव्यपरंपरा के फलक का विस्तार किया। जिस प्राचीन साहित्य की थाती रचनाकारों को विरासत में मिली थी, वह साहित्य उनमें अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव, गरिमा का भाव और औदात्य का भाव भरता था। नवजागरण काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि लगभग सभी भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता व गद्य लेखन का प्रारंभ होना तो है ही, इस गद्य लेखन में भी राजनीति तथा समाज में जागरूकता के साथ-साथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय भावना के उदय और विकास का क्रमशः और प्रखतर होते जाना है। काव्य-लेखन में राष्ट्रीयता के साथ सांस्कृतिक पुट प्रबल रहता रहा तो गद्य में समाज और राजनीति। रेखांकित करने योग्य बात यह भी है कि विविध भारतीय भाषाओं की कविता में तत्कालीन ऐतिहासिक तत्व तो विद्यमान है ही, उस काल की कविता ने अपने इतिहास को जाँचा-परखा और उससे संवाद भी स्थापित किया।

हिंदी कविता में 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय कविता का जोर मिलता है, राष्ट्रवादी धारा की रचनाएँ निरंतर आती हैं, देशभक्ति जिनका मूलस्वर है। महर्षि दयानंद जैसे प्रकांड विद्वान और समाज सुधारक ने नवजागरण के पुरोधा व अग्रदूत बनकर देशभक्ति की वास्तविक व्याख्या शास्त्रीय विधि तक से प्रस्तुत कर दी थी। इस देश की सीमाएँ, उनकी सुरक्षा, भौगोलिक वातावरण, जनमानस तथा उसकी मुक्ति, उसकी हीनावस्था व समस्याएँ, उसके रीति-रिवाजों और परंपराओं का आकलन व सही व्याख्या अपने मानव धर्म, संस्कृति, मातृभूमि तथा अपनी भाषा के प्रति घृणा का भाव इत्यादि भारतीय राष्ट्रीयता के विभिन्न एकीकृत तत्व थे। इन्हीं विषयों को भिन्न-भिन्न प्रकार एवं मुद्राओं से अभिव्यक्ति तत्कालीन कविता का प्रमुख स्वर, लक्ष्य तथा कथ्य रहा। भारतेंदु, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, निराला, नवीन, दिनकर, सुमन, प्रसाद, पंत, महादेवी व सुभद्रा कुमारी चौहान तक इसका विस्तार व प्रभाव प्रकट होता है।

वहीं तेलुगु कविता में उन्नीसवीं शती के पूरा होते-होते समाज व राष्ट्र के प्रति लगाव की भावना हिलोरें भरने लगीं। काकिनाडा लिटरेरी एसोसिएशन के रूप में सर्वप्रथम यह एक संगठित रूप में प्रकट हुई। इसका उद्देश्य ही प्रबुद्ध लोगों में राष्ट्र तथा उसकी स्वाधीनता से प्रेम का प्रचार करना था। 20वीं शती की तेलुगु कविता में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति, उसके शोषण तथा अत्याचार के प्रति तीव्र भर्त्सना का भाव प्रखर हो गया। चिलकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम ने एक सभा में भारत को ऐसी दुधारू गाय की भांति कहा जिसके बछड़े रो रहे हैं और उनके मुँह बाँध कर गोरे ग्वाले दूध दुहे जा रहे हैं। पी. रामशास्त्री के राष्ट्रीय काव्य की सर्जना इस समय तक हो चुकी थी। तेलुगु कविता में राष्ट्रीय जागरण के स्वरों को चिंतामणि तथा कृष्ण पत्रिका ने संपूर्ण समर्पण से प्रकाशित किया। गुरजाडा अप्पाराव का कन्या शुल्कम नाटक 1897 में ही लिखा जा चुका था, जिसका वर्ण्य था स्त्री के प्रति बहिष्कार और तिरस्कार जैसी सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करना। आचार्य आत्रेय, कोपेल्ल वेंकट रामाराव, लिनिशेट्टी सुब्बाराव इत्यादि के नाटकों में भी इस देश की निरीह जनता की विकट परिस्थितियों, समस्याओं और साथ ही उस पर सामंती अत्याचारों का सार्थक तथा सफल वर्णन किया गया। रायप्रोलु सुब्बाराव, ईश्वर जगन्नाथ मार्तंड शास्त्री, मंतिन आदिनारायण, कल्लादि अच्युतराम शास्त्री, चेरकुवाडा वेंकटामय्या,

गादे जगन्नाथ स्वामी, मंत्री प्रगड भुजंगराव, जंध्याल अच्यवारू शास्त्री, गुर्रम जाधुवा, उंडेल मालकोंडा रेड्डी, वेंकटचलपति, भंगपूडि वेंकट शर्मा, पुट्टपर्ति नारायणाचार्य, श्रीमति नंडूरि चंद्रमती देवी, राजकवि दाशरथि, पं. दुर्भाक राजशेखर शतावधानी, उमर अलीशाह, वेदुल सत्यनारायण शास्त्री प्रभृति कवियों की रचनाएँ राष्ट्रीयता के विविध पक्षों का सौंदर्यात्मक प्रस्तुतीकरण करती हैं तथा नेतृत्व भी करती हैं।

तमिल के साहित्य को लें तो सुब्रह्मण्य भारती की कविता में इसकी प्रबल गूँज सुनाई पड़ती है। यहाँ भी 1806 ई. की वैलूर सिपाही क्रांति जन जागरण की उन्नायक बनी। 1882 ई. में स्वदेश मित्रन नामक पत्रिका निकली और बाद में सुब्रह्मण्य भारती ने 'इंडिया' आरंभ की, जिसमें निरंतर जनमानस में चेतना तथा जागृति का भाव भरने वाली कविताएँ होती थीं। यह तथ्य रेखांकित करने योग्य है कि इसी पत्रिका में भारत की मुक्ति तथा हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करने वाले विषयों पर लेख छपे। तमिल के महाकवि भारती का यह कहना कि दुनिया की समस्त भाषाओं का ज्ञान मेरी भाषा में ले आओ, तमिलवाले हिंदी सीखें- इस युग की राष्ट्र की अवधारणा को तमिल कवि के शब्दों में प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय आंदोलन में स्वभाषा एक बड़ा मुद्दा बनकर उभरी। इसकी पीठिका उससे पहले ही तैयार थी। आज जब हम तथाकथित ग्लोबल भाषा की ओर दौड़ रहे हैं, ऐसे में इन्हें पढ़ना-जानना अनिवार्य है। भारती के शब्द थे- संपूर्ण भारत के लिए एक सामान्य भाषा अनिवार्य है। यदि तमिलियन तमिल और हिंदी जानते हैं, यदि बंगाली बांग्ला और हिंदी जानते हैं, तो हम एक राष्ट्र के रूप में एक सामान्य भाषा पाते हैं अर्थात हिंदी। भारतेंदु द्वारा नागरी प्रचारिणी की सभा में दिए निज भाषा उन्नति वाले भाषण से इसकी समानता स्वत: सिद्ध है।

तमिल में 1794 ई. में राष्ट्रीय चेतना की कविता की रचना हो गई थी। मुत्तु पुलवर नामक कवि ने ईस्ट इंडिया कंपनी के छल-बल और निकृष्टता की आलोचना और उस पर आघात किया था। मुत्तु वीराली की रचनाओं में अँग्रेजों के विरूद्ध जनमानस में उठे विरोध के वर्णन नए विधानों से प्रकट होते हैं। निज राष्ट्रवासियों की राष्ट्रविरोधी मानसिकता की भर्त्सना भी की गई। वीर पांड्यकट्ट बोम्मन की रचनाएँ 1801 ई. में प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के भी पूर्व रची गई हैं। स्वदेश मित्तिरर के देशगान 1877 में आ गए। भारती का तो समूचा काव्य ही आज की तमिल को

जानने वालों के लिए अविश्वसनीय हो सकता है। स्वतंत्रता को माँ के रूप में चित्रित करने वाले, आर्य दर्शन एक स्वप्न लिखने वाले हिंदी के प्रबल पक्षधर, कर्मठता के उन्नायक, भेदभाव पर प्रहारक, भारत की गरिमामूर्ति के पूजक भारती का काव्य अवदान धरोहर है समस्त भारत की। टी.वी. कल्याण सुंदरम ने नवीन प्रस्तुति करके तत्कालीन कविता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहाँ प्रहार नहीं, अपितु जनता के सामने अपने अतीत के गौरव की वर्तमान दयनीय दशा की ओर ध्यान दिलाया गया। नारमक्कल रामलिंगम की कविताओं में गाँधी जी के आदर्शो की बानगी मिलती है। विश्वनाथ दास, देशिक विनायकम पिल्लै, शुद्धानंद भारती, कवयित्री असलांबिकै रायचोक्कलिंगम, कोत्तमंगलम सुब्बु, एस.डी. सुंदरम भारती दासन, पुरट्शि कवित्जर इत्यादि कवियों की रचनाओं के पाठ से जो प्रवृत्तियाँ नवजागरणकालीन कविता भी उपलब्ध होती है, उनका इतिहास 200 से भी अधिक वर्ष पुराना है, जो निस्संदेह भारतीय नवजागरण का दूसरा ही पक्ष दिखता है कि यह आयातित नहीं है।

बांग्ला साहित्य में पुनरुत्थान के प्रचारक के रूप में माइकेल मधुसूदन दत्त का नाम आता है। इनके तिलोत्तमा और वीरांगना काव्य 1859 ई., 1862 में आए। ये दोनों काव्य बांग्ला साहित्य की धारा को नई दिशा देने वाले सिद्ध हुए। उन्हीं का 'मेघनादवध' बहुत चर्चित हुआ और बहुत सी भारतीय भाषाओं में लोकप्रिय हो गया। असमिया भाषा में तो विधिवत इसी शैली में अभिमन्यु वध (रमाकांत चौधरी कृत) 1875 ई. में आया। मेघनाद वध के साथ ही साथ पौराणिक आख्यानों को नवीन पृष्ठभूमि में नई व्याख्या और नए अर्थो में प्रस्तुत किया गया। 1859 ई. में शर्मिष्ठा नाटक के एक गीत में माइकेल मधुसूदन ने अपनी स्वर्णमयी भारतभूमि के निवासियों को नींद से उठने का आह्वान किया, क्योंकि प्राची से दिनकर का उदय हो गया है, यह नाटक प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दो वर्ष पश्चात् लिखा गया और इसने साहित्य तथा राजनीतिक चेतना का उच्च स्वर में शंखनाद गुँजा दिया। पुनरुत्थान काल में बांग्ला साहित्य में बांग्ला भाषा के प्रति चेतना का भाव सर्वप्रमुख होकर उभरा। निजभाषा के महत्व को रेखांकित किया गया। माइकेल मधुसूदन का भी भारतेंदु व भारती की भांति निजभाषा गौरव के प्रति सजगता की चिंता करने वाला लिखित वक्तव्य उद्धृत किया जाता है। बांग्ला में भी 1867 ई. में जातीय मेला से आरंभ हुए आंदोलन की प्रेरणा का हाथ मुख्य रहा। इस मेले में गाए गीत के रचयिता

सत्येंद्रनाथ ठाकुर थे, जो भारतीय सिविल सर्विस के प्रथम भारतीय सदस्य थे। इस गीत में सभी भारतवासियों को, भारतीयों को मिल-जुल कर भारत की महिमा का गान करने की प्रेरणा दी गई थी। राजा राममोहन राय प्रभृति सुधारक ने मानवंजाति और उसके कल्याण के लिए जागृति का बीड़ा उठाया। इसके परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में युवा बंगाली लेखकों की एक ऐसी पीढ़ी उठ खड़ी हुई जिसने धर्म और राष्ट्रीयता को एकाकार कर दिया। बंकिमचंद्र चटोपाध्याय का वंदेमातरम् गीत आनंदमठ की देशभक्ति व धर्म की चरम अभिव्यक्ति है, जहाँ दुर्गा व मातृभूमि एकरूपा सी हो जाती है, यह गीत स्वदेशी आंदोलन के काल में सर्वाधिक चर्चित गीत बनकर उभरा। 1896 ई. में कलकत्ता में राष्ट्रीय काँग्रेस में इसे राष्ट्रगान घोषित कर दिया गया और स्वयं रवींद्रनाथ ठाकुर ने इसे गाया। ईश्वर चंद्रगुप्त, काली प्रसाद सिन्हा, नलिनचंद्र सेन, हेमचंद्र बंदोपाध्याय, रंगलाल बंदोपाध्याय सरीखे कवियों की रचनाएँ भारत के सांस्कृतिक गौरव, सभ्यता की प्रकृष्ठता और पुरातन गौरव का आख्यान है। स्वयं विवेकानंद ने कहा- अगले पचास वर्षो तक केवल हमारी यह भारतमाता ही हमारी मूलमंत्र बनी रहेगी। अन्य सभी निरर्थक देवी देवता इस अवधि के लिए हमसे विदा ले लें। पत्रकारिता की प्रथम प्रणेता बंग भूमि से अनेक पत्र पत्रिकाओं में निरंतर नए विचारों और पाश्चात्य संस्कृति के संहार के स्वर मुखरित हुए। युगांतर पत्र में तो हिंसा और क्रांति का उद्‌बोधन बरसने लगा। किरणचंद्र मुखोपाध्याय ने विनाश कर देने का स्वर फूँका। रवींद्रनाथ ठाकुर ने मातृभूमि की वंदना की। रजनीकांत सेन, काली प्रसन्न, द्विजेंद्र लाल राय, सत्येंद्र नाथ दत्त, कार्तिकचंद्र दासगुप्त, विजयचंद्र मजुमदार, कामिनी कुमार भट्‌टाचार्य, मुकुंददास, सैयद अबू मुहम्मद आदि रचनाकारों ने देश के राजनीतिक, सामाजिक शोषणों, आर्थिक दमन को केंद्र में रखा, लोगों का आंदोलन के लिए उठ खड़े होने का आह्‌वान किया। मुकुंददास, रजनीकांत सेन के साथ-साथ युद्ध की बात करते हैं। काजी नजरूल इस्लाम की रचना विद्रोही की ओजपूर्ण भंगिमा ने तो साहित्य जगत तक को चौंका दिया।

मणिपुरी कविता की तत्कालीन प्रवृत्तियों में भी स्वभाषा, स्वदेश और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम का भाव प्रकट होता है। उस समय के प्रमुख व लोकप्रिय रचनाकार लमाबम कमल सिंह की रचनाएँ मणिपुरी समाज को सचेत होने की प्रेरणा देने के साथ ही पराधीनता के बँधनों से मुक्ति का संदेश भी देती हैं। मीनकेतन सिंह ने भाषायी गौरव के साथ-साथ

काव्य सौंदर्य और आलोचना की भाषा की दिशा में महती भूमिका निभाई। अराम्बम दरेन्द्रजीत तथा राजकुमार शीतलजीत ने अपनी पुरातन वैभवपूर्ण संस्कृति के प्रति जागरण तथा अध्यात्म को उकेरा। कमल ने उपन्यास माधवी भी रचा। महात्मा गाँधी की प्रेरणा, सांप्रदायिक ऐक्य, स्त्री के प्रति दृष्टिकोण, सामाजिक इत्यादि लेखन के केंद्र में रहे।

पंजाबी साहित्य में भी गुरुवाणी तक में धरती को माँ मानने की प्रेरणा दी गई थी। अन्य सिख गुरुओं की वाणियों की पृष्ठभूमि भी थी ही। हरिसिंह नलुवा की पीड़ा पंजाबी कविता में छटपटा ही रही थी। अँग्रेजी अत्याचार, हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की आहें और फिर आर्य समाज, गदर लहर, नामधारी सिंह सभा, गुरुद्वारा सुधार आंदोलन के महत्वपूर्ण कार्यो का प्रभाव ही समझें कि कूकियां दी लहर आंदोलन पंजाब का प्रथम क्रांति आंदोलन था। 'शहीदी जीवन' की 'पंछी' कविता में इसे शब्द दिए गए। 'पगड़ी सम्हाल जट्टा' भारतीय अस्मिता को लुटने और किसानों की समस्याओं को राष्ट्रीय दृष्टि से देखने का प्रयास भी इस गीत में हुआ। भारत माँ पर होते अत्याचार, दीन की रक्षा, जालियांवाला कांड पर आई रचना खूनी बैसाखी की चर्चा की अनिवार्य है। राष्ट्रीय हितों की चिंता में भेदभाव का निराकरण, बलिदान, उपदेश, देशानुराग, उदारवाद, प्रेम, भक्ति, मानवता जैसे विषयों पर अमर रचनाएँ लिखी गईं।

ऐसी ही प्रवृत्तियाँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, मराठी, गुजराती, सिंधी, कन्नड़, नेपाली, मलयालम इत्यादि भाषाओं की कविताओं में सहज की उपलब्ध हो जाती हैं। यह इसी तथ्य को रेखांकित करता है कि समूचे भारतवर्ष में 19वीं शताब्दी का साहित्य मातृभूमि, भारतीयता तथा देश की भाषा से प्रेम करते हुए उसकी मुक्ति के प्रति कृतसंकल्प होने की दीक्षा देने वाला ऐसा साहित्य है जिसकी पीठिका मध्यकालीन साहित्य के प्रणेताओं, सुधारकों, समाज आदोलनकर्ताओं ने अपनी मिट्टी और अपने साहित्य, भारतीय साहित्य से तैयार की थी। समस्त भारत विविधवर्णी भाषाओं में, भारत माता और भारतभाषा को अखंड साधना में लगा था।

दो प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ नवजागरणकालीन भारतीय भाषाओं की कविता में मिलती हैं। इनमें से एक है-

1. स्वतंत्रता की इच्छा और परतंत्रता से छूटने की आकांक्षा
2. समाज के विचारों में बदलाव या कहें कि वैचारिक क्रांति।

इन दोनों प्रवृत्तियों के बीज किसी पश्चिमी झोंके से यहाँ

आकर नहीं गिरे अपितु हमारे साहित्य के इतिहास की जड़ों में गहरे समाए थे। भक्तिकाल, बल्कि भक्ति आंदोलन के समय कबीर की प्रहार मुद्रा, भेदभाव पर आघात, तुलसी का जनमानस को जगाने का उपक्रम इत्यादि ने हमारे समाज को एक नवीन चिंतन दिया था, समाज और संस्कृति के प्रति जागरूक बनाया था। सामान्य मनुष्य को जोड़ने वाली भाषा की स्थापना साहित्य में की थी। यदि ये आंदोलन और भी विकास कर पाते तो साहित्य का और भारत का इतिहास ही कुछ और होता। रीतिकालीन साहित्य में भी बहुलता यद्यपि श्रृंगार की है तथापि उसमें प्रचुर मात्रा में राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक चेतना जैसी संकल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं। भूषण का तो समूचा काव्य इसका प्रमाण है। भक्ति काल के कवियों की प्रेरणाएँ रीतिकाल में भी बढ़ीं तथा रहीं और साहित्य का आधुनिक काल आते-आते ये प्रेरणाएं पराधीनता से मुक्ति तथा सांस्कृतिक गौरव के भाव में परिवर्तित हो गई। अँग्रेजों की अमानुषिक यंत्रणाओं तथा अन्यायों ने इसे त्वरा प्रदान की। नवजागरण काल के साहित्य में सामाजिक क्रांति के उपलब्ध तत्व स्वाधीनता के कारण हमारा जर्जर सामाजिक ढाँचा है, अत: स्वाधीनता की प्राप्ति अपने समाज की रूढ़ियों को ढहा कर ही होगी। विश्व साहित्य में स्वाधीनता का इतिहास कहीं भी ऐसा नहीं है।

इतिहास के मूल्याँकन पर भारतीय साहित्य के उपलब्ध तत्व और उनके भक्तिकालीन अवधि से होकर आते स्रोत प्रश्नचिह्न लगाते हैं। मातृभूमि प्रेम, निजभाषा प्रेम, सामाजिक क्रांति और जागरण, राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक गौरव, आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, सहज सौंदर्यदृष्टि, उदात्त मानवता, रोमानियत भरे प्रेम व आदर्श यथार्थ जीवनबोध, अनुपमेय लोक चेतना, संघर्ष तथा कर्म की प्रेरणा, आधुनिकता का संस्पर्श पूरी भारतीय कविता में उस कालावधि में उभरीं। और महत्वपूर्ण यह भी है कि सभी मुख्य भाषाओं की साहित्यिक चेतना के अधिकांश तत्व एक से धरातल पर निकले और समान संलग्नता प्रकट हुई। अँग्रेजों के हित में था कि वे नवजागरण के प्रस्तोता होने का श्रेय लेते तथा अँग्रेजी को भी देते, भारत की सभी भाषाओं को इतना अलग-अलग कर रखते-दिखाते कि कभी एकसूत्रता की पहचान तक हम न कर पाते। अभी भी यह मानसिकता अधिकांश अँग्रेजीदाँ भारतीयों में तथा क्षेत्रीय भाषाओं के नाम पर बँटवारे के बिचौलियों में है जबकि काव्येतिहास के उपलब्ध प्रमाण तक स्वत: इसे नकारते हैं।

हिंदी काव्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वर

डॉ. कुसुम शर्मा

हिंदी काव्य में राष्ट्रीयता के समावेश से पहले, राष्ट्र क्या है? राष्ट्रीय चेतना क्या है, इस विषय में विचार करना अत्यंत आवश्यक है।

राष्ट्र का स्वरूप

पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्र शब्द की परिभाषा या व्याख्या अत्यंत भावपूर्ण रूप में दी है, 'राष्ट्र के माने उस मिट्टी के नहीं होते, जिस मिट्टी पर वह राष्ट्र बसा है, न उस आकाश के होते हैं जो उस पर छाया हुआ है, न उस धन के होते हैं जो उसके पास एकत्रित है, न उस प्रभुता के होते हैं जिसे वह अपनो पर या औरों पर दिखाकर गर्वित है, किंतु उस वचन और कृति के माने राष्ट्र होते हैं, पर उसके निवासियों के जीवन से निकली है, उन्मेष बनकर आती है और इतिहास बनकर ठहर जाती है।'

राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्र संज्ञा प्राप्त जन समूह है, वह मानव के अंतर्तम की श्रेष्ठतम चेतना है जिसके कारण वह समूह पारस्परिक एकरूपता द्वारा राष्ट्र कल्याण के लिए सत्त् प्रयत्नशील रहता है। वह कोई निश्चेष्ट भावना नहीं है, अपितु एक अत्यंत गतिमान, उत्तेजक तथा स्फूर्तिदायक चेतना है जो मनुष्यों के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि के हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। अत: राष्ट्रीयता एक विचार है, एक विचार शक्ति है, जो मानव के मस्तिष्क और हृदय को नवीन विचारों तथा मनोभावों से युक्त कर देती है एवं उसे अपनी चेतना को संघटन क्रिया के कार्यो में परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करती है। राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के लिए विद्वानों ने कुछ तत्वों का होना आवश्यक बताया है-

1. मानव समूह को राष्ट्रीयता का रूप देने के लिए निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है। भौगोलिक जलवायु का व्यक्तियों के शारीरिक गठन तथा मन पटल पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है जिसके कारण उनकी रुचियों, रीति व्यवहारों तथा आदर्शो में एकसूत्रता आ जाती है।

2. राष्ट्रीयता के विकास में समान ऐतिहासिक परंपराओं का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। अतीतकालीन समृद्धि राष्ट्र की असमान्य निधि है। वस्तुत: अतीत में हमारे पूर्वजों ने जो कुछ भी अर्जित किया है, उस पर हम गर्व करते हैं और उसे पुन: भावी जीवन में साकार रूप से देखना चाहते हैं।

3. राष्ट्रीयता के निर्माण में भावात्मक एकता की सर्वप्रथम आवश्यकता ही नहीं, अपितु यह एक अनिवार्य तत्व है। किसी विशिष्ट भूभाग के अंतर्गत रहने वाला जनसमूह ही देश कहलाता है, किंतु राष्ट्रमात्र भौगोलिक सीमाओं तक जनसमूह का समुच्चय नहीं है उसको राष्ट्र की संज्ञा तब तक नहीं दी जा सकती जब तक उसके निवासियों में भावात्मक एकता का प्रसार नहीं होता।

4. प्रत्येक राष्ट्र की निजी संस्कृति होती है जो उसको एक सूत्र में पिरोये रखती है। रीति-व्यवहार, साहित्य, शिक्षा, कला रहन-सहन, जीवनादर्श एवं मान्यताओं सभी का समाहार संस्कृति के अंतर्गत होता है। संस्कृति मानव जीवन वृक्ष का सुगंधित पुष्प है उसकी सुगंध में राष्ट्र की अस्मिता अंतर्निहित होती है।

5. राष्ट्रीयता के निर्माण में धार्मिक एकता एक प्रभावपूर्ण साधन है। धर्म का सामाजिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की भावनाएँ, विचार, जीवन के उद्देश्य, प्रथाएँ तथा मान्यताएँ बहुत अंशों में धर्म द्वारा ही निर्दिष्ट होती हैं। प्राचीनकाल से ही धर्म ने विविध जनसमूहों को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है।

6. अर्थ वर्तमान मानव का यथार्थ सत्य है। जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भी उसकी अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है। आर्थिक उन्नति तथा स्वाबलंबन के अभाव में कोई राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकता।

7. राजनीतिक एकता तथा सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएँ भी राष्ट्रीयता के निर्माण में आवश्यक तत्व हैं। राजनीतिक आकांक्षा की समानता का अभिप्राय एक ही शासन सूत्र में बँधे रहने की भावना है।

हिंदी काव्य में राष्ट्रीय चेतना

आदिकाल हिंदू दासता का काल था। पृथ्वीराज और जयचंद का आपसी द्वेष, जयचंद पर गोरी के आक्रमण के समय चंदेलों की उदासीनता तथा दाहिर पर मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय बौद्धों की निश्चित्ता प्रसिद्ध है। वे तब सचेत होते जब शत्रु सीमा पर ललकार रहा होता। उन्होंने कभी शत्रुओं पर आगे बढ़कर आक्रमण नहीं किया तथा जो वीरता दिखाई प्राय: वह अपना अंत निकट देखकर निराश हो मरने-मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता थी, क्योंकि कायर बनकर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना बेहतर था किंतु वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं। बौद्ध, ब्राह्मण संघर्ष, बौद्ध

मठों का दूषित होना तथा हिंदू धर्म की संकीर्णता भी भारतीयों की पराजय के लिए उत्तरदायी है।

आदिकाल में हिंदी साहित्य के दो रूप उपलब्ध हैं, अपभ्रंश साहित्य और चारण साहित्य। अपभ्रंश साहित्य में स्वयंभू रचित उदर चरिंउ का महत्वपूर्ण स्थान है। कवि ने महाकाव्य में युद्धों के सुंदर चित्र खींचे हैं। प्रिया द्वारा दिये गये पान का अस्वीकार करने वाले और मातृभूमि के सम्मान हेतु मर मिटने के लिए उद्यत योद्धा की उक्ति प्रशंसनीय है-

मइकंतं समाणे वउ दलेहि। गय पण्णें हि रहवर पोष्फलेहिं।।
परवर संचूरिय चुण्णएण। रिउ जय सरि बहुअए दिण्णएव।।

अर्थात् आज से सैन्य दलों, गजवरों, स्थावरों, पोष्फलों और विजयलक्ष्मी रूपी वधू द्वारा दिये गए, नखरों संचूर्णित चूर्ण से स्वयं को सम्मानित करूँगा।

विद्यापति ने कीर्तिलता में राजा कीर्तिसिंह के शौर्य एवं पराक्रम का सुंदर वर्णन किया है। कीर्ति सिंह सैनिकों को स्वतंत्रता का संदेश देते हुए कहते हैं-

'मानविहूना भोजना सतुक देनेल राज।
सरण पइढठे जीअना तीनू काअर काज।।'

(कीर्तिलता)

अर्थात् मानहीन भोजन, शत्रु के दिये गये राज्य का उपभोग तथा शरणागत होकर जीना, ये तीनों कायर के काम हैं।

इसके अतिरिक्त पुष्पदंत, कनकामर मुनि, हेमचंद्र, शांड्गधर तथा बब्बर आदि कवियों का भी काव्य इस दृष्टि से श्रेष्ठ है।

चारण काल के वीर काव्यों में चंदबरदाई रचित पृथवीराज रासो सर्वोत्कृष्ट है। कवि ने पृथ्वीराज की वीरता, पराक्रम, उत्साह एवं शक्ति का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है। महाकाव्य में शौर्य तथा पराक्रम के साथ-साथ जातीय अभियान भी प्रस्फुटित हुआ है। उन वीरों के लिए अपयश सहकर सुखोपभोग करना अत्यंत तुच्छ था और वंश के सम्मान हेतु युद्ध में लड़ते हुए वंश का विनष्ट हो जाना भी सुखप्रद था। चित्तोड़ाधिपति रावज समर विक्रम कहते हैं-

'रसु जाहु जाहि अप जसु लगै, बंस जाय जो जुद्ध मुख।
इमि समर स्वयंध रावलु चले, इनहि जन्त लग्गै न दु:ख।

(पृथ्वीराज रासो)

इस काल की वीरोत्तेजक कृतियों में कालिंजर के राजा परमाल के दरबारी कवि जगनिक रचित आल्हाखंड का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आल्हाखंड में जातीय चेतना का उद्घोष मुखर हो उठा है। कवि को ओजस्वी वाणी जाति को असीम उल्लास प्रदान करती है जिससे कायर व्यक्ति की भी भुजाएँ फड़कने लगती हैं। उसमें जातीय मान कूट-कूटकर भरा है-

'बारह बरस ले कूकर जिए और तेरह ले जिए सियार।
बरस अठारह छत्री जिस आगे जीवन को धिक्कार।।'

(आल्हा खंड)

इसके अतिरिक्त नल्हसिंह भट्ट कृत विजयपाल रासो तथा श्रीधर रचित रणमल्ल छंद में भी युद्धों के सुंदर वर्णन उपलब्ध होते हैं। इस काल के कवियों का प्रधान ध्येय लोक कल्याणार्थ क्षत्रिय-जाति में साहस तथा वीरता का संचार कर उन्हें सद्धर्म एवं सन्मार्ग पर चलाना था।

भक्तिकाल

भक्तिकाल में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय, हिंदू राज्यों की समाप्ति के साथ-साथ वीर गीतों एवं वीरगाथाओं की प्रतिध्वनि भी काल के तीव्र प्रवाह में विलुप्त हो गयी। हिंदुओं के उपासना स्थल ध्वंस किये जाते थे, उनकी संपत्ति लूट ली जाती थी तथा बहू-बेटियों का अपरहण कर लिया जाता था, किंतु वे उनका प्रतिकार तो क्या विरोध करने में भी असमर्थ थे। मुसलमान प्रवर श्रेणी के नागरिक थे। जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे तथा हिंदू अवर श्रेणी में आते थे। जो अपने ही देश में पद्दलित माने जाते थे।

हिंदू समाज बाह्याडंबरों से विकृत, अँधविश्वासों से रूढ़, कृत्रिमता के कारण रीता सा तथा जातपात के कठोर बंधनों के कारण जर्जर हो चुका था। अनेक पंथों में विभाजन होने से उसका वास्तविक रूप नष्टप्राय हो गया था। ब्राह्मण द्वारा निर्मित कर्मकांडों के भव्य प्रसाद इस्लाम की तेज आँधी से उखड़कर मिट्टी में मिल गये थे।

धीरे-धीरे हिंदू-मुस्लिम विद्वेष की आग ठंडी पड़ने लगी। सुख एवं शांतिपूर्ण जीवन की आकांक्षा ने दोनों को पारस्परिक विरोध त्यागने को विवश किया। हिंदू और मुस्लिम दोनों एक दूसरे के रीति रिवाजों को अपनाने लगे। मुस्लिम स्त्रियाँ हाथों में चूड़ियाँ तथा माँग में सिंदूर धारण करने

लगीं और मुस्लिम युवक पगड़ी पहनने लगे। गुजरात के खोजा एवं हुसैन ब्राह्मण, बंगाल के बाउल तथा उत्तरप्रदेश के मलकाना राजपूत हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के मिश्रण के ही परिणाम हैं। फतेहपुर सीकरी के महल, आगरा का ताजमहल और राजस्थान के आमेर आदि के प्रासाद हिंदू-मुस्लिम शैलियों के मिश्रित रूप हैं। संगीत पर भी यह मिश्रित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

निर्गुण भक्तों में संत और सूफी कवियों ने धार्मिक समन्वय के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने जात-पात की भर्त्सना की और भगवद्-भक्ति के द्वार मानव मात्र के लिए खोल दिए। आगे चलकर भक्ति का प्रवाह दो धाराओं निर्गुण और सगुण में प्रवाहित हुआ। संत कवियों ने जातीय ऊँच-नीच की निंदा की और शोषित जनता का पक्ष ग्रहण कर उनको सांत्वना प्रदान की। उनके साहित्य में मानव मात्र की समानता की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है। संत साहित्य शोषण से शोषित जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है ऐसे समाज का निर्माण हो जहाँ ऊँच-नीच का भेद न हो।

मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा मूर्तियों के भंजन से उनकी अशक्तता सिद्ध हो चुकी थी। अनीश्वरवाद की उठती आँधी में सगुण उपासना की बाती जगा पाना प्राय: असंभव ही था। अत: कबीर के समय के अनुकूल निर्गुण भक्ति का आश्रय लिया। उन्होंने जात-पात में जकड़ी निम्नवर्गीय हिंदू जनता में प्राणों का संचार किया। सब एक ही ईश्वर के बंदे हैं, इसलिए आपस में द्वेष, वैमनस्य की भावना व्यर्थ है-

'एकै पवन एक ही पानी, एक जाति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांड़े, एक ही सिरजन हारा।'

(कबीर ग्रंथावली)

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के विकास में गुरुनानक देव ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। नानक ने समकालीन शासकों के अत्याचारों की भर्त्सना की। उस युग में धार्मिक स्वतंत्रता विडंबना बनकर रह गई-

'राजे शीह मुकद्दम कुते। जाए जगा इनि बैठे सुते।।
चाकर नह दा पाइनि धाउ। रितु पित कित हो चरि जाहूँ।'

(श्री गुरु ग्रंथ साहिब)

रैदास (रविदास) ने भी जातीय ऊँच-नीच का विरोध किया। दादू दयाल ने जात-पात के निराकरण तथा धार्मिक समन्वय का

संदेश दिया।

सगुण भक्तों ने भी कृष्ण भक्ति शाखा तथा रामभक्ति शाखा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। निर्गुण भक्तों के प्रयत्नों से धार्मिक सद्भाव की स्थापना को बल मिला, किंतु हिंदू जाति की आंत्मा भय एवं आशंका से परित्राण न पा सकी। सिक्ख धर्म का प्रचार प्रदेश विशेष तक सीमित रहा। सिद्धों के चमत्कारों, नाथें के हठयोग, निर्गुण संतों की अटपटी वाणी और सूफियों के प्रछन्न धर्म-प्रचार से हिंदू-समाज के सम्मुख संकट उपस्थित हो गया था। अत: भारतीय संस्कृति से समन्वित ऐसी सगुण भक्ति की आवश्यकता थी, जो संतप्त मानव को धैर्य बंधा सकती। कृष्ण और राम की सगुण भक्ति पद्धति इसी का परिणाम था, प्रथम शाखा का नेतृत्व सूरदास ने और दूसरी शाखा का नेतृत्व गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया। राम-कृष्ण के चरित्रों द्वारा ऐतिहासिक या व्यावहारिक दृष्टि से हमारे राष्ट्रीय जीवन की सहस्रों समस्याओं पर पूर्ण प्रकाश पड़ा और दार्शनिक दृष्टि से ये ही हमारे पराक्रम, नि:शेष आशा तथा एकमात्र मति-गति है।

सूर की गोपियाँ तत्कालीन हिंदू समाज की प्रतीक हैं। कवि का मत है कि जैसे गोपियाँ लज्जा को भूलकर एक स्थान पर एकत्र हुईं तथा कृष्ण के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया, वैसे ही हिंदूओं को भी कष्ट मुक्ति हेतु आपसी विरोधों को समाप्त कर एक नेता के नेतृत्व में संगठित होना होगा।

इस प्रकार भक्तिकाल में कवियों ने राष्ट्रवादियों में पारस्परिक साहचर्य की भावना स्थापित करने का प्रयत्न किया। कबीर, जायसी, नानक ने इस दिशा में उल्लेखनीय काम किये। सूर और तुलसी ने वाह्याडंबरों एवं जातीय उँच नीच को अनुचित बतलाया और प्राचीन संस्कृति की रक्षा का भी संदेश दिया। उन्होंने अतीत का सहारा लेकर तत्कालीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया।

रीतिकाल में हिंदू समाज के मूलरूप में विकृति आ चुकी थी, जादू टोने का प्रचलन आरंभ हुआ और लोग पीर पैगंबरों की ओर आकृष्ट हुए। राधा और कृष्ण हुए। राधा और कृष्ण अलौकिक स्वरूप को खोकर साधारण नायक नायिका बन गए। उच्च वर्ग में विलासिता का प्राधान्य था। किसानों व मजदूरों की दशा शोचनीय थी। सचमुच उस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े थे। इन्हीं के आँसू और रक्त की बूंदें जमकर अमीरों के मोती और लाल का रूप धारण करती थी।

कर्मचारी गणराज्य का और अपना उदर किसानों का खून चूस-चूसकर भरते थे। मजदूरों और कारीगरों को यों ही पगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मजदूरी अक्सर कोड़े होती थी।

इस कंाल के कवियों ने वीरों की विरूदावली द्वारा राष्ट्र एवं जाति को प्रेरणा प्रदान की। गोराब बादल की कथा में कवि जटमल ने प्रख्यात हिंदू वीरों को गोरा एवं बादल के पराक्रम के वर्णन द्वारा प्रेरणा दी है।

कवि भूषण की राष्ट्रीय चेतना का मुख्य आधार छत्रपति शिवाजी हैं। औरंगजेब की सांप्रदायिक नीति का विरोध करने वालों में शिवाजी मुख्य थे। उनके सद्‌गुणों की प्रशंसा अनेक विद्वानों ने की है। शिवाजी की योजना में एक अखिल भारतीय आंदोलन शामिल था।

लाल कवि (गोरेलाल) रचित छत्र प्रकाश में वीर रस का अजस्र प्रवाह है। सुजानचरित्र में सूदन ने भरतपुर के राजा सूरजमल जाट के प्रचंड पराक्रम का वर्णन किया है। हम्मीर हठ में कवि चंद्रशेखर ने रणथम्भौर के राजा हम्मीद के प्रेरणाप्रद चरित्र द्वारा जाति को उसके कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया।

इस प्रकार इस काल के कवियों के काव्य में व्यापक भावना का प्रायः अभाव रहा, परंतु जो कार्य उन्होंने सीमित रूप में किया वह भी राष्ट्रीय भावों से प्रेरित होकर ही किया, अतः राष्ट्रीय गौरव से खाली नहीं। इस युग के वातावरण की कसौटी पर कसने से ये वीर काव्य की कोटि में ही रखे जाएँगे, क्योंकि संकीर्णता एवं व्यापकता तो काल चेतना की अनुगामी है। हिंदी वीर काव्यों को भारत राष्ट्र के रूप में विकसित अभिधारणा को समझाने का आधार मानना चाहिए।

भारतेंदु युग के साहित्य को सामाजिक एवं संस्कृति पुनर्जागरण का साहित्य कह सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस पुनर्जागरण के पुरोधा थे। वस्तुतः भारतेंदु का संपूर्ण व्यक्तित्व इतना महान था कि उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ ही भारतेंदु युग की विशेषताएँ हैं यह युग संक्रांति का युग था। पुराने आदर्श एवं मान्यताएँ ध्वस्त हो रही थीं किंतु नये आदर्श एवं मान्यताएँ स्पष्ट नहीं हो पायी थीं। मुद्रण कला के प्रसार के साथ-साथ अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं, जिनमें भारतेंदु द्वारा सम्पादित हरिश्चंद्र मैगजीन, हरिश्चंद्र चंद्रिका, कवि वचन सुधा, प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संपादित ब्राह्मण बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित हिंदी प्रदीप बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' द्वारा संपादित भारत मित्र आदि हैं। इस युग की

राष्ट्रीय चेतना के लिखित रूप हैं-

1. इस समय अतीत का गुणगान किया गया। अतीत काल में अपनी धनसंपदा, सभ्यता एवं संस्कृति के लिए यह काल प्रख्यात है। परतंत्र देश के लिए यह गर्व की बात है कि उसका अतीत गौरवपूर्ण रहा है। गौरवमय अतीत के सहारे ही गौरवमय भविष्य की आशा की जा सकती हे। प्रतापनारायण मिश्र का स्वदेश के महान अतीत पर अभियान निम्नलिखित पंक्तियों में दृष्टिगोचर हो रहा है-

'बाल्मीक मुनि, सत्यवति सुत, कालिदासआदिक मतिधाम।
त्यागि गये सब भूमि अभागिन, करै परम पद में विश्राम'।।

2. इन कवियों ने देश-दुर्दशा के प्रति तीव्र क्षोभ प्रकट किया है। अँग्रेजों ने व्यापारिक क्षेत्रों में पक्षपातपूर्ण नीति अपनाई, प्रेमधन ने शासन की इस स्वाथपूर्ण नीति का विरोध किया-

'लूटि विलायत भारत खाय। माल ताल बहु विधि फैलाय।।
ताकों मासूली छूटि जाय। जायैं लागै लाभ दिखाय।।'

3. उस समय परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं, जिनमें राष्ट्र भक्ति तथा राजभक्ति की भावना का एक साथ रहना स्वाभाविक था। भारतेंदु ने जहाँ अँग्रेजी राज्य की प्रशंसा की वहाँ शासन द्वारा आर्थिक शोषण के फलस्वरूप देश की आर्थिक दुर्दशा की ओर संकेत करते हुए दु:ख भी प्रकट किया-

'अँग्रेज राज सुख साज सब भारी।
पै धन विदेशचलि जात यहै अति ख्वारी।'

4. राष्ट्रीय जनजागरण के लिए भारतेंदु जी ने मातृभूमि के लिए अटूट प्रेम प्रदर्शित किया। स्वदेश के उत्थान के विरूद्ध रहने वाला मनुष्य जड़वत है। इस युग के कवियों ने शासक शासित के मध्य अंतर को अभिव्यक्ति किया तथा शासित वर्ग में गौरव एवं स्वत्व की भावना उत्पन्न की। उन्होंने उज्ज्वल अतीत को प्रस्तुत कर हीनता समाप्त करने का प्रयास किया। आलोच्य युग की राष्ट्रीयता में विरोध का स्वर तो मुखर है परंतु उसमें सीधे संघर्ष का अभाव है तथा युयुत्सु भावना नहीं है।

द्विवेदी युग के हिंदी काव्य के सभी अंगों के भाव या अभाव पक्ष पर द्विवेदी जी की छाप है। इस युग की राष्ट्रीय कविता स्वप्न से यथार्थ, दुराशा से आशा, अनास्था से विश्वास, आत्महीनता से आत्मगौरव और नवजागरण के स्पंदन से निर्माण की चेतना की ओर अग्रसर हुई।

इस युग के कवियों ने राष्ट्रीय चेतना को गति देने के लिए

अतीत दर्शन से गौरव गर्वित वातावरण का निर्माण किया। आत्मस्मृति उत्थान का सशक्त आधार है। मौर्य विजय में सियाराम शरण गुप्त ने अतीत गौरव के माध्यम से परतंत्र देशवासियों में स्वाभिमान एवं उत्साह भरने का प्रयत्न किया है-

'जग में अब भी गूँज रहे हैं गीत तुम्हारे।
शौर्य वीर्य्य गुण हुए न अब भी हम से न्यारे।।'

इस युग में काव्य द्वारा समाज की अभावग्रस्त अवस्था की विशद एवं सजीव चित्रण किया गया है। संपूर्ण हिंदी कविता की परंपरा में यदि किसी काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने का धर्म पालती है तो वह है द्विवेदी काल की कविता। तत्कालीन समाज अनेक दुर्गुणों से ग्रस्त था। कवि शंकर ने रूढ़ियों, अँधविश्वासों और वाह्याडंबरों की तीखी आलोचना की। उन्होंने कर्मकांडों का प्रतिवाद किया तथा धार्मिक महंथों पर कड़े प्रहार किये। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी राष्ट्र कल्याण के लिए स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की आवश्यकता पर बल देते थे-

'क्यों है तुझे पर विदेश राज देश भावे।
क्यों है तदर्थ फिरता मुँह नित्य बाथे।।
तूने किया न मन में कुछ विचार।
धिक्कार भारत तुझे शत कोटि बार।'

इस युग के कवियों ने देश के पुनरुत्थान तथा आशाप्रद भविष्य के लिए संदेश भी दिया है। कवि त्याग एवं प्रयत्न के राष्ट्रीय उन्नति का मेरूदंड मानता है। यदि राष्ट्रवासी कर्त्तव्य के प्रति सचेत हैं तथा उनके अंत:करणों में राष्ट्रीयता की भावना प्रवाहमान है तो राष्ट्र पुन: उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच सकता है-

'प्राचीन और नवीन अपनी, सब दशा आलोच्य है।
अब भी हमारी अस्ति है, तथापि अवस्था शोच्य है।।'

(भारत-भारती, मैथिलीशरण गुप्त)

इस युग के कवि प्राचीन संस्कृति के गुणगान द्वारा अतीत के प्रति निष्ठा जागृत करना चाहते थे। कवि शंकर जी ने भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत और ब्रह्मविद्या के प्रति आस्था जगाई।

'मिलाकर सर्वतंत्रों से पढेंगे वेदचारों को।
प्रमाणों की कसौटी पर कसेंगे सद्विचारों को।।
तपोधन ब्रह्मविद्या के लिए सर्वस्व वारेंगे।
भलाई को न भूलेंगे तुझे भारत सुधारेंगे।।'

इन कवियों ने नारी की दुर्दशा को चित्रित कर और समाज के इस अर्धांग को पुरुष के समान चैतन्य एवं प्रगतिशील देखने की आकांक्षा व्यक्त की है। ये बाल विवाह और वृद्ध विवाह के विरोधी हैं-

'करे कुमारी जिसकी चाह, रचे उसी के साथ विवाह
बँधे ने बारे वर के साथ, बिके न बूढे नर के हाथ।।
(भारत भक्ति)

इस युग के कवियों ने वीरांगनाओं की वीरता का चित्रण भी उत्साहपूर्ण रूप से किया है।

इस युग के कवि अब राष्ट्र का उत्कर्ष जातीय एकता में प्रतीत करते थे। राय देवी प्रसाद जी पूर्ण भी जातीय सौहार्द का आह्वान करते हैं। उनका मानना है कि सभी मनुष्य ईश्वर के बंदे हैं, अत: आपसी विवाद निरर्थक है।

आलोच्य काल में लोक सेवा का भाव भी विद्यमान है। हरिऔध जी के प्रिय प्रवास के कृष्ण लोक रक्षक और राधा लोक सेविका के रूप में चित्रित किये गए हैं।

द्विवेदी परवर्ती युग

इस युग के कवियों ने राष्ट्रीय आंदोलनों में यथाशक्ति योगदान दिया। उन्होंने लेखनी द्वारा राष्ट्र के स्वाधीनता संग्राम को केवल सफल बनाने का प्रयत्न ही नहीं किया, अपितु स्वयं बंदी जीवन की यातनाएँ भोगी हैं तथा सहर्ष उनके कष्टों को सहन किया है। इसलिए इस युग के राष्ट्रीय काव्य में पूर्ववर्ती युगों के राष्ट्रीय काव्य की अपेक्षा राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना है। स्वदेश प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता की गहरी अनुभूति है और प्राणोत्सर्ग की अदम्य उमंग है। राष्ट्रीय काव्य प्राय: देशभक्ति की भावना की प्रतिकृति की अदम्य उमंग है। राष्ट्रीय काव्य प्राय: देशभक्ति की भावना की प्रतिकृति रहा है। इन्होंने प्राचीन वैभव एवं पराक्रम द्वारा जागरण का संदेश दिया है। आधुनिक काल की राष्ट्रीय वीणा का सबसे ऊँचा सांस्कृतिक स्वर अतीत का गौरवगान नहीं है। सुभद्रा कुमारी चौहान की ओजस्वी कविताओं ने अपूर्व उत्साह का संचार किया। उनकी झाँसी की रानी कविता राष्ट्र की तरूणाई को स्वाधीनता के लिए संघर्षरत रहने का पावन संदेश सुनाती है-

'सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नई जवानी थी।।'

भारत में अँग्रेजी शासन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शोषण ही था। ब्रिटिश शासकों ने कृषि की आत्मनिर्भर प्रणाली और कुटीर उद्योग का विनाश करके इस देश के आर्थिक ढाँचे को छिन्न भिन्न कर दिया। कवियों ने अन्यायपूर्ण नीति का विरोध किया और स्वदेश की आर्थिक विपन्नता का मार्मिक अंकन किया है-

'वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
वे बच्चे भी यहीं कब्र में दूध दूध, जो चिल्लाते हैं।।'

(हाहाकार हुंकार- रामधारी सिंह 'दिनकर')

कृषि और उद्योग भारत की आर्थिक सुव्यवस्था के सुंदर आधार हैं। इसलिए कृषकों और श्रमिकों के उत्थान के अभाव में राष्ट्र की उन्नति असंभव है। दूसरों का भरण पोषण करने वाला किसान स्वयं झाड़ फूँस के शिखरों में रहने के लिए विवश था। पंत जी ने ये भाव अपनी निम्नलिखित पंक्ति में व्यक्त किए हैं-

'यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है, नरक, अपरिचित।
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।।'

आर्थिक शोषण का मुख्य आधार पूँजीवाद है। जिससे पूँजी कुछ लोगों के हाथों में ही सिमट कर रह जाती है। राष्ट्रीय विकास के लिए पूँजी पर नियंत्रण अति आवश्यक है, यदि ऐसा न हुआ तो आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। निराला जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ व्यंग्यात्मक शैली में इसी ओर संकेत कर रही हैं-

'अबे, सुन बे, गुलाब। भूल मत जो पाई खुशबू, रंगोआब।।
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट, डाल पर इतराता है कैपटलिस्ट।।'

(कुकुरमुत्ता)

राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए वाह्याडंबरों का विनाश आवश्यक है। अँधविश्वास और रूढ़ियों से ग्रस्त जनता उन्नति के शिखर पर कैसे अग्रसर हो सकती है? गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, पंत जी, भगवती चरण वर्मा आदि कवियों ने इसका कड़ा विरोध किया।

स्वतंत्रता के पश्चात् के काव्य की राष्ट्रीय भावना अपने पूर्ववर्ती युगों की भावना से भिन्न है। स्वतंत्रता से पूर्व आधुनिक काल में परतंत्रता से मुक्ति ही राष्ट्रीयता की मुख्य भावना थी, किंतु अब काव्य में राष्ट्रीयता के अंतर्गत राष्ट्र के सर्वोन्मुखी विकास की भावना प्रधान हो गयी। कवियों की वेदना एवं बलिदान के स्वर में अब विजय का उद्घोष था।

लेकिन 1962 ई. में चीनी आक्रमण के समय समस्त राष्ट्रवासी धर्मगत, जातिगत और वर्गगत भेदों को भूलकर राष्ट्र की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जुट गए। हिंदी काव्य भी इस लहर से अछूता नहीं रहा। कवि ने गीता और आल्हा के अमर आदर्शों के माध्यम से भारतीयों को बलिदान देने के लिए प्रेरित किया। सं. मोहन गोस्वामी जी ने इन्हीं विचारों को रणभेरी रचना में प्रकार व्यक्त किया है–

'हम जन्मजात अभिमानी हैं, मत समझो भाल झुका देंगे।
कितनी ही महंगी मिले विजय, शीशों से मोल चुका देंगे।।'

इस प्रकार हिंदी काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं की भगीरथी कभी उद्दाम और कभी मंद-मंद रूप से निरंतर प्रवाहित होती रही। आदिकाल में राष्ट्रीयता का संकुचित रूप उपलब्ध होता है। यद्यपि भारतीयों में स्वदेश प्रेम की अदम्य उमंग थी। भक्तिकाल में कबीर तथा जायसी ने राष्ट्र को धार्मिक सद्भाव का संदेश दिया। सूर और तुलसी ने समाज के विशृंखल जीवन को दृढ़ता प्रदान करने का प्रयत्न किया तथा धर्म का वास्तविक रूप प्रस्तुत किया। रीतिकाल में औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के फलस्वरूप जातीय राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिक काल के भारतेंदु युग में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। द्विवेदी युगीन राष्ट्रीय काव्य में अतीत के गौरवमय आख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कवियों ने सामाजिक अंधविश्वासों का विरोध किया तथा नारी उत्थान का समर्थन किया। द्विवेदी परवर्ती युग के राष्ट्रीय काव्य में राष्ट्रीयता का प्रवाह सबसे तीव्र है। उसमें उत्कृष्ट स्वदेश प्रेम के साथ-साथ स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान की प्रारचेतना है। कवियों ने वाह्याडंबरों व पूँजीवाद का विरोध किया। उन्होंने राष्ट्र की आर्थिक दुर्दशा तथा कृषकों एवं श्रमिकों की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण किया। राष्ट्रीय उत्थान हेतु स्वदेशी आंदोलन और हिंदू मुस्लिम एकता पर बल दिया। स्वातंत्र्योत्तर युग में राष्ट्रीय भावना में परिवर्तन आया। इस युग में राष्ट्रीय साहित्य व काव्य में राष्ट्र राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष की भावना मुख्य है।

साहित्य में राष्ट्रीय एकता की भावना

डॉ. चंद्रशेखर सिंह बेलावत

प्रत्येक जागरूक एवं चेतनशील रचनाकार अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी रचना में राष्ट्र की भावना को प्रतिध्वनित करता हुआ युग चेतना को स्वर प्रदान करता है। स्वदेशी भावना के अंतर्गत देश की प्रतिष्ठा, स्वाभिमान और सम्मान के लिए भारतवासियों में अपनी भाषा, बोली तथा अपनी भूमि से जुड़े गीत तथा साहित्य की विभिन्न विधाओं यथा कहानी, कविता, निबंध, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वृतांत आदि में रचनाकार देशवासियों के स्वर को अपने स्वरों में अभिव्यक्त करता है।

जिस प्रेम की भावना से भक्त तथा देश के नागरिक मंदिर-मस्जिद, गुरुद्वारा तथा गिरजाघरों में पूजा अर्चना करते हैं, देश-विदेश में क्रिकेट या अन्य खेलों को देखते हुए भारत के पक्ष में रन बनने अथवा जीत दिखाई देने पर देशवासी खुशी से सराबोर हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार साहित्यकार व लेखक भी देश में घटित घटनाओं और समाज की यथार्थताओं पर अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं तथा खेल की तरह देश प्रेम से ओत-प्रोत हो वे अपने देश में भय, भूख और भ्रष्टाचार मिटाने, नैतिकता अपनाने, मातृशक्ति का मान सुरक्षित रखने तथा देश के चहुँमुखी विकास में योगदान करने हेतु साहित्यकार साहित्य सृजन करता है।

हम इस बात से अवगत हैं कि हिंसा एवं आतंकवाद की वजह से जारी खूनी जंग ने आम जनजीवन को तंग-तबाह कर दिया है। निर्दोष और निरीह इंसान का खून बहाया जा रहा है। लूट एवं रक्तपात के चलते वर्तमान युग के हालात कयामत से भर गए हैं। स्वाभाविक है इस हालात से रचनाकार अपने को अनभिज्ञ नहीं रख सकता। इस पर हुई अनुभूतियों को वह शब्दबद्ध करने के लिए बाध्य होता है और यही है साहित्य सृजन।

सच तो यह है कि मानव की स्वतंत्रता जीवन और समाज में नहीं, अपितु साहित्य और कलाओं में सुरक्षित है। इनमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होती है, क्योंकि साहित्यकार के पास मौलिकता का आकाश और अनुभव की लंबी उड़ाने हैं। इसलिए वह अपने विचारों को लिपिबद्ध करता है और विचारों की अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन ला सकता है। निराला, पंत, प्रेमचंद, रेणु, मैथिलीशरण गुप्त, सुब्रह्मण्य भारती,

तिरुवल्लुवर, नारमक्कल रामलिंगम, विनायकम पिल्लै, कोत्तमंगलम सुब्बु, एस.डी. सुंदरम् भारती दासन, कवित्तजर, शरदचंद, बंकिमचंद्र, अज्ञेय तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि ने उच्च कोटि का साहित्य सृजन कर देश व समाज को नई दिशा दी है। साहित्य के माध्यम से समाज और राष्ट्र का मूल्याँकन कर करता है। इस प्रकार एक ओर समाज साहित्य से प्रभावित होकर उसे प्रतिबिंबित करता है, तो वहीं दूसरी ओर उसे परिवर्तित तथा संशोधित करने में अपनी अहम भूमिका निभाता है। वैसे साहित्य का उद्देश्य भी सामाजिक एवं राष्ट्र का विकास रहा है। यह मनुष्य के किसी वर्ग, जाति, भाषा अथवा देश तक सीमित न होकर अपने विभिन्न रूपों में समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य करता है। इसका मूल दृष्टिकोण मानव कल्याण, सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता तथा उत्थान रहा है। इसने सदैव लोगों को प्रांतीयता, छुआछूत, जातिवाद, सांप्रदायिकता, अनुशासनहीनता, स्वार्थपरकता आदि की भावनाओं एवं भाषाई संघर्ष से ऊपर उठने का संदेश दिया है। इसके साथ ही साहित्य मानवीय मूल्यों का सामंजस्य करता है। साहित्यकार आम आदमी के दुख-दर्द और संघर्षो के साथ-साथ देशभक्ति की भावना को भी अपने लेखन में समेटता है, क्योंकि सुचिंतित ढंग से लिखना इनके लेखन-लक्ष्यों में सम्मिलित है। सामान्यत: साहित्य में मानव जीवन प्रतिबिंबित होता है। वह समस्त मानव को एकता के सूत्र में पिरोने का काम करता है।

राष्ट्रीय एकात्मकता का सवाल तभी खड़ा होता है जब एकता के खिलाफ की ताकतें बलवती हों, भारत पर पश्चिमी लोगों के आक्रमण और उनके सत्तारूढ़ होने तक भारत अनेक राजा महाराजाओं, नायक सरकारों आदि द्वारा शासित था। देश छोटे-छोटे राजा रजवाड़ों, सरदारों, नवाबों तथा जमींदारों द्वारा टुकड़ों में बँटा हुआ था, उसे एक शासन के तहत लाने का कार्य लौह पुरुष सरदार पटेल ने अपनी सूझ-बूझ और कौशल का भरपूर उपयोग किया। अधिकांश देशी रियासतों के नरेशों ने भारत के साथ विलयन की सहमति प्रदान की। जूनागढ़, हैदराबाद की रियासतों का भी विलय भारत में किया गया।

इसी प्रकार आजादी के बाद विभिन्न भाषावार प्रांतों में बँटा हुआ भारत आज एकता के सूत्र में बँधा है। बहुभाषा-भाषी एवं विविध संस्कृतियों के इस देश को एक सूत्र में पिरोने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों ने। विभिन्नता में सांस्कृतिक एकता के

तत्व विद्यमान हैं। इसलिए कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक हमारी प्राचीन परंपरा, सभ्यता और संस्कृति के तत्व आज तक अक्षुण्ण रहे हैं। कारण कि साहित्य के अंतर्गत राष्ट्र, जाति, रंग, वर्ण, वर्ग आदि भेद वृत्तियों को लाँघकर समस्त मानव को अपने बंधु के रूप में स्वीकार करने की उनकी मानसिक वृत्ति रहती है। चाहे रीति-कालीन प्रगीत हों, प्रबंध काव्य का युग हो, नीति काव्य हो या भक्तियुगीन काव्य सबका मूल दृष्टिकोण मानव कल्याण एवं सामाजिक एकता और उत्थान ही रहा है। भले ही धार्मिक और सांप्रदायिक क्षेत्र में उतार-चढ़ाव रहे हों फिर भी साहित्य का मूल ध्येय मानव कल्याण ही रहा है।

आजादी के पूर्व इस देश के रचनाकारों के मन में देश को जल्दी से जल्दी अँग्रेजी के चंगुल से मुक्त कराने की छटपटाहट थी। आखिर तभी तो कई राष्ट्र के कवियों के गीतों में राष्ट्रीय एकता के स्वर देखने को मिलते हैं। सुब्रह्मण्य भारती की एक कविता के भाव में उनके अनेकता में एकता ढूँढ़ने के स्वस्थ चिंतन को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

'भारतमाता तीस करोड़ मुखवाली है,
मगर उन सबमें चेतना एक ही है।
अट्ठारह भाषाएँ भले ही बोली जाएँ
तो भी सबका चिंतन एक समान है।'

इसी प्रकार दक्षिण और उत्तर को एक सूत्र में पिरोने की बात कर वे भारतीय एकता के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं-

'सिंधु नदी में चांदनी रात में,
चार प्रदेश की सदा भक्तियों सहित,
मधुर तेलुगु भाषा में गीत गाते हुए,
किश्ती चलाते खुशी मनाएँगे।
हम सब एक जाति के हैं, सब एक वर्ग हैं।
हम सब भारतवासी हैं,
सब समान हैं, सबका मान-मूल्य एक समान हैं,
हम सब इस देश के राजा हैं।'

सभ्यता और संस्कृति की प्रथम रश्मियाँ भारत में प्रस्फुटित हुई थीं। भारत जगद्गुरु रहा और भारत ने आचार, विचार, संस्कार का पाठ सारी दुनिया को पढ़ाया। परिवर्तन की आंधियों ने जाति और धर्म तक को प्रभावित किया, परंतु सभ्यता एवं संसंकृति का कुछ अंश आज भी यहाँ

सुरक्षित है। इसकी सुरक्षा के पीछे आर्य परंपरा के महान ऋषियों की अमर वाणी और इस देश के चिंतकों-विचारकों के यथार्थवादी चिंतन-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वैसे भी मौलिक चिंतन और स्वस्थ समाज की चिंता में ही साहित्यकार जीता है। वह सदैव इस बात के लिए चिंतित रहता है कि वैचारिक क्षमता को सर्वथा अस्पष्ट छोड़ देने से देश विकास के क्रम में कितने पीछे छूट जाएगा, कहना मुश्किल है। यही कारण है कि लेखक व साहित्यकार स्वस्थ समाज एवं मंगलकारी जीवन के नव विहान के लिए स्वस्थ चिंतन करता है, ताकि परिवर्तन की बुनियाद तैयार हो सके। साहित्यकार सोच के दायरे को अनेकांतवाद का विस्तार देता है। समय की बदलती करवट में और विकास की अँधी दौड़ में जीवन के मूल्यों की सुरक्षा करने का प्रयास करता है, जीवन के मूल्य का निकटता से अनुभव करता है। अतीत का अंकन और वर्तमान की अपेक्षाओं का मूल्याँकन कर गौरवशाली भविष्य के निर्धारण की जमीन तैयार करता है। वह खदान से निकले पाषाण की तरह अपने पुरुषार्थ के द्वारा जीवन को तरास कर प्रतिमा का रूप देने की कोशिश करता है, ताकि आम जन प्रेरित हो सके।

आज समाज में जो शोषण है, अन्याय है, दु:ख-तकलीफ है, उसमें पश्चिमी आंदोलन की इतनी ही भूमिका है कि वह शोषण और अन्याय की पहचान करा सकता है। मगर मन:स्थिति के परिवर्तन के लिए आंतरिक संघर्ष छेड़ना होगा। यह भारत से ही संभव है। विश्व साहित्य के प्रमुख कवि आक्होवियोपोज ने भी कहा है कि 'पश्चिम में जितनी क्रांतियाँ हुई हैं, वे विफल साबित हुई, क्योंकि उन क्रांतियों की अवधारणा राजनीतिक रही है। फ्रांस, अमेरिका और रूस की क्रांतियों ने वस्तुत: अपने परिणामों में मानवता के गुढ़ अर्थो को नष्ट किया है। आज हमें एक ऐसी विश्व सभ्यता की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक आकांक्षा और कविता के आंतरिक अनुशीलन का समन्वय हो। इसमें सौ साल लग जाएँ मगर भविष्य के लिए दृष्टि शायद भारत से ही मिल सकती है।'

पॉज ने भारत को लैटिन अमेरिका में ही देखा और जाना मगर रू-ब-रू होने के लिए भारत का दौरा किया। उन्हें, अपने दृष्टिकोण को यहाँ और मजबूत करने में सफलता मिली। लेकिन हम हैं कि पश्चिम की ओर देखे जा रहे हैं। तात्पर्य यह कि यही एक ऐसा देश है जहाँ के लोगों के चिंतन और भारतीय अवधारणा को अपनाने के लिए दूसरे देश के लोगों को विवश होना पड़ेगा। इसलिए उम्मीद की जानी चाहिए, कि हम

भारतीय खुद भी अपनी जड़ों की ओर लौटेंगे। दरअसल वैज्ञानिक विकास और आर्थिक उदारवाद ने नैतिकता के ह्रास का ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया है कि इससे हर आदमी के विश्वास की चूलें हिल गई हैं। प्रजातांत्रिक संस्थाएँ उसकी चपेट में बुरी तरह आ गई हैं और उसकी नीयत बदल गई है। आज जरूरत इस बात की है कि हम अपनी नैतिकता को वैज्ञानिक स्वरूप दें, ताकि वह समसामयिक हो सके। अगले चिंतन या आत्म-संघर्ष को सामूहिक चिंतन और सामूहिक संघर्ष की ओर ले जाएँ। तभी सुनहले भविष्य की उम्मीद की जा सकती है। इस कार्य में भी साहित्य की भूमिका अहम होगी, क्योंकि साहित्यकार सम-सामयिक परिदृश्य के मद्देनजर चिंतन एवं संघर्ष का सामूहिक चिंतन और सामूहिक संघर्ष के लिए दिशा देंगे। जो साहित्यकार आधुनिक समाज की जटिल यांत्रिकता को समझने की कोशिश में हैं, वे निश्चित तौर पर अपने समाज व देश की विकास-अवधारणा को संस्कृति-धर्म से जोड़ने के लिए अपने विचारों को शब्दबद्ध कर रहे हैं। इससे न केवल समाज टूटने से बचेगा, बल्कि व्यक्तित्व का विघटन भी रुकेगा और स्वस्थ समाज की स्थापना हो सकेगी, जिससे सबल राष्ट्र की कल्पना की जा सकती है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि सृजनशीलता और वैज्ञानिक अनुसंधानों को सामाजिकता से जोड़ा जाए। सार्थक निरर्थक, सकारात्मक, नकारात्मक दोनों विकल्पों पर विचार किया जाए, तभी मानवता के सही विकास की कल्पना की जा सकती है। अन्यथा यह प्रश्न उठता ही रहेगा कि मानवता का भविष्य अंधेरे की ओर क्यों बढ़ रहा है? मानसिक प्रदूषण को समाप्त करने के लिए वैचारिक क्रांति का सहारा लेना होगा। यह कार्य साहित्य के सृजन-धर्मी के ही बस की बात है, क्योंकि वही अपने साहित्य-सृजन के जरिए लोगों में वैचारिक चेतना जागृत कर सकते हैं।

सभ्यता और संस्कृति के वर्तमान दौर का जो स्वरूप है वह ऐसा क्यों है, राष्ट्र के प्रति यहाँ के वासियों की अवधारणाएँ क्या हैं, इसे जानने-परखने के साथ समग्र दृष्टि के विकास का जिम्मा है देश के सजग चिंतकों-विचारकों और साहित्यकारों का, जो अपनी रचनाओं के माध्यम से हमें स्वयं को बेहतर समझ पाने का आधार तैयार करते हैं। हमें आज ऐसा प्रतीत होता है कि जो स्वरूप हमारा आज है वह अनायास ही नहीं है। इसमें एक क्रमिकता है और यही क्रमिकता हमें अतीत पर गर्व करने के लायक बनाती है। बीता हुआ कल तमाम संगतियों-विसंगतियों के बावजूद रोचक, सार्थक और तार्किक प्रतीत होता है, किंतु यह रोचकता,

सार्थकता और तार्किकता यूँ ही निर्मित नहीं होती। इसके लिए देश के विचारकों एवं प्रबुद्धजनों व लेखकों को रुचि लेनी पड़ती है लोगों में। कौन सी बातें लोगों को प्रेरित करती हैं, मान्यताओं व मूल्यों का निर्माण कैसे होता है, सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन की क्या अवधारणा है, धर्म की क्या भूमिका है, महिलाओं, बच्चों एवं भारतीय भाषाओं की क्या स्थिति है इन सभी बातों को जानने-समझने की रुचि पैदा करनी होती है जिसमें साहित्यकार यानी रचनाधर्मिता से जुड़े लेखक ही सक्षम हैं। वही साहित्यकार अपनी सभ्यता की निरंतरता को सहेजने की स्वैच्छिक पड़ताल करता है, ताकि राष्ट्र गौरव के प्रति समर्पण का भाव पनप सके और हम प्राचीनतम सभ्यता के होने का मर्म विश्व के समक्ष रख पाएँगे। निष्कर्ष यह कि अपने राष्ट्र, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की उत्तरजीविता सुनिश्चित करने में प्रबुद्धजनों, रचनाकारों, पत्रकारों एवं विचारकों की केंद्रीय भूमिका को स्वीकार करते हुए आगे आना होगा।

भक्ति काव्य : उदात्त मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा

डॉ. द्वारिका प्रसाद 'चारूमित्र'

'सुनो रे मानुष मानुष भाई
सबार ऊपरे मानुष सत्य,
ताहार ऊपर नाइं।' - चंडीदास

हिंदी कविता आरंभ से ही मानव-मूल्यों को व्यक्त करती रही है, किंतु मानव मूल्यों की जैसी प्रतिष्ठा मध्ययुग के भक्ति-काव्य में दिखलाई पड़ती है, वैसा उससे पहले न हो सका। हिंदी का भक्ति-काव्य उस विराट् सांस्कृतिक आंदोलन की एक अविच्छिन्न कड़ी है, जिसके फलस्वरूप दक्षिण से लेकर उत्तर तक पूरे भारत में जागरण की एक लहर दौड़ गयी और उसने संपूर्ण राष्ट्र को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँध दिया। इस सांस्कृतिक आंदोलन को हम भक्ति-आंदोलन के नाम से जानते हैं। हिंदी के कुछ विद्वान इस आंदोलन और उससे उपजे काव्य को मध्ययुगीन धर्म और तत्ववाद की दृष्टि से समझना चाहते हैं और उसमें निहित सामाजिक अंतर्वस्तु एवं मानववादी अभिप्राय: की अपेक्षा करते हैं। सवाल यह है कि संतों ने पूरे राष्ट्र को जिस भावात्मक एकता के सूत्र में बाँधा उसका वैचारिक आधार क्या है? निश्चय ही संतों का उदात्त मानववाद, जिसे व्यापक अर्थ में 'मानव-धर्म' की संज्ञा दी जा सकती है। संतों का मानव-धर्म जीवन-जगत के अस्वीकार पर आधारित नहीं है। भक्ति-आंदोलन के उदय के पूर्व शंकराचार्य जहाँ 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करते हुए जीवन-यथार्थ से मुँह मोड़ने और परोक्ष सत्ता से लौ लगाने का उपदेश दे रहे थे, वहाँ भक्ति के आदि आचार्य रामानुज और उनके शिष्य रामानंद ने जीवन-जगत की वास्तविकता को स्वीकार करके प्रकारांतर से मानव-जीवन, उसके सुख-दुख और मानव-मुक्ति के प्रयत्नों की वास्तविकता को स्वीकृति प्रदान की। रामानुज का सीधा-सा तर्क यह था कि अगर ब्रह्म सत्य है तो यह जगत्, जो उसी परमतत्त्व की सृष्टि है, असत्य या माया कैसे है? ब्रह्म या परम सत्ता के प्रति आस्था का भाव यहाँ भी है, किंतु यह आस्था आगे चलकर भक्ति-आंदोलन के अंतर्गत मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति बन जाती है और जाति, वर्ग तथा वर्णो में बँटे हुए समाज में सभी तरह के भेद-भावों को मिटाने की जन-आकांक्षा के अनुरूप सिद्ध होती है। इसके विपरीत शंकर का अद्वैतवाद- जिसकी

तार्किक निष्पत्ति बराबरी, समानता और भाईचारे के संदेश में हो सकती थी- उस महान दार्शनिक को अमानवीय जाति-प्रथा और वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करने से नहीं रोक पाता। वे निर्द्वंद्व भाव से जातिप्रथा और वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन करते हैं, शूद्रों के लिए वेदों का अध्ययन, श्रवण और अर्थ जानने तक की मनाही कर देते हैं। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरूद्ध भक्ति-आंदोलन के आचार्यो-रामानुज, रामानंद, मध्य और निम्बार्क ने जो संघर्ष किया वह कोरा दार्शनिक विवाद न था, अपितु वह सामंती समाज के गहरे अंतर्विरोध को सूचित करता है। इसका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद जहाँ सामंतवाद को मजबूत करता था, वहाँ रामानुज और रामानंद की शिक्षाओं से प्रेरित भक्ति-आंदोलन उसे कमजोर करने वाला सिद्ध हुआ।

वह कौन-सी ऐतिहासिक आवश्यकता थी जिसमें भक्ति-आंदोलन का विकास हुआ। निश्चय ही सामंतवाद के अध:पतन का दौर था। एक तरफ सामंतों का वैभव और विलासिता में डूबा हआ जीवन था, दूसरी ओर अधिसंख्य किसान और साधारण जन शोषण, अत्याचार, अपमान, गरीबी और भुखमरी का जीवन बिता रहे थे। वहीं शासक-वर्ग के लिए सुख-सुविधा और विलासिता का सामान जुटाने वाले शिल्पियों, दस्तकारों और जुलाहों के जीवन-स्तर में सुधार हो रहा था। जीवन-स्तर में सुधार के फलस्वरूप उनमें एक नयी आत्मचेतना और आत्मसम्मान की भावना का उदय हुआ। अकारण नहीं था कि अनेक अवर्ण और दस्तकार वर्ग के लोग भक्ति-आंदोलन से प्रेरित होकर उसमें शामिल हो गए। कबीर जैसे संतों ने उसमें नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। इरफान हबीब ने उत्तरी भारत में भक्ति-आंदोलन की निर्गुणधारा के विकास के ऐतिहासिक कारणों में तकनीकी प्रगति और दस्तकारों तथा शिल्पियों की भूमिका को रेखांकित किया है। दस्तकारों और जुलाहों के जीवन-स्तर में सुधार का सवाल बाजार और व्यापार की उन्नति से जुड़ा था। व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप शहरों का विकास और सड़कों का निर्माण हुआ। इससे विभिन्न जनपदों का अलगाव टूटा, जातीय संस्कृति के निर्माण और लोकभाषा तथा लोक-साहित्य के विकास में अभूतपूर्व मदद मिली। संत-साहित्य में निहित एकतत्त्ववाद, समानता, मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम, जीवनप्रियता आदि भावधाराओं का गहरा संबंध इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से है। भक्ति आंदोलन महज एक धार्मिक आंदोलन न था, वह एक सुधार-आंदोलन था। युगीन ऐतिहासिक यथार्थ और

जनता की नई चेतना ने अपने को धार्मिक आवरण में व्यक्त किया।

भक्त कवियों के अध्ययन-मूल्याँकन में निर्गुण, सगुण, प्रेममार्गी और ज्ञानमार्गी, रामभक्ति और कृष्णभक्ति के अंतर-भेद को रेखांकित किया गया है। किंतु कुछ बातों में अंतर के बावजूद सभी भक्त एक बात में समान थे, वह यह कि सभी धर्म की कट्टरता को तोड़ते हैं और मानव-मात्र के प्रति प्रेम की शिक्षा देते हैं। यह सच है कि परलोक और ईश्वर की यहाँ स्वीकृति है, किंतु उनकी साधना का मार्ग इस लोक से होकर ही जाता है। प्रेम उनके यहाँ साधना का आवश्यक अंग है और कभी-कभी उसे अंतिम परिणति तक कह देते हैं। उनके लिए प्रेम साध्य और साधन दोनों हैं। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि मनुष्य ही स्वर्ग है, वर्ना यह जीवन एक मुट्ठी धूल के सिवाय क्या है- 'मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी, नाहिंत काह छार भर मुंठी।' और कबीर भी उसी 'ढाई आखर' पर बल देते हैं-

ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होई।।

ईश्वर को भी कबीर प्रेम में खोजते हैं। उनका ईश्वर न तो मंदिर में है, न मस्जिद में और न ही तीर्थों में। वह तो सभी प्राणियों की सांसों में समाया है। इसलिए प्राणिमात्र के प्रति प्रेम सच्चा ईश्वर-प्रेम है-

मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं देवी ना काबे कैलास में।।
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पलभर की तलाश में।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, सब सांसों की सांस में।।

इस तरह प्रेम, संत कवियों के यहाँ आध्यात्मिक ही नहीं, वरन् सामाजिक महत्व प्राप्त कर लेता है। वह सभी प्राणियों को जोड़ने वाला साधन-सूत्र है और वही साध्य भी। कहते हैं कि एक बार अकबर ने कबीर के शिष्य दादू से सवाल किया कि खुदा की जात, अंग, वजूद और रंग क्या है? दादू का उत्तर बड़ा मार्के का है-

इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह औजूद है, इश्क अलह का रंग।

यानि प्रेम अल्लाह की जाति है, प्रेम ही उसका शरीर है, प्रेम ही उसका अस्तित्व है, और प्रेम ही उसका रंग है।

इस तरह भक्ति का मार्ग प्रेम का मार्ग था। वह ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष सबके लिए खुला था। 'भक्ति का विकास' शीर्षक

निबंध में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि भक्ति में ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध इत्यादि का भेद नहीं। और यह स्थिति सगुण, निर्गुण, रामोपासक, कृष्णोपासक सब संप्रदायों की है। भक्ति के अधिकारी मनुष्यमात्र हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी भक्त मूलत: मनुष्यमात्र की समानता के समर्थक थे, न केवल कबीर वरन् सूर, तुलसी आदि कवि भी ऊँच-नीच की भावना से परे मानववादी साम्य-भावना के प्रचारक थे।

किंतु भक्ति की परिधि के बाहर सामाजिक जीवन में साम्य-भावना और मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम का सवाल टेढ़ा हो जाता है। इस संदर्भ में शुक्ल जी ने भक्ति के साथ लोकधर्म के सामंजस्य का सवाल उठाया और उनके लोकधर्म में अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध भी शामिल है, 'यदि हम पर कोई प्रहार या गालियों की बौछार करे तो क्षमा द्वारा शील की एकांत साधना समीचीन होगी। पर यदि हमारे सामने को अत्यंत क्रूर और निष्ठुर अत्याचारी किसी दीन या असहाय को पीड़ित कर रहा है, तो बलपूर्वक उस अत्याचारी को रोकना और उसे आघात द्वारा असमर्थ करना लोकधर्म होगा।' शुक्ल जी अहिंसावादी नहीं है। उनके विचार से भक्ति की सम्यक दृष्टि में लोकधर्म का सौंदर्य भी शामिल हैं। यह विशेषता 'भारतीय भक्तों को विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से अलग' करती है। लोकधर्म की इस कसौटी पर शुक्ल जी सूर, तुलसी आदि सगुण भक्तों को विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से ही नहीं, अपितु कबीर, दादू आदि निर्गुण भक्तों से भी अलग करते हैं।

किंतु शुक्ल जी भक्ति की 'सम्यक् दृष्टि' में जिस लोकधर्म के सामंजस्य को शामिल करते हैं उसका निर्गुण भक्तों में अभाव नहीं है। सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त कवियों के प्रति अपने अतिरिक्त आग्रह के कारण शुक्ल जी इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला देते हैं कि सामंती अत्याचार और निर्मम वर्ण-व्यवस्था के विरूद्ध उत्पीड़ित जनता को एकजुट करने में कबीर, नानक आदि निर्गुण संतों की वाणियों से अभूतपूर्व मदद मिली थी। पंजाब में सिखों का और महाराष्ट्र में मराठों का विद्रोह इसका ज्वलंत उदाहरण है।

भक्त कवियों में निष्क्रियता और भाग्यवाद की भी छाप है। सभी भक्त सभी समय सक्रिय प्रतिरोध की बात नहीं करते। मध्यकालीन असंगठित सामाजिक जीवन में ऐसा करना उनके लिए संभव न था। मनुष्य के बिखरे हुए त्रस्त और पीड़ित जीवन से निराशा और वैराग्य के भाव भी

पैदा होते थे। इसलिए अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध इस लोकधर्म के साथ जहाँ भक्ति का सामंजस्य न बैठे उसे हम विदेशियों के सिर नहीं मढ़ सकते।

चाहे मानववादी साम्य भावना का सवाल हो या स्वाधीन चेतना का कबीर मानववाद की कसौटी पर मध्ययुग के भक्त कवियों में सर्वाधिक खरे उतरते हैं। वैचारिक स्वातंत्र्य के प्रबल योद्धा थे कबीर। उनकी स्वाधीन चेतना किसी धर्म, मतवाद या शास्त्र के बंधन को स्वीकार न कर सकी। हिंदू हो या मुसलमान दोनों की धार्मिक कट्टरता पर चोट करके जहाँ उन्होंने दोनों को नाराज किया, वहीं उन्ही में से उनके असंख्य अनुयायी भी हुए। वेद हो या कुरान उन्होंने दोनों में से किसी को प्रमाण न माना। उन्होंने अँधविश्वास की जगह तर्क का और शास्त्रज्ञान की बजाय सहजज्ञान का आश्रय लिया- 'मैं कहता हौं आखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।' 'आंखिन देखी' का आत्मविश्वास लेकर वे समस्त रूढ़ियों और बाह्याचारों पर खुलकर आक्रमण कर सके। लोक और वेद दोनों को साधने के प्रयत्न में तुलसी जहाँ कतिपय रूढ़ियों को स्वीकार कर लेते हैं, वहाँ कबीर का क्रांतिकारी व्यक्तित्व समझौता नहीं जानता। सड़े-गले रीति-रिवाजों और धार्मिक कर्मकांडों के खंडन में वे उसी विवेक-परंपरा का अनुसरण कर रहे थे, जिसका पता हमें चर्वाकों, बौद्धों, जैनियों और नाथ-सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। ये सभी परंपराएँ उनके व्यक्तित्व में घुल-मिल गयी थीं।

जो लोग कबीर पर 'चिढ़ाने वाली भाषा' का आरोप लगाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि सड़े-गले अँधविश्वासों और रूढ़ियों से मनुष्य की चेतना को मुक्त करने के लिए कबीर जैसी किसी विस्फोटक शक्ति की कितनी आवश्यकता थी। हिंदू और मुसलमान दोनों ने ही कबीर को जिस तरह अपनाया उससे साधारण जनता में उनकी लोकप्रियता ही प्रमाणित नहीं होती, यह भी सिद्ध होता है कि उनकी वाणियों ने दोनों ही जातियों को एक करने में कितनी बड़ी भूमिका निभायी होगी। कबीर ने जहाँ हिंदू और मुस्लिम समाज में व्याप्त रूढ़ियों का खंडन किया, वहीं प्रेम और समानता पर आधारित मानव-धर्म की शिक्षा दी। 'मनुष्यमात्र का महत्व उनकी दृष्टि में बड़ा है- उनकी वेश-भूषा, आचार-विचार जो भी हों। मध्ययुग के गहन कुहासे में कबीर के यह अग्रगामी, मानवतावादी विचार आलोक की एक तीव्र, तीखी स्वर्ण-रेखा है जिससे आज भी अँधविश्वासों में डूबा हुआ प्राणी बहुत कुछ प्रकाश पा सकता है।' (प्रकाश चंद्र गुप्त) धर्मो की झूठी पृथकता पर खेद व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं-

भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा केसो, (ही) हजरत नाम धराया।।
गहना एक कनक ते गढ़ना इमि मंह भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुहं कर पापिन, इंक नमाज एक पूजा।।
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिंदू को तुरूक कहावै, एक जिमी पर पहिये।।
वेद-किताब पढ़े ते कुतुबा, वै मुल्ला वै पांडे।
बेगरि-बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांड़े।।

कबीर की शिक्षा का सारतत्त्व है, एक ईश्वर के समक्ष सबकी समानता। उनके एकेश्वरवाद की तार्किक परिणति बराबरी और भाईचारे के संदेश में होती है-

ओंकार आदि है मूला। राजा परजा एकहि सूला।।
हम तुम मां है एक ही लोहू। एक प्रान जीवन है मोहू।।
एक ही जननी जन्या संसार। कौन ज्ञान ते भये न्यारा।।

जाति, वर्ण, वर्ग और धर्मो में बँटे हुए समाज में बराबरी का यह संदेश क्रांतिकारी महत्व ग्रहण कर लेता है, यह प्रतिरोध का स्वर है जो सामंती अत्याचार और जाति अपमान के विरूद्ध लक्षित है।

सामाजिक जीवन में प्रेम, दया, परोपकार, करुणा, भाईचारे और बराबरी का संदेश और व्यक्तिगत जीवन में त्याग, सादगी और सदाचार-भक्ति काव्य के ये महत्वपूर्ण मानव-मूल्य हैं। स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद से संत कवियों का कोई संबंध न था। वे स्वेच्छा से गरीबी, सादगी और सदाचार का जीवन व्यतीत करते थे। सामंती राजदरबारों की घोर विलासिता के उस युग में उनका यह बिना सामंती, भोगवादी मूल्यों से एक प्रकार के विरोध का सूचक था। किंतु वे उन लोगों में से न थे जो संसार को मिथ्या कहकर सन्यास मार्ग की वकालत करते हैं। संतों में अनेक गृहस्थ थे और संसार-त्याग करने वाले महात्माओं पर व्यंग्य करते थे। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथों और योगियों से कबीर का संबंध दिखाया है। यह सच है कि बाह्याचारों का विरोध कबीर उसी तरह करते थे जिस तरह नाथसिद्ध, किंतु गृहस्थों की निंदा करने वाले योगियों से कबीर कोसों दूर थे-

अवधू भूले को घर लावै
सो जन हमको भावै
घर में योग, भोग घर ही में, घर तजि वन नहिं जावै।

एक तरफ दरबारों की विलासिता और दूसरी तरफ निवृत्ति मार्ग- संत कवियों ने दोनों से अपने को दूर रखा। भोग और त्याग, विलासिता और सन्यास- इन दोनों के बीच संतुलित जीवन-दृष्टि भक्त कवियों की विशेषता है और यह सामान्य जनता के जीवन-मूल्यों के साथ उनके गहरे जुड़ाव का द्योतक है।

भक्त कवि जीवन-सौंदर्य से मुँह मोड़ने वाले कवि नहीं, अपितु उसमें डूबने, उस पर रीझने वाले कवि हैं। वे इस रहस्य से भली भांति परिचित थे कि जीवन-सौंदर्य पर मुग्ध हुए बिना सच्ची कलाकृति की सृष्टि असंभव है। प्राकृतिक सौंदर्य के साथ मानव-जीवन के सौंदर्य को जैसा चित्र सूर-तुलसी ने खींचा है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण की बाल-लीला और गोपियों की प्रेम-लीला की जो तस्वीर सूर ने खींची है वह साक्षात 'जीवन-उत्सव है' वह विराग का ही नहीं जीवन-आस्था का प्रमाण है। नीरस जीवन में सरसता का संचार है। उसका आध्यात्मिक अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं। विद्यापति पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने ठीक लिखा था कि कुछ लोग सूर आदि कृष्ण भक्तों के शृंगारिक पदों की भी आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे।

सुर, तुलसी और मीरा ने प्रेम के जिस रूप का चित्रण किया है वह राज-दरबार में चलने वाले प्रेम से भिन्न है। प्रेम और नैतिकता के बारे में सामंती दृष्टिकोण से उनका कोई मेल नहीं। सामंतवाद में नारी भोग्या मात्र थी- घर की चारदीवारी में कैद, अनेक बँधनों में जकड़ी हुई। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व न था। भक्त कवियों ने प्रेम की सच्ची पीड़ा, विरह की सच्ची वेदना को चित्रित करके भारतीय नारियों के हृदय में छिपी हुई प्यास को वाणी दी, उनके दबे हुए व्यक्तित्व को उभारा। राजदरबार और घर की चारदीवारी में कैद नारी को वह सुख कहाँ जो सीता को चित्रकूट में राम के साथ सहयोग करते हुए मिल रहा है। 'अवध सहस सम वन प्रिय लागा।' इस प्रसंग में शुक्ल जी की टिप्पणी है-

'अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग से अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के उतने अवसर कहाँ मिल सकते थे। जीवन यात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है।'

यहाँ शुक्ल जी जिस कृत्रिम जीवन की ओर संकेत कर रहे हैं, वह निश्चय ही सामंती जीवन के बंधन हैं। सामंती बँधनों को तोड़कर घर से बाहर निकलने की आकांक्षा का सहज, स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण सूर के यहाँ अधिक मिलेगा। 'राधाकृष्ण की प्रेम-लीला जिसमें ग्वाल-बाल, गाय-बैल, यमुना का तट, कदंब-करीब के वृक्ष सब शामिल हैं, काव्य क्या साक्षात जीवन-उत्सव है। वह सूरदास की बंद आँखों का देखा हुआ स्वप्न है जिस युग में सूरदास ने अपनी रचना की उसमें नारी पराधीन थी, लेकिन लीला-वर्णन के माध्यम से सुर ने उस स्थिति का स्वप्न देखा, जिसमें नारी बँधनों को तोड़कर कुंठारहित तौर पर अपने प्रिय के साथ विचर सकती है। घर यह तोड़ा असामाजिक नहीं, असामाजिक नियमों की अमानवीयता, असामाजिकता को तोड़ना है।' (डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी)

भक्त कवि संसार के सुख-दु:ख से निरपेक्ष नहीं थे। वे उसके सुख में सुखी और दुख में दुखी होते थे। बड़ा ही पर दुख-कातर हृदय पाया था उन्होंने। यह विशेषता संतों की- वैष्णव कवियों की पहचान बन गयी- 'वैष्णवजन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे!' संत कवियों ने भारतीय जनता के दुख से द्रवित होकर साहित्य रचा था, उनके साहित्य दर्पण में हम भारतीय जनता की पीड़ा का प्रतिबिंब देखते हैं।

संत कवियों ने अपने युग की विषमता की, जनता की आशा-आकांक्षा की सच्ची तस्वीर खींची हैं। इस दृष्टि से भक्त कवियों में तुलसीदास सबसे आगे निकल जाते हैं। उन्होंने भूख, अकाल, गरीबी, दरिद्रता और बेकारी का जैसा वर्णन किया है वैसा बहुत कम कवियों में मिलेगा। कलियुग के वर्णन के बहाने तुलसी अपने युग की जीवन-स्थिति को ही व्यंजित कर रहे थे। वे देखते हैं कि उनके समाज में किसान के पास खेती नहीं है, भिखारी को भीख नहीं मिलती, वणिक का व्यापार बंद है, नौकरी करने वाले को नौकरी नहीं मिलती, रोजगार के अभाव में लोग इधर-उधर भटक रहे हैं।

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस
कहैं एक एकन सों, कहाँ जाई का करी।।

तुलसी उन कवियों में नहीं हैं जिन्हें जगद्गति नहीं व्यापती। उनका धर्म और अध्यात्म भौतिक दु:खों के प्रति उदासीन नहीं

बनता। जानते हैं कि पेट की आग मामूली नहीं होती। वह मूल प्रेरक शक्ति सी जान पड़ती है। श्रमिक, किसान, वणिक, भिखारी, भाट, नट, चोर, दूत, जादूगर सभी लोग पेट के लिए पढ़ते हैं, विद्या सीखते हैं, पहाड़ पर चढ़ते हैं, घनघोर जंगलों में मोर फिरते हैं, यह पेट की आग बड़वाग्नि से भी भयंकर है।

किसबी, किसानकुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर चेटकी।
पेट की पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत, गहन गन अहन अखेट की।।
ऊँचे-नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट की को पचत, बेचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाई एक राम घनश्याम ही तें
आगि बड़वागि ते बड़ी है आग पेट की।।

तुलसी गहन मानवीय संवेदना के साथ इस मार्मिक स्थिति का चित्रण करते हैं। उन्होंने भूख और दरिद्रता की पीड़ा को गहराई से महसूस किया था। वे जानते थे कि दरिद्रता के समान संसार में कोई दुख नहीं-'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।' उन्होंने स्वेच्छा से गरीबी का जीवन अपनाया था, किंतु गरीबी और दरिद्रता को तुलसी आदर्श रूप में चित्रित नहीं करते। दरिद्रता अभिशाप है, उससे बड़ा कोई दुख नहीं। वह एक अमानवीय परिस्थिति है। रावण क्या है? दरिद्रता ही रावण है। उसने सारे संसार को दबा रखा है। अत्याचार की ज्वाला देखकर तुलसी हाहाकार कह उठते हैं-

दारिद दसानन दबाई दुनी दीन-बंधु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी!

युगीन विषमता का तीव्र बोध तुलसी दास को 'रामराज्य' के आदर्श-स्वप्न की ओर प्रेरित करता है। वे जिस रामराज्य की कल्पना करते हैं वह एक पूर्ण सुखी समाज का स्वप्न हैं। उसमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं है। न कोई दीन है, न दुखी, न कोई मुर्ख है न गुणहीन! प्रजा सुखी है, मानों सुराज मिल गया हो- 'सुखी प्रजा जनु पाई सुराजा। उनके समय न तो जनता उतनी संगठित थी और न ही उनकी राजनीतिक चेतना इतनी विकसित हो सकी थी कि सामंती समाज के विकल्प के रूप में एक जनवादी राज्य की कल्पना की जा सके। इसलिए सामंती समाज की विसंगतियों का समाधान भक्त कवि इसी व्यवस्था में ढूँढ़ते हैं- उसे आदर्श

रूप में उपस्थित करके। विकल्प के रूप में वे एक आदर्श राजा की ही कल्पना करते हैं, जिसके राज्य में सभी सुखी हैं यह उनके युग की सीमा है। नि:संदेह मध्ययुग का भक्ति काव्य जिस उदात्त मानववाद की प्रतिष्ठा करता है, वह हमारे लिए मूल्यवान है। धर्म और ईश्वर की स्वीकृति के बावजूद वह जीवन को अस्वीकार नहीं करता। वह व्यक्तिगत जीवन में सादगी और सदाचार तथा सामाजिक जीवन में प्रेम, दया, करुणा, समानता और भाईचारे की भावना पर बल देता है। वह विवेक और लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित है। निकृष्ट व्यक्तिवाद से उसका कोई संबंध नहीं है। व्यक्ति को एकांतिक महत्व प्रदान करने की बजाय वह हममें यह भाव भरता है कि मनुष्य समष्टि से जुड़ा हुआ प्राणी है। वह उत्पीड़ित मनुष्य के प्रति अगाध करुणा और अन्याय के प्रति घृणा की माँग करता है। न्याय-अन्याय के संघर्ष में वह तटस्थ नहीं है, इसके विपरीत वह अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध पर बल देता है। भक्ति-काव्य पर निष्क्रियता और भाग्यवाद की भी छाप है, वह उसका कमजोर पहलू है, किंतु उसमें निहित उदात्त मानव-मूल्य हमें आज भी प्रेरित करते हैं।

यह आकस्मिक न था कि 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में हमारे यहाँ जिस नवजागरण की शुरुआत हुई उस पर संत साहित्य का अपेक्षित प्रभाव पड़ा। राममोहन राय से लेकर तिलक और गाँधी तक ने उससे प्रेरणा अर्जित की। हिंदी में भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध तक के साहित्य पर संत-साहित्य के उदात्त मूल्यों की अमिट छाप अंकित है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा

डॉ. पी. के. बालासुब्रह्मण्यन

भारत में राष्ट्रभाषा की समस्या संदा के लिए सजीव रहती आयी है। उनका समाधान कब होगा? तभी यह समस्या अपने आप हल होगी। यद्यपि भारत विश्व का एक उपखंड है फिर भी आज के एक राष्ट्र का रूप कभी खंडित नहीं होगा। राजनीतिक दृष्टि से भले ही कुछ लोग माने कि भारत सदियों के बाद एक राष्ट्र बना है। फिर भी संस्कृति की दृष्टि से, वैचारिक एकता की दृष्टि से वह सदा एक ही रहा है। इसलिए महाकवि भारती ने घोषित किया कि भले ही भारतमाता की अठारह भाषाएँ हैं फिर भी उनकी अंतर्धारा एक ही है। विचार और संस्कृति की सूत्र-दृष्टि से उसका एक ही आधार है।

भारत के प्राचीन ग्रंथों में उत्पन्न राज्यों का उल्लेख है। अंग, बंग काक्लिग..गॉधार कांभोज मणिफर जैसे कर्ड राज्यों का नाम लिया जाता है फिर भी 'भारत' के नाम से ही एक ही राष्ट्र माना जाता है। उसके प्रमाण वेदों में मिलता है। इतना ही क्यों पाटलिपुत्र से निकलकर दक्षिण के श्रवणबेल गोष्ठ में भी चंद्रगुप्त मौर्य जिसे भारत का प्रथम सम्राट् मान सकते हैं आकर अपना शरीर त्याग चुके थे। यही नहीं, संपूर्ण भारत को अपने अधीन रखने के लिए कई हिंदुस्तान मुसलमान सुलतान व मुगल बादशाह दक्षिण पर चढ़ आये। संयोग ऐसा हुआ कि अँग्रेजों की कूटनीति का शिकार होकर संपूर्ण भारत उनका गुलाम हुआ।

संस्कृति की दृष्टि से संपूर्ण भारतवासी एक थे। काशी रामेश्वरम् की यात्रा करके भारतवासी अपने को धन्य समझता था। लोग कहीं भी क्यों न हों कहकर स्नान पूजा करते थे कि

'गंगे या यमुनै चैव गोदावरी सरस्वती
नर्मदा सिंधु कावेरी जलोस्मिन् सन्निधिंकुरू'

भारत एक राष्ट्र आदि काल से आज तक माना जाता है और उसके प्रति अगाध प्रेम किया जाता है।

पाकिस्तान व चीन के आक्रमण, बंगाल देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति, कारगिल-युद्ध आदि भिन्न-भिन्न संकटों के समय समग्र भारत एक होकर खड़ा हुआ है। भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ें मजबूत हैं।

जब भारत में स्वतंत्रता-संग्राम जोरों से चल रहा था तब

अपने व्यस्त जीवन में महात्मा गाँधी जी ने बड़ी दूरदर्शिता से निश्चय किया कि स्वतंत्र भारत की अपनी एक भाषा होनी चाहिए जो संपूर्ण भारतवासियों को एक कर सके। जैसे प्रत्येक देश का राष्ट्रीय झंडा है। राष्ट्रीय संविधान, राष्ट्रीय पंक्षी, राष्ट्रीय मृग, राष्ट्रीय चिन्ह आदि, वैसे एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है। क्या गाँधीजी यह नहीं जानते थे कि भारत की कई भाषाएँ भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाती हैं और उनके साहित्य अलग-अलग हैं? क्या उनको विदित नहीं था कि भारत में अनगिनत बोलियाँ व्यवहार में हैं? चार कोस पर पानी और आठ कोस पर भाषा बदलती है? अपने राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले की बात मानकर वे भारत का भ्रमण कर चुके थे। अलावा इसके अपने अफ्रीका के प्रवास में कई आश्रम चलाकर उन्होंने अनुभव किया कि हिंदी ही इस देश को एक सूत्र में बाँधने की कड़ी हो सकती है। यह सोचकर कि बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र गूंगा होगा, उन्होंने सन् 1918 को संपन्न, हिंदी साहित्य सम्मेलन के 8वें वार्षिक सम्मेलन में घोषित किया कि हिंदी ही भारत देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है। गाँधीजी हिंदी का वह रूप चाहते थे जो पहले से प्रचलित उर्दू या मुसलमानी भाषा के निकट हो।

गाँधी जी ने अपने कवि पुत्र देवदास गाँधी को मद्रास राज्य भेजा और मई 1918 को प्रथम हिंदी वर्ग खुला (स्मरण रहे हिंदी विद्यालय महाकवि सुब्रह्मण्य भारती ने भी शुरु किया था) उक्त विद्यालय सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में मद्रास के गोरख हाल में शुरु हुआ और डॉ. बनी बेजेंट के कमलों से उद्घाटित हुआ। सन् 1918 से जून 1935 तक हिंदी का प्रचार जोरों से बढ़ गया। हिंदी का विरोध आरंभ के दिनों में किया गया। जैसे संस्कृत के कारण तमिल बढ़ नहीं पायी वैसे ही हिंदी के आने पर तमिल का विकास नहीं होगा, परंतु सी. राजगोपालाचार्य, आचार्य काका कालेलकर, इमानुवेल जैसे लोगों ने उक्त तर्क का निराकरण किया।

गाँधी जी ने हिंदी प्रचार को अपने उठाए रचनात्मक कार्यों में खास स्थान दिया और स्वतंत्रता के पहले हिंदी प्रचार के साथ राष्ट्रीयता की भावना जुड़ी रही। गाँधी जी का विचार था कि हिंदी सामान्य जन के लिए संप्रेषण माध्यम बनेगी। इसलिए उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा माना था। पर 1963 व 1965 के हिंदी विरोधी आंदोलन के समय राष्ट्रभाषा की परिभाषा बदल गयी। पहले राष्ट्रभाषा कहने पर वह हिंदी को ही घोषित

करती थी। परंतु राष्ट्र की सब भाषाएँ राष्ट्रभाषा मानी जाती हैं। संविधान की आठवीं सूची में सभी भाषाएँ राष्ट्रभाषाएँ मानी गयी हैं।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम से हिंदी जुड़ी हुई थी। देश के गण्य-माण्य नेता अँग्रेजी के बदले हिंदी में अपने विचार प्रस्तुत करते थे। महामना पं. मदन मोहन मालवीय से लेकर सुभाष चंद्र बोस व नेहरू तक हिंदी में भाषण देते थे।

जब से राष्ट्रभाषा हिंदी राजभाषा मानी गयी तबसे हिंदी का विकास बंद हुआ-सा लगा, क्योंकि अँग्रेजी के प्रति मोहमाया में फँसे शासक-वर्ग मन से हिंदी को नहीं अपनाते थे न अपनाते हैं। फलतः हिंदी राष्ट्रभाषा तो नहीं ही बन सकी, व्यवहारिक रूप से न राजभाषा ही बन पायी, न संपर्क भाषा ही भारतीय संविधान में अँग्रेजी को सहभाषा माना गया जिसके लिए पं. नेहरू ने वादा किया कि जब तक हिंदी राजभाषा नहीं बनेगी तब तक अँग्रेजी सह-राजभाषा बनी रहेगी। यहाँ तक कहावत याद आती है कि चौबे जी छब्बे बनने निकले, परंतु दुबे बनकर रह गये।

आज हाल ही के चुनाव के बाद नेतृत्व की शक्ति बढ़ गयी है। फलतः अब काँग्रेस समर्पित संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम में यह घोषित होगा। इससे हिंदी की हानि नहीं होगी। परंतु और एक प्रस्ताव उभरकर आया है कि भारतीय संविधान में उल्लेखनीय सभी भाषाओं को राजभाषा बनाने का कदम उठाया जाएगा और पहले तमिल को भारत सरकार की भाषा बनाया जाएगा। इस प्रस्ताव पर अमल करना संभव था पर व्यवहारिक होगा या नहीं, इसपर विचार नहीं किया गया। इसका मूल उद्येश्य है कि हिंदी को राजभाषा के पद से अपदस्थ करना है? अंत में अँग्रेजी का प्रभुत्व बचा रहेगा। हिंदी-भाषी व राज-प्रेमी लोगों को इस भयंकर कदम पर विचार करना चाहिए और आवश्यक कार्रवाई करनी चाहिए।

हिंदी के द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार अवश्य हुआ है। हिंदी के द्वारा संपूर्ण हिंदी साहित्य का ज्ञान हिंदी-तट प्रदेशों में फैला है। हिंदी-अनुवाद के जरिये अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान संपूर्ण हिंदी-जगत में फैला है। सांस्कृतिक समन्वय का काम भी संपन्न हुआ है, क्योंकि हिंदी प्रचार का आंदोलन सिर्फ भाषा-प्रचार तक सीमित नहीं रहा, सांस्कृतिक प्रचार व प्रसार पर भी आधारित रहा है।

भारत की भाषा नीति किसी भी तरह से क्यों न हो

कंप्यूटर-युग में भी हिंदीतर भाषी प्रदेश में खासकर तमिल में हिंदी की लोकप्रियता बढ़ रही है। विश्वविद्यालयों में खासकर दक्षिण के विश्वविद्यालयों व दक्षिण भारत हिंदी प्रचार-सभा कई शोध मात्र तुलनात्मक अनुसंधान में लगे हैं, जिसके द्वारा भारतीय साहित्य व हिंदी साहित्य के कई पहलुओं पर प्रकाश फैल रहा है। यही नहीं जनसामान्य के बीच हिंदी पढ़ने की आवश्यकता व उपयोगिता का ज्ञान फैल गया। आरंभ में घर-घर जाकर हिंदी प्रचार करना पड़ा। परंतु आज स्वयं अप्रबुद्ध जनता हिंदी पढ़ने में लगी है। यही नहीं, आज कुशल हिंदी वक्ता व लेखक उभर रहे हैं। सभी विद्वान व सामान्य जनता के बीच हिंदी की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर हम निस्संदेह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता का प्रचार बढ़ रहा है और देश-प्रेम बढ़ रहा है।

राष्ट्रीय एकता में भारतीय भाषाओं की भूमिका

डॉ. परमानंद पांचाल

भारत एक विशाल देश है, जहाँ कई भाषाएँ और अनेक बोलियाँ बोलने वाले लोग रहते हैं, किंतु भारत की सभी भाषाओं की आत्मा एक ही संस्कृति का केंद्र-बिंदु एक ही रहा है, भले ही इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम विभिन्न क्षेत्रीय भाषाएँ रही हैं। इतने महान देश में भाषाओं की विभिन्नता का होना स्वाभाविक ही है, किंतु यह विभिन्नता इनकी मूलभूत एकता में कभी बाधक नहीं रही है। इनके भीतर अंत:सलिला के रूप में 'भारतीयता' सतत रूप से प्रवाहित रही है। 1985 में 'पेन' नामक संस्था द्वारा आयोजित अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में भारत-कोकिला श्रीमति सरोजनी नायडू ने कहा था, 'भारत एक ओर अखंड है। माना कि भारत की जनता विभिन्न भाषा-भाषी है, फिर भी सबका हृदय तो एक ही है। डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट रूप से कहा था, भारतीय साहित्य एक ही है, चाहे वह विभिन्न भाषाओं में लिखा गया हो।'

तमिल भाषा के प्रसिद्ध कवि सुब्रह्मण्य भारती ने अपने एक गीत में इसी स्वर को मुखरित करते हुए कहा था कि भारत माता तीस करोड़ मुखवाली है, किंतु सबमें चेतना समान है। यहाँ 18 भाषाएँ बोली जाती हैं, मगर चिंतन सबमें समान है।

भारत वास्तव में अनेकताओं का एक महत्वपूर्ण संगम रहा है, इसलिए प्राचीनकाल से लेकर आज तक यहाँ समन्वय की प्रवृत्ति निरंतर विद्यमान रही है। इसकी यही प्रवृत्ति इसे संजीवनी प्रदान करती रही है। इसी रहस्य से चकित होकर उर्दू के प्रसिद्ध कवि सर मुहम्मद इकबाल ने कहा था-

युनान, मिस्र रोमाँ सब मिट गए जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी, नामों निशां हमारा।

कहीं से भी अच्छी बातों को ग्रहण करना हमारी संस्कृति का विशिष्ट गुण रहा है। ऋग्वेद का यह अमर संदेश- 'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत:' अर्थात् 'प्रत्येक दिशा से शुभ एवं सुंदर विचार हमें प्राप्त हों'। इसकी गुण-ग्रहणीयता का प्रमाण है। इसी से अनुप्राणित हमारी सभी भाषाएँ

प्रेम, सौहार्द और शांति तथा एकता का संदेश देती रही हैं।

उर्दू के महान कवि फिराक गोरखपुरी ने भी इसी साम्य को उजागर करते हुए कहा था, 'जब हम संस्कृत शायरी, हिंदी शायरी, बंगाली शायरी, मराठी शायरी और हिंदुस्तान की दीगर जुबानों की शायरी की गूँज सुनते हैं, तो उनमें एक ही तरह की झंकार और बू-बास हम पाते हैं। एक ही दिल धड़कता सुनाई देता है। 'भारतीय वाग्ड्मय की यह आंतरिक एकता भारत के विचार और संस्कृति की एकता की सूचक है। यद्यपि उस वाग्ड्मय की आत्मा एक है, तो भी वह इतिहास के परिपाक के अनुसार अनेक भाषाओं, रूपों और परिस्थितियों में प्रकट हुई है। हमारी इस सामाजिक संस्कृति का केंद्र-बिंदु एक ही रहा है।

पं. जवाहर लाल नेहरु ने भी कहा था, 'हमारे लिए एक परम सौभाग्य और गर्व की बात है कि भारत में अनेक महान भाषाएँ हैं और ये एक दूसरे से संबंधित हैं' हमारे देश की एक विशेषता है कि यहाँ ऊपर से दिखने वाली विविधता के भीतर गहरी एकता है। विविधता उसके बाहरी नाम रूप में है, एकता उसके विचारों की आंतरिक प्रवृत्तियों और संस्कृति में है।

प्राचीन आचार्यो ने समस्त भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने और प्रबल बनाने की दिशा में प्रयास किए। इसीलिए संस्कृत भाषा जो देशी बोलियों की परिष्कृत वाणी बनाई गई, सभी मत-मतांतरों की वाहिका बनी रही, संपर्क-सूत्र बनकर भारतीयता और भारतीय एकता की साधिका रही। वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव और सिद्ध आदि अनेक मतावलंबी पंडितों ने संस्कृत द्वारा भारत को भाव-सूत्र में बाँधा। इसके माध्यम से ही सुदूर दक्षिण के केरल प्रदेश से चलकर आदि शंकराचार्य ने सारे भारत को एक सूत्र में बाँधने का ऐतिहासिक प्रयास किया। संस्कृत ने भी सभी भारतीय बोलियों, प्रादेशिक भाषाओं को कमोवेश रूप से अनुप्राणित किया, समृद्ध भी किया। संस्कृत में लिखे महाकाव्यों का प्रभाव भारत की प्राय: सभी भाषाओं पर पड़ा, जो आज भी निरंतर विद्यमान है। भारतीय भाषाओं ने सदा ही समाज को जोड़ने का कार्य किया, तोड़ने का नहीं।

भारत में इस्लाम प्रवेश के साथ जो कटुता और टकराव का वातावरण उत्पन्न हो गया था, उसमें समरसता लाने और विभिन्न संस्कृतियों में एकता लाने के लिए ही हमारे संतों, महात्माओं और चिंतकों ने अपनी भक्ति-रचनाओं और सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानकों द्वारा जनता में

प्रेम और सौहार्द की भावना पैदा करने के स्तुत्य प्रयास किये। गुरु नानक, कबीर, तुलसी, सूर, दाऊद, जायसी और रहीम हिंदी में उसी युग की देन हैं और यही काल हिंदी का स्वर्ण युग भी कहलाता है। अमीर खुसरो ने तो हिंदी भाषा को एक संजीवनी ही दे दी थी। आज उसी की खड़ी बोली हिंदी राजभाषा के पद पर आसीन है, जो सभी के सहयोग और योगदान से आगे बढ़ी है।

यदि हम भारत की विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य पर दृष्टि डालें तो यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाएगा कि कश्मीर से कन्याकुमारी और सौराष्ट्र से कामरूप तक के सभी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में समसामयिक विचारधारा से अभिभूत होकर अपनी अपनी भाषाओं में समान चिंतन की अभिव्यक्ति की है। रामायण और महाभारत को ही ले लीजिए। बाल्मीकि की परंपरा का निर्वाह जहाँ हिंदी में 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका' और 'साकेत' आदि के रूप में हुआ, वहाँ तमिल भाषा में कंबन द्वारा रचित 'रामायण' को भी दक्षिण में वही लोकप्रियता मिली। कन्नड़ भाषा में कुमार बाल्मीकि ने 'तौरवे रामायण' की रचना की, तो बँगला में भी रामायण और महाभारत के अनेक अनुवाद हुए, जिनमें कृतिवास ओझा द्वारा रामायण का अनुवाद विशेष महत्व रखता है। इसी प्रकार कवीन्द परमेश्वर तथा श्रीकर नन्दी ने महाभारत के बंगला में अनुवाद किए। उड़िया में कपिलेन्द्र देव ने 'विलंका रामायण' और अर्जुनदास ने 'रामविभा' नाम के रामकाव्य ग्रंथों की रचना की।

कश्मीरी में 'रामावतार चरित', प्रकाशराम की रामायण तथा साहिब कौन का कृष्ण-चरित प्रसिद्ध है। 'कन्नड़ में भी कुमार व्यास ने 1430 ई. में महाभारत की रचना की और आगे चलकर लक्ष्मीश ने जैमिनी भारत लिखा। 14वीं शती में ही मलयालम में कणिश्श रामायण की रचना भी की गई। तेलुगु भाषा में नन्नय भट्ट द्वारा लिखित आंध्र महाभारत जनता के बीच सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। रंगानाथ रामायण तेलुगु का प्रथम और प्रसिद्ध कल्पवृक्षम है। रंगनाथ से विश्वनाथ एक तेलुगु में लगभग 25 रामकाव्य मिलते हैं। तुलसी के रामचरितमानस की भांति ही तेलुगु भाषा में पेतन्ना का आंध्र भागवत भक्ति की मंदाकिनी है। आगे चलकर त्यागराज ने तुलसी की रामभक्तिमयी अलौकिक वाणी को अपनाकर दक्षिण भारत में रामकथा का माधुर्य फैलाया। समूचे दक्षिण में तमिल भाषी, कन्नड़ भाषी और मलयालम भाषी बड़ी तन्मयता के साथ उनके गीतों का रसास्वादन

करते हैं। यही नहीं, दूर-दूर के स्थानों से उनकी वाणी को सुनने के लिए संत, गायक और कवि दक्षिण आया करते थे।

भावों का यह आदान-प्रदान उत्तर से दक्षिण तक निरंतर चलता रहा। गोदावरी की गद्‌गद् वाणी को यमुना से सैकत तट पर पहुँचाकर सूरदास के श्याम मनोहर को रूप-माधुरी से परिचित कराने वाले महाप्रभु बल्लभाचार्य भी आंध्र के थे, जिन्होंने मध्यकाल के हिंदी साहित्य को नई स्फूर्ति दी। सूरदास ने इस आलोक-पुँज के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था- 'श्री बल्लभ नखचन्द छटा बिनु, सब जग माँझ अंधेरो।'

जब दक्षिण में रामानुज, रामानंद और वल्लभ जैसे आचार्य भक्ति का संदेश दे रहे थे, तो उत्तर भी इससे अछूता न रहा। यहाँ कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, नन्ददास, पल्टू और रैदास जैसे न जाने हिंदी के कितने संत-कवियों ने अपनी मधुर वाणी से जन-जन तक भक्ति का संचार किया। यही नहीं, भक्ति की धारा सुदूर पूर्व से लेकर पश्चिम तक सारे भारत में फैल गई। समस्त भारतीय साहित्य को देखा जाए तो उस काल की सभी भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाओं में भक्ति का यह स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है।

समाज में व्याप्त धार्मिक संकीर्णता, रूढ़िवाद और उँच-नीच तथा अँधविश्वास के विरूद्ध जो आवाज कबीर ने उठाई थी, उसी आवाज को दक्षिण में दक्खिनी के कवि बुरहानुद्‌दीन जानम (1554-1583) ने भी अपनी रचना सुख सुहेला में स्वर दिया-

'पढ़-पढ़ पंडित जनम गंवाया, मूरक रहें सुन रीज।
पुरान, पुस्तक देख ढंढोले, बसे निराला नीज।'

15वीं सदी में असम प्रदेश में शंकर देव जैसे निर्भीक संतों ने भी यही आवाज उठाई। उन्होंने सारे देश का पैदल भ्रमण किया थार। कबीर की भांति वे भी वेद-पुराण तथा जप-तप-तीर्थ आदि की भर्त्सना करते और भक्ति को महत्व देते हैं-

'जप-तप तीरथ करसि गया, काशी बासि वयस गंवाई।
जाति योग युगुति मति मोहित, बिन भक्ति गति नाहीं।।'

गुजरात में नरसिंह मेहता, अखा और दयाराम आदि संत कवियों ने भी प्रेम और भक्ति का संदेश जनता को दिया। मराठी में ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोरा, एकनाथ, तुकाराम और रामदास जैसे संतों की वाणियाँ मुखरित हुईं। नामदेव तो उत्तर में पंजाब भी गए थे। उनके अनेक

पद गुरुग्रंथ साहब में भी संगृहीत हैं। पंजाब में गुरुनानक देव ने भी सच्चे ब्रह्म की उपासना और मानव-प्रेम की ज्योति जलाई। कश्मीरी में लल्लद्वय का काव्य भक्ति का ही संदेश है। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु और चंडीदास, कर्नाटक में पुरंदरदास, कनकदास और सर्वज्ञ तथा उड़ीसा में पंच वैष्णवों के भक्ति-स्वर भी जनमानस को रस-विभोर करते रहे। तमिल साहित्य के इतिहास में तिरुवल्लुवर के बाद ईसा की छठी से नवीं शती के काल को भक्तिकाल की संज्ञा दी जाती है। यहाँ अनेक शैव और वैष्णव भक्त कवियों ने उच्च कोटि के भक्ति-कावय का सृजन किया था। इन शैव तथा वैष्णम भक्तों को क्रमशः नायन्मार और आलवार कहा जाता है। आंडाक की रचना तिरूपावै का धार्मिक ही नहीं, साहित्यिक महत्व भी अक्षुण्ण है। आंडाक को हिंदी साहित्य की भक्तिकालीन कवयित्री मीरा की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है। वे भी कृष्ण की अनन्य भक्त थीं। वे कहती हैं- उन्हें कृष्ण की कोई भी वस्तु मिल जाए, तो उनकी विरहाग्नि शांत हो जाएगी।' यही अद्‌भुत साम्य हिंदी में 'हरिऔध' के महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' की राधा के समान-कथन में दृष्टिगोचर होता है। उत्तर में जब मौलाना दाऊद की चंदायन और जायसी के पद्मावत जैसे प्रेमाख्यान काव्य लिखे जा रहे थे, तो दक्खिनी हिंदी में भी गवासी जैसे सूफी कवियों द्वारा मैना सतवंती जैसे प्रेमकाव्यों की रचना हो रही थी।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध जब स्वतंत्रता का आंदोलन आरंभ हुआ तो भारत की सभी भाषाओं के कवियों और लेखकों ने समान स्वर में संघर्ष के लिए जनता का आह्‌वान किया। हिंदी में जहाँ मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी तथा माखनलाल चतुर्वेदी की गर्जना सुनाई देती थी, वहीं उर्दू में जफर खाँ जैसे कवि भी इंकलाब का नारा बुलंद करते हुए कहते हैं-

'वक्त आ पहुँचा कि या मर जाओं या आजाद हो
तख्त या तख्ता है, हुक्मे- ताजदारे- इंकलाब'

दक्षिण में भी उसी प्रकार राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्य भारती देश के नौजवानों से संघर्ष का आह्‌वान कर रहे थे। गुजराती के न्हानालाल, बलवंतराय, मेघाणी और सुंदरस प्रभृति कवियों का आजादी का सिंहनाद भी सुनाई पड़ता है। पंजाबी में अजीत सिंह, काबल सिंह, गोबिन्द पुरी, दर्द, मुसाफिर, भाई वीरसिंह, धनीराम, परवाना और तुलसी जैसे कवि परतंत्रता के विरूद्ध आवाज उठाते हैं। बंगला, उड़िया, मलयालम और असमिया में

भी राष्ट्रीयता के स्वर समान रूप से गुँजरित होते हैं। यह एकता साहित्य की प्रत्येक विधा में मौजूद है। आज अंडमान-निकोबार के हिंदी साहित्यकारों की रचनाओं में भी एकता का यही स्वर मुखरित हो रहा है।

भावों की दृष्टि से ही नहीं कलापक्ष की दृष्टि से ही नहीं कलापक्ष से भी भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को संस्कृत के काव्य शास्त्रों के समान रूप से प्रेरणा मिली है। रस, छंद और अलंकार आदि का विधान भी भारतीय भाषाओं में एक समान रूप से विद्यमान रहा है। यह तत्व भी उनकी विविधा में एकता का परिचायक रहा है।

भारतीय भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है इनके वाक्य गठन में बहुत बड़ी समानता है। सभी कर्ता से आरंभ करती हैं और वाक्य का अंत क्रिया में होता है। कर्म का स्थान क्रिया से पूर्व होता है। अँग्रेजी आदि भाषाओं में यह कम नहीं है। भारतीय भाषाओं की वर्णमालाओं में अद्‌भुत समानता है। स्वर और व्यंजनों का कम पृथक है जो अँग्रेजी या अरबी फारसी की लिपियों के बावजूद उनमें मूलभूत एकता का उल्लेख करते हुए लिखा है, भारत में अनेक लिपियों का व्यवहार होता रहा है फिर भी यहाँ राष्ट्रीय चेतना है और उसका बहुत बड़ा कारण यह है कि लिपियों की भिन्नता के बावजूद वर्णमाला की बुनियादी एकता यहाँ कायम रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में भाषाई विविधता के बावजूद उसमें भावात्मक एकता का सूत्र सदा से विद्यमान रहा है। इसी से प्रेरित हो आचार्य बिनोवा भावे ने कहा था कि यदि भारतीय भाषाओं के लिए एक वैकल्पिक लिपि के रूप में देवनागरी लिपि को अपना लिया जाए, तो ये भाषाएँ सभी के लिए सहज और सुगम हो जाएँ, क्योंकि सभी की आत्मा एक ही तो है। राष्ट्रीय एकता में यह भारतीय भाषाओं की अहम भूमिका सदैव ही रही है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के जयगान से भरा साहित्य

सिद्धेश्वर

जब कभी राष्ट्र शब्द की चर्चा की जाती है, तो निश्चित रूप से उसका संबंध किसी भू-भाग से होता है, जहाँ किसी खास समुदाय के लोग निवास करते हैं और जिनकी सभ्यता और संस्कृति में एक निष्ठता होती है तथा उसके मूल में उसकी सारी विशिष्टताएँ विद्यमान रहती हैं। राष्ट्र की अस्मिता किसी एक जाति, एक धर्म अथवा एक भाषा के घेरे में सिमटकर नहीं रह सकती। राष्ट्र शब्द ही अनेकता में एकता का परिचायक है।

इसी प्रकार राष्ट्रीयता एक प्रकार की मानसिक अवस्था का द्योतक है जिससे राष्ट्र के प्रति निष्ठा का बोध होता है। यह एक विशिष्ट मनोदशा है, समष्टिगत चेतना है जिसके अंतर्गत मातृभूमि के प्रति गौरव की भावना और सर्वोदय की कामना सन्निहित रहती है। पूर्ण सर्मपण की भावना अँधराष्ट्रवाद में भी मौजूद रहती है, जब लोग आँख मूंदकर राष्ट्र के लिए जीने-मरने को तैयार रहते हैं। भारत की राष्ट्रीयता इसी भौगोलिक अखंडता से उदित होती है। 'राष्ट्रीयता और रचनाधर्मिता' नाम्नी पुस्तक में राष्ट्रीयता की भावना से भरपूर कवि सुब्रह्मण्य भारती की कविता का जो हिंदी अनुवाद किया गया है उसमें इस देश के उत्तर में हिमालय है, दक्षिण में कुमारी अंतरीप है और पूरब-पश्चिम में लहराते समुद्र हैं।

साहित्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट धारा के रूप में राष्ट्रीयता का उदय 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होता है। हिंदी में राष्ट्रीयता आधुनिक काल की देन है। साहित्य ने व्यक्ति के साथ-साथ परिवार, समाज, राज्य और राष्ट्र को भी जोड़ा और सत्यं शिवं सुंदरम के साथ वसुधैव कुटुंबकम की धारणा के लिए अग्रसर रहा। आखिर तभी तो हम जब देश के राष्ट्रध्वज को देखते हैं, राष्ट्रगीत सुनते हैं, राष्ट्रभाषा हिदीं का प्रयोग करते हैं तो वहाँ हमारा सिर उसके सामने झुक जाता है और गौरव का अनुभव होता है तथा भिन्न-भिन्न धर्म होते हुए भी हमें यही समेकित स्वर सुनने को मिलता है-

'मजहब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना।
हिंदी हैं हम वतन हैं, यह हिंदोस्ता हमारा।।'

इसी प्रकार समाज साहित्य भी राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत

है। आखिर तभी तो साहित्यकार का यह उद्‌बोधन लोगों में नवप्राणों का संचार कर देता है-

'जो भरा नहीं है भावों से, बहती रसधार नहीं,
वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।'

हिंदी और भारतीय जनमानस एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ें हैं कि उन्हें अलग करना नामुमकिन है। राष्ट्रीय आंदोलन का आधार सदैव ही भारतीय जनमानस रहा है। जब कोई भावना जनभावना बनकर उभरती है तो उसका असर अत्यंत व्यापक होता है। हिंदी में आनेवाली नई जनसंस्कृति ने राष्ट्रीयता की एक नई भावना का अभ्युदय किया है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर पर भी एक व्यापक परिवर्तन दिखाई दे रहा है।

राष्ट्रीयता की भावना, अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल इन सबकी चेतना फैलाने में साहित्यकार थे जो सीधे-सीधे स्वाधीनता के सैनिकों को प्रेरित करनेवाले गीत लिखते थे। जयशंकर प्रसाद ने लिखा-

'हिमाद्री तुंग भृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्यवीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो-बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाहसी
सपूत मातृभूमि के, रूको ने शूर साहसी
आराति सैन्य-सिन्धु में सुवाड़वाग्नि से जलो
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो-बढ़े चलो।'

इसी प्रकार इकबाल ने देश को न सिर्फ कौमी तराना 'सारे जहां से अच्छा, हिंदोस्ताँ हमारा' दिया, बल्कि उन्होंने देश का गौरव और आजादी की लड़ाई के लिए कई ऐसी रचनाएँ दी हैं जिसके लिए साहित्य और समाज के साथ समग्र देशवासी उन्हें सदा याद रखेंगे।

आधुनिक हिंदी कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त की समस्त रचनाओं में देश-प्रेम का स्वर मुखर है, किंतु मुख्य रूप से भारत भारती में इस देश के भव्य अतीत का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस राष्ट्रकवि ने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था-

'देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था।
नर देव थे हम और भारत देवलोक समान था।।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के बाद माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह दिनकर आदि की काव्य-कृतियों में राष्ट्रीयता की प्रबलधारा पूर्ण वेग से प्रवाहित होने लगी। माखनलाल चतुर्वेदी की अनूठी रचना 'चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊँ' देशवासियों का कंठहार बन गया। लोगों के मन में क्रांतिकारी वीरों के प्रति अपार प्रेम और असीम श्रद्धा थी जिसकी एक झलक चतुर्वेदी जी की इन पंक्तियों में देखने को मिलती है-

'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाते वीर अनेक।'

सोहनलाल द्विवेदी जलियांवाला बाग हत्याकांड के बाद बलिदानियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि के तथ्य को इन अत्यधिक मार्मिक स्वर में उद्घाटित किया है-

'हों जहां बलि शीश अगणित
एक सिर मेरा मिला लो।
वंदना के इन स्वरों में
एक स्वर मेरा मिला लो।।'

राष्ट्रवादी कविता के क्षेत्र में सुभद्रा कुमारी चौहान की रचना 'वीरों का कैसा हो वसंत' को भी काफी लोकप्रियता मिली जिसमें उन्होंने 'है कलमबँधी स्वच्छंद नहीं' के माध्यम से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंध का उल्लेख किया है।

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'वर दे वीणावादिनी' शीर्षक कविता में स्वतंत्रता के प्रति उनका अनुराग निर्झर के उद्दाम स्वर की तरह प्रतिध्वनित हुआ है जहाँ वे वाग्देवी से भारत में 'नव स्वतंत्र रव' भर देने की अराधना करते हैं। उन्होंने 'जागो फिर एक बार' शीर्षक से दो उद्बोधनात्मक कविताओं की रचना की थीं। पहली कविता में जागरण का स्वर संयमित है, किंतु दूसरी कविता में उनका स्वर उग्र हो गया है। इसमें वे भारतवासियों के अतीत के गौरव और शौर्य की याद दिलाकर जागृत करना चाहते हैं-

'शेर की मांद में
आया है स्यार
जागो फिर एक बार.....

ब्रह्म तुम हो
पद रजभर भी नहीं
पूरा यह विश्व भार
जागो फिर एक बार.....'

इसी प्रकार छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन 'पंत' की आँखों से आँसूओं की धारा गंगा-यमुना के रूप में प्रवाहित हो रही है-

'भारत माता ग्राम वासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल,
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।'

राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का आगमन 'हुंकार' के साथ होता है, जहाँ वे स्वयं उद्घोषणा करते हैं-

'सुनूं क्या सिंधु मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वयं युग धर्म का हुंकार हूँ मैं।'

'हुंकार', 'रश्मिरथि', 'कुरूक्षेत्र' आदि रचनाओं के माध्यम से दिनकर जी उग्र राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हुई है, जहाँ सशस्त्र क्रांति का स्वर गूँज रहा है-

असि की नोकों से मुकुत जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ
थर-थर करते कानून न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ।
भयभीत पात की धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

1946 में प्रकाशित 'दिनकर' जी की रचना 'कुरूक्षेत्र' पर प्रगतिवाद का प्रभाव स्पष्ट से परिलक्षित होता है-

छीनता है सत्व कोई और तुम
त्याग तप से काम लो यह पाप है।
पुण्य है विछिन्न कर देना उन्हें
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

मुक्तिबोध की निम्नांकित पंक्तियों में समकालीन राजनीति के वीभत्स स्वरूप का अत्यधिक व्यंग्यात्मक चित्रण हुआ है-

'अबतक किया क्या
जीवन जिया क्या ज्यादा लिया

और दिया बहुत कम
मर गया देश
और जीवित रह गए तुम'

जिनके मन में भारत को एक महान राष्ट्र के रूप में देखने की कामना है, उन स्वप्नद्रष्टाओं को यह हमेशा याद रखना होगा कि कोई राष्ट्र अपनी गरिमापूर्ण विरासत को दरकिनार कर श्रेष्ठता के शिखर पर नहीं पहुँच पाया है। इतिहास इसका साक्षी है। स्वर्णिम भविष्य की अट्टालिका का निर्माण अतीत की सुदृढ़ आधारशिला पर ही संभव है।

राष्ट्र की राष्ट्रीयता का आधार राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक होता है। नागरिकता राष्ट्रीय नहीं होता, जबतक वह वहाँ की संस्कृति को आचरण धर्म के रूप स्वीकार नहीं होता। यह सांस्कृतिक स्वीकृति उसमें अपनी जन्मभूमि और उसमें रहनेवाले जन के प्रति एकात्म भाव जगाती है। इसी स्वीकृति के आधार पर जन-मन सहसा कह उठता है-

'माता भूमिः पुत्रोऽहम पृथीव्याः।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी।'

राष्ट्र शब्द रीति से बना है जिसका अर्थ होता है देना। इस राति का विलोम है अराति। अराति वह है जो दूसरों की भूमि तथा संपत्ति का अपहरण करते संकोच नहीं करता। उसे दस्यु कहें या समाज संकट। राष्ट्रीय वह है जो अपने राष्ट्र तथा अपने जन के लिए देता ही देता है।

'देश ही तीर्थ है देश ही देवता
दे अगर देश को और देना पड़े।'

यह त्याग प्रधान राष्ट्रभाव ही उसकी संस्कृति बनता है। राष्ट्र न तो कोई भूखंड भर है, न उस भूमि पर निवास करने वाला जन और न विभिन्न समुदायों की विभिन्न संस्कृतियों का समुच्चय भर ही है। किसी भी राष्ट्र का राष्ट्रीय होने के लिए परस्पर सहकार तथा सद्भावना के साथ-साथ उसकी अनन्य भूमि-निष्ठा, अनन्य जन-निष्ठा तथा अनन्य संस्कृति-निष्ठा, त्याग और समर्थन जिसके प्रधान गुण हैं, आवश्यक है। भूगोल एवं इतिहास चेतना के साथ सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित लोक चेतना भी आवश्यक है।

यह सच है कि संस्कृति समाज का आचरण धर्म है, पर उस आचरण धर्म की समाज में निरंतरता साहित्य के माध्यम से ही बनी रहती है। बिना साहित्य के राष्ट्र अपने आचरण धर्म से शीघ्र ही विचलित

एवं संवलित हो जाता है। यह विचलन धीरे-धीरे रूढ़ि बनकर स्वयं राष्ट्र के विनाश का कारण बन जाता है। इतिहास इसका साक्षी है। आक्रांता विजेताओं ने अपनी भाषा संस्कृति विजितों पर थोपने हेतु, पहले वहाँ का साहित्य नष्ट किया है। भाषा का प्रचलन स्वशिक्षण बंद किया है। आचरण धर्म के उपास्व प्रतिष्ठानों से विखंडित किया है। जबरन अपना साहित्य, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपना धर्म थोपा है। यह सही है कि भारत हजार वर्ष तक पराधीन रहकर भी अपने भक्ति-साहित्य के बल पर आक्रांताओं से सफल लोहा लेकर, अपनी राष्ट्रीयता तथा अपनी संस्कृति को बचाये रखने में अवश्य सफल रहा है। आक्रांता ने तो अपनी करनी में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अपनी भाषा थोपी, धर्मस्थान तोड़े, धर्मांतरण किया, बड़े कर लगाए तथा शक्ति के बल पर लूट-खसोट ही नहीं, बलात्कार तक किए, पर यह साहित्य की ही शक्ति थी कि भारत भारत बना रहा। इकबाल ने तो इस संबंध में ठीक ही कहा है-

'यूनान मिश्र रोमां सब मिट गए जहां से,
अबतक मगर है बाकी नामो निशां हमारा,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
दुश्मन रहा भले ही, दौरे जहां हमारा।'

साहित्य-सृजन इसी हेतु से एक सांस्कृतिक कर्म है। सामाजिक पुनरूत्थान और सांस्कृतिक साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से गहरा संबंध है। साहित्य मानव जीवन को उसकी वर्तमान वास्तविक अवस्था का दिग्दर्शन करा, उन उदात्त विश्वासों, आस्थाओं तथा अनुभूतियों से जोड़ता है, जो उसे महामानव बनाते हैं। साहित्य के जरिए ही संस्कृति का भाव-चेतना व्याख्यायित होकर राष्ट्र निर्माण में सहायक होती है। सद्साहित्य ही किसी भी राष्ट्र का प्राण है, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। श्रेष्ठ साहित्य से जहाँ राष्ट्र की सांस्कृतिक श्रेष्ठता दिग्दर्शित होती है, वहीं राष्ट्रजन के श्रेष्ठ आचरण को शब्दायित कर स्वयं साहित्य भी अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है।

अध्याय : तीन
भारतीय संस्कृति और राष्ट्र चेतना

मानवीय नैतिक मूल्य और राष्ट्रीयता
प्रो. राम भगवान सिंह

इस विषय के तीन पक्ष हैं- मानव, नीति और राष्ट्र। जहाँ मानव स्थायी है, वहीं नीति और राष्ट्र सापेक्ष एवं भौगोलिक सीमाबद्ध हैं। मानव की मूल प्रकृति स्थिर है, मगर नीतियाँ गतिशील होती हैं। तथापि मानवीय मूल्य प्रायः स्थायी और सार्वभौमिक होते हैं। उनके मूल्यों में चंचलता नहीं होती, परंतु राष्ट्रीयता राष्ट्र केंद्रीत हो आत्महित तक सीमाबद्ध हो जाती है।

मानवीय नैतिक मूल्य सार्वभौमिक, कालातीत एवं सर्वोपरि होते हैं। उन्हें न तो भौगोलिक सीमाएँ बाँधती हैं और न ही राजनीतिक। यहाँ तक कि काल की सीमाएँ भी उन्हें नहीं घेरतीं। ये मानवीय नैतिक मूल्य मुख्यतः समानता, स्वतंत्रता, दया, करुणा, सहानुभूति, परस्पर सहयोग एवं विश्वबंधुत्व पर आधारित होते हैं और सच्चाई, ईमानदारी तथा निःस्वार्थ भाव से इनके निर्वहन की अपेक्षा होती है। इनका क्षेत्र इतना व्यापक होता है जितना मानव-मात्र। ऐसी नैतिकता मानव-मानव में भेद नहीं करती। 'वसुधैव कुटुंबकम' इसका लक्ष्य होता है और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' इसका श्रेय। संपूर्ण मानव जाति का कल्याण ही मानवीय नैतिकता का आधार होता है। इसका दृष्टिकोण इतना विस्तृत होता है कि इसमें जाति, वंश, लिंग एवं रंग का भेद नहीं होता। इसमें न धार्मिक संकीर्णता होती है और न ही भाषा अथवा क्षेत्रीयता का भेदभाव। मानवीय नैतिकता समान नैतिक संहिता का पर्याय होती है।

एक दृष्टि से मानवीय नैतिकता और धर्म में कोई अंतर नहीं होता। मूल धर्म की आत्मा भी मानव मात्र के कल्याण में निहित है। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है, 'परम सरस धरम नहीं भाई'। परमार्थ और परहित ही परम धर्म है। संत बिनोवा की 'जय जगत' की कामना धर्म का उदात्त स्वरूप है। मेरा भी मानना है कि धर्म का उद्देश्य किसी अज्ञात ईश्वर की खोज करना नहीं है, बल्कि अपने आप में उस ईश्वरत्व की खोज कर ऐसा आदर्श आचरण करना है जो मानव को देव तुल्य बना दे,

उसे अपने आप में ईश्वर की प्रतीति करा दे। त्याग और परोपकार के बिना, सच्चा और कर्त्तव्य निष्ठा के बिना पूजा मात्र धर्म का आडंबर है। ऐसी पूजा की औपचारिकता और कट्टर धार्मिकता एवं नैतिकता से कोसों दूर है।

आज मुखर राष्ट्रवाद और कट्टर धार्मिकता की हवा बह रही है और मानव मात्र अनेक राष्ट्रों और बहुतेरे धर्मो के वोटरों में बँट गया है। मानवीय नैतिकता की अनदेखी कर विश्व में परस्पर कटुता और घृणा के वातावरण में नरसंहार और दुर्बलों का शोषण हो रहा है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मार कर जीत की खुशी मना रहा है, मगर मानवता सिसक रही है। हमारी सारी प्रगति, सारे वैज्ञानिक अनुसंधान एवं खोज एक ओर तो सुख-सुविधाएँ जुटाती हैं, तो दूसरी ओर विश्व के विनाश को तत्पर हैं और मानवता की खिल्ली उड़ा रही हैं। हमारी आज की सभ्य बर्बरता हमें कहाँ ले जा रही है। अँग्रेजी कवि टी. एस. इलियट की सुविचारित धारणा है कि हमारा निरंतर प्रगतिशील युग पीछे की ओर बढ़ रहा है 'the age advances progressively backwards.' स्पष्ट है कि मानवता का ह्रास हो रहा है। मानवीय मूल्यों को ताक पर रखकर सर्वत्र हिंसा, घृणा एवं दलीय संघर्ष का तांडव व्याप्त है। हमारी धरती पर मानवता का स्रोत सूख गया है और धरती माँ बंजर हो गई है। मगर स्वार्थ, लालच, भोग एवं प्रतिस्पर्धा की आँधी बह रही है। यही आँधी व्यक्ति स्तर से लेकर राष्ट्र स्तर तक व्याप्त है।

अगर हम राष्ट्रीयता की बात करें तो प्रथम दृष्टया वांछनीय ही नहीं, बल्कि आदर्श भावना है। आज भोगवाद के दौर में राष्ट्रीयता उदारीकरण का आरंभिक सोपान है, व्यक्तिवाद से ऊपर उठाने का उत्तम माध्यम है। यह हमारे वृहत्तर दृष्टिकोण की प्रतीक है जो व्यक्ति को स्व से ऊपर उठाकर राष्ट्रप्रेम की ओर प्रेरित करती है और हमें स्वार्थपरकता छोड़ समाज और देश की एक अभिन्न इकाई होता है और सबके प्रति उसके कर्त्तव्य होते हैं। देश के प्रति अपने कर्त्तव्य, निष्ठा, प्रेम एवं समर्पण की अभिव्यक्ति ही राष्ट्रीयता है। यह युगधर्म है और उतना ही महत्वपूर्ण है जितना परिवार और समाज के प्रति हमारा कर्त्तव्य।

प्रतिबद्धता स्वाभाविक है और नितांत अपेक्षित भी। अपने देश, अपनी जाति, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम सहज निःसृत होता है।

यूरोप के देशों में God, King और Country के प्रति सहज एवं सुदृढ़ आस्था की सीख दी जाती है। हमारे देश में ईश्वर के प्रति

आस्थावान होना स्वाभाविक है। प्राचीन काल से हम आस्तिक हैं, बौद्धिक रूप से तथा रूढ़िगत भी। हमारी यह आस्था कभी-कभी अँधभक्ति भी प्रमाणित हुई है। हमारे इतिहास में राजा के प्रति भी प्रतिबद्धता के उदाहरण हैं और वे उदाहरण ही राष्ट्रभक्ति के प्रतीक माने जा सकते हैं। उन दिनों लड़ाइयाँ दो राष्ट्रों के बीच न होकर दो राजाओं के बीच हुआ करती थीं और वे राजा ही अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे। राजाओं के बीच परस्पर प्रतिद्वंदिता और वैमनस्य जनित लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। पूर्व ऐतिहासिक काल में रामायण एवं महाभारत की लड़ाइयाँ भी राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए नहीं लड़ी गयीं। इस तरह तत्कालीन परिस्थियितों में राष्ट्रवाद की अवधारणा सर्वप्रथम चंद्रगुप्त के काल में परिलक्षित हुई। उन्होंने ही तत्कालीन संपूर्ण देश को एक सूत्र में बाँधने की नीति बनाई और कम से कम भावनात्मक एकता कायम की। उनकी अर्थनीति और कुशल राजनीति में एकरूपता थी जो एक राष्ट्र की आत्मा होती है।

हमारे देश में राष्ट्रीयता की अवधारणा प्रत्यक्षत: ब्रिटिश शासनकाल की देन है। मुगल काल में देशी राजाओं एवं रजवाड़ों के आपसी मतभेद के कारण पूरे भारत में एक राष्ट्र की भावनात्मक एकता नहीं थी। ऐसा लगता है कि अँग्रेजों ने भौगोलिक सीमा क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ पूरे भारत में एक कानून, एक शासकीय भाषा, एक संविधान एवं समान शिक्षा की स्थापना की। इस एकीकरण में भारत को एक राष्ट्र का स्वरूप मिला। यहाँ तक कि स्वाधीनता की माँग करने में भी भारतवासियों ने एकजुट होकर एक स्वर से एक राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात किया। मगर मुस्लिम लीग (1906) की स्थापना और पृथक पाकिस्तान की माँग ने इस समेकित राष्ट्रीयता में दरार पैदा की। फिर भी स्वाधीनता आंदोलन के राष्ट्रीय स्वरूप में कोई बड़ा व्यवधान नहीं आया। संपूर्ण राष्ट्र ने, सभी राज्यों से, सभी धर्म, भाषा, जाति के लोगों ने एक स्वर से अँग्रेजी शासन के विरूद्ध आवाज उठाई। गाँधी जी ने इस आंदोलन को गाँव-गाँव और जन-जन तक पहुँचाया। उन्होंने देशवासियों को 'करो या मरो' का आह्वान किया और संपूर्ण राष्ट्र ने एक स्वर से इसका अनुपालन का व्रत लिया। 1942 की अगस्त क्रांति में पहली बार अखंड राष्ट्रीयता का प्रदर्शन हुआ जो 1857 के विद्रोह से बहुत अधिक व्यापक एवं मुखर था। देश का कण-कण स्पंदित एवं निनादित था। बड़े-बड़े नेताओं की कौन कहे, स्कूल के विद्यार्थियों में भी ऐसा राष्ट्रीय उन्माद था, आजादी का नशा था कि पटना सचिवालय पर

तिरंगा झंडा फहराते सात शहीदों में से छह मात्र स्कूल के विद्यार्थी थे। ऐसी थी राष्ट्रीयता की भावना, देश-हित के लिए सर्वस्व न्योछावर करने की तमन्ना, नि:स्वार्थ, निष्काम।

प्रश्न उठता है, स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जब हमारे देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी थी तो आजादी मिलते ही यह देशभक्ति कैसे तिरोहित हो गई? हमारा देश प्रेम कहाँ खो गया? क्या हमारी शिक्षा-पद्धति का यह दोष है जो हमें और हमारी पीढ़ी को स्वार्थ और भोग की सीख देकर हमें अपनी जन्मभूमि, अपने देश से विमुख कर रही है? आखिर ऐसा क्या है जो हर तरफ अलगाव, उदासीनता, आंदोलन, विध्वंस, हिंसा और आतंक का साम्राज्य स्थापित कर रहा है? हम अपने देशवासियों को ही भाषा, संस्कृति, वंश और क्षेत्रीयता के नाम पर कत्ल कर रहे हैं। जगह-जगह बारूदी सुरंग बिछी हुई है। बसों पर, चौराहों पर, हाट-बाजारों में बमों से हमले हो रहे हैं। निर्दोष नागरिक, औरत-मर्द और बच्चे मारे जा रहे हैं। मैं सीमा पार से आने वाले आतंकवादियों की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं तो अपने देशवासियों के द्वारा अपने देशवासियों की नृशंस हत्या की बात कर रहा हूँ जिन्हें एम.सी.सी., नक्सलवादी, भूमि सेना, रणवीर सेना, लोरिक सेना जैसे उग्रवादी संगठनों के द्वारा आए दिन अंजाम दिया जा रहा है। हर दूसरे-तीसरे दिन रेलगाड़ियों में हत्या, पटरियों को उखाड़ सैकड़ों लोगों की जान लेना, पुलों को क्षतिग्रस्त करना, सार्वजनिक संपत्ति को लूट, क्या यही लोकतंत्र का अभिप्राय है। क्या इसीलिए हमने अँग्रेजों को भगाकर स्वराज चाहा था? क्या अभी हम बच्चे हैं जो खिलौने की जिद करता है और खिलौना पाकर उसे तुरंत मोड़ डालता है? क्या हममें समझ की कमी है, अथवा हमारी पशु प्रवृत्ति हमें सभ्य होने नहीं देती?

परंतु सभ्यता और धार्मिकता की रामनामी चादर हमें असभ्य और बच्चा करार नहीं देती। हम अपने को विश्व गुरु होने का दंभ भरते हैं। धार्मिक, पर्वो और त्योहारों पर लाखों, नहीं, करोड़ों की संख्या में पवित्र नदियों में घाटों पर जमा हो जाते हैं, भले ही हम उन नदियों में नाली का जल-मल और कूड़ा-कचरा डाल कर उनकी पवित्रता नष्ट करते हों। हमारे यहाँ धार्मिक नैतिकता जैसी चीज तो है, कम से कम सिद्धांत रूप में। मगर राष्ट्रीय नैतिकता क्या वांछनीय नहीं है?

हमारे समाज में नैतिकता प्रमुख रूप से मौन आचरण से आँकी जाती है। हम समाज के भ्रष्ट अफसरों, अपराधी नेताओं, कालाबाजारियों

की भर्त्सना और सामाजिक बहिष्कार नहीं करते। हमारी उदासीनता एवं निष्क्रियता हमारी अनचाही संलिप्तता बयान करती है। काश! राष्ट्रकवि दिनकर की ये पंक्तियाँ हमारी आँखें खोल सकतीं :

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध।
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

मैं तो मानवीय नैतिकता एवं धार्मिक नैतिकता के साथ-साथ राष्ट्रीयता नैतिकता की स्वीकृति की बात करता हूँ। क्या स्वतंत्र देश के ही नहीं, बल्कि विश्व के विशालतम लोकतंत्र के नागरिक का कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं होता? अथवा क्या राष्ट्र के प्रति उसका कोई नैतिक कर्त्तव्य नहीं होता? देश से नागरिक की अपेक्षाएँ तो होती हैं, परंतु क्या देश की अपने नागरिक से कोई अपेक्षा नहीं होती? सच बात तो यह है कि जबतक अपने देश के साथ रागात्मक लगाव नहीं होता, हम देश को निर्विकार भाव से देखते हैं, उदासीनता और गैर जिम्मेदाराना भाव से। यही कारण है कि देश के तथाकथित बड़े-बड़े नेता, माना सब नहीं, देश की अपनी बपौती समझ दुह रहे हैं, नित्य नए-नए घोटाले सामने आ रहे हैं। क्या आज देश के तथाकथित राष्ट्र निर्माता राष्ट्रीय नैतिकता शून्य हो गए हैं? वैसे नेताओं से मानवीय नैतिकता की अपेक्षा करना आत्म प्रवंचना के सिवा और क्या है? राष्ट्रीय त्योहारों एवं विभिन्न समारोहों पर झंडा फहराना और अपने भाषण तथा आश्वासन से जनता को खुश करना ही इनकी देश सेवा है अपने भाषणों में ये हमारे देश के राष्ट्र भक्तों का गुणगान करते नहीं थकते। पर अफसोस, वे उन बलिदानियों के त्याग को फिक्सड डिपोजिट समझ उसका सूद खाना चाहते हैं। अपनी ओर से उस त्याग और देशभक्ति की जमा पूँजी में कुछ जोड़ना नहीं चाहते। देश की सीमा की सुरक्षा तो जैसे सीमा पर तैनात मात्र जवानों की है। क्या राष्ट्रीय नैतिकता उन्हें अपने बच्चों को सेना में भेजने के लिए प्रेरित नहीं करती? क्या उनका दायित्व अबोध जनता को केवल लच्छेदार भाषण पिलाना है? और अपनी कुर्सी के लिए गाली-गलौज की कौन कहे, विधान सभा तक में कुर्सी तोड़, माईक उखाड़ एक दूसरे पर आक्रमण करना अपनी शान समझते हैं, इससे देश की नाक भले ही कट जाएँ।

बात केवल नेताओं की ही नहीं है, देश के बड़े-बड़े अफसरों से लेकर आम जनता तक राष्ट्रीय नैतिकता की परवाह नहीं करती। तभी तो कभी सेना के अधिकारियों द्वारा रक्षा सौदों में घुसखोरी की बात

उजागर होती है तो कभी गुप्त सैनिक रहस्य लीक करते कोई अधिकारी पकड़ा जाता है, तो कभी श्रेय पाने के लिए नकली मुठभेड़ दिखाई जाती है। क्या यही नैतिकता अथवा राष्ट्रीयता है? आए दिन बड़े-बड़े अफसरों द्वारा घोटाले किये जाने का पर्दाफाश होता रहता है। यह घोटाला आखिर होता क्या है? राष्ट्रीय संपत्ति की अवैध तरीके से प्रवंचना। कोई घूस लेकर अवैध काम करके राष्ट्र हित का नुकसान कर रहा है तो कोई राष्ट्रीय संपत्ति को बेच दे रहा है। निजी स्वार्थ के आगे राष्ट्र हित की चिंता किसे है। ऐसे कुकर्मो में आम जनता की भागीदारी भी कम नहीं है। आज भी ब्रिटिश जमाने के बड़े-बड़े आलीशान भवन और पुल खड़े हैं और अब हमारे देशवासियों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में बनाए पुल अंतिम बिल भुगतान होते-होते टूटने और रिसने लगते हैं, भवन में दरारें पड़ने लगती हैं। सड़कों का भी यही हाल है। अपने देश का काम अपने देश की जनता ईमानदारी से क्यों नहीं करती? क्या यह धर्मप्राण देश नैतिकता शून्य हो गया है? क्या धर्म का अर्थ मूर्ति पूजा और ललाट पर चंदन टीका करना ही रह गया है?

सरकारी संपत्ति आज लावारिश, अनाथ बच्चे की तरह उपेक्षित है। उसका रखवाला कोई नहीं है। आये दिन बिजली का तार काटने, टेलिफोन का केबल काटने की घटनाएँ सुनने-पढ़ने को मिलती हैं। छोटी-छोटी बात पर सरकारी बस जलाना आम बात है। राष्ट्रीय संपत्ति का विध्वंश करते लोगों में तनिक भी संकोच और शर्म नहीं होती। आखिर कल देश की संपत्ति को अपनी संपत्ति समझ लोग उसकी हिफाजत करेंगे? अपने देश के नियम और कानून को अपने धर्म और नैतिकता से जोड़ेंगे? कब तक रेलगाड़ियों में बिना टिकट सफल करते अपराध बोध नहीं होगा? हमारी आत्मा कब कार्यालयों, न्यायालयों, सचिवालयों में घूस लेने से रोकेगी? टैक्स, चाहे आय कर हो या बिक्री कर या उत्पाद शुल्क, की चोरी करते हमारी राष्ट्रीयता कब जागेगी? कालाबाजारी और तस्करी को लोग गैर कानूनी ही नहीं, बल्कि अनैतिक भी समझने लगेंगे? मेरी मान्यता है कि मानवीय नैतिकता के सर्वोच्च आदर्श तक पहुँचने के पहले राष्ट्रीय नैतिकता एवं सार्थक, समर्थक एवं अपरिहार्य पूर्व शर्त है। आत्महित से निकल कर देश हित की रक्षा करते हुए ही मानव-मात्र के कल्याण के काबिल हो सकते हैं। हम राष्ट्रीय नैतिकता के बिना अंतरराष्ट्रीयता नैतिकता को धर्म और संस्कार से जोड़ने की, प्रारंभिक शिक्षा में उसे अनिवार्य बनाने की जिससे लोग घूसखोरी, तस्करी, कालाबाजारी, बिना टिकट सफर, टैक्स की

चोरी, बिजली की चोरी, राष्ट्रीय संपत्ति का नुकसान, घटिया निर्माण जैसे कामों को राष्ट्र विरोधी, अनैतिक और अधार्मिक समझकर त्याग दें। ऐसी जागरूक चेतना से ही देश प्रेम और राष्ट्रवाद पनपेगा जो आगे चलकर मानववाद को संतुष्ट करेगा।

यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद मानवीय नैतिक मूल्यों के निर्वहण में बाधक का काम करता है। राष्ट्रीयता राष्ट्रहित केंद्रीत होती है और एक राष्ट्र का हित दूसरे राष्ट्र हित का परस्पर विरोधी हो सकता है। किसी देश की विस्तारवादी अथवा उपनिवेशवादी नीति से दूसरे देशों के लोगों का अहित हो सकता है। किसी देश की विस्तारवादी अथवा उपनिवेशवादी नीति से दूसरे देशों के लोगों का अहित हो सकता है। इससे संघर्ष एवं युद्ध की नौबत आ सकती है। और किसी भी युद्ध में मानवता ही हताहत होती है। राष्ट्र हित में युद्ध का औचित्य देखा जा सकता है, मगर मानवीय नैतिकता इसका समर्थन कभी नहीं कर सकती। प्राय: राष्ट्रवादी जोश में एक दो दुर्बल देश पर आक्रमण कर देता है और हजारों-लाखों लोगों का, अरबों की संपत्ति का नाश कर देता है। वह दूसरे देश को जीत कर अपने देश की सीमा, सम्मान और शक्ति का विस्तार करता है। अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह देश गौरवशाली हो सकता है, मगर मानवता मनुष्य द्वारा मनुष्य के विनाश को, शोषण को उचित नहीं ठहरा सकती। दो विश्व युद्ध इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। चाहे अमेरिका ने जापान पर बम गिराकर अपने देश में जितनी भी प्रशंसा अर्जित की हो, मगर मानवीय नैतिकता आज भी उसे धिक्कार रही है। ऐसी राष्ट्रीयता मानवता के लिए जहर है।

मुझे याद है, करीब बीस साल पहले बाबा आम्टे से मेरी बातचीत हुई थी। उनका एक नारा था 'भारत जोड़ो'। इस नारे से किसी को विरोध नहीं हो सकता। मगर मैंने उनसे प्रश्न किया था, 'बाबा, आप तो संत हैं, आपके लिए तो संपूर्ण विश्व एक है, फिर आप केवल 'भारत जोड़ो' का नारा क्यों देते हैं? आप विश्व को जोड़ने का नारा क्यों नहीं देते?' इस पर पहले तो उन्होंने हल्के ढंग से सहजतापूर्वक कहा, 'देखो, मैं तो छोटा आदमी हूँ, इसलिए मेरा नारा छोटा है। एक बहुत बड़े संत हुए थे बिनोबा जिनका नारा था 'जय जगत'। लेकिन क्या हुआ उस नारे का फल! बात सटीक थी। अगर हम अपने देश के विभिन्न धर्मो, भाषाओं एवं संस्कृतिवालों में परस्पर मेल और एकता कायम कर लें तो हमारा दृष्टिकोण स्वत: व्यापक और वैश्वीकरण हो जाएगा। सही दिशा में हमारा एक कदम हमें अगला

कदम भी सही मंजिल तक ले जाएगा।

गाँधी जी बराबर साधन को साध्य से श्रेष्ठतर समझते थे। अगर हम मानवीय नैतिकता की राह पर अग्रसर हों तो राष्ट्रीय लक्ष्य के साथ-साथ हमें अंतरराष्ट्रीय और सार्वभौमिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। तब हमें धार्मिकता और आध्यात्मिकता की उपलब्धि स्वत: हो जाएगी, क्योंकि मानव मूल्य ही सभी धर्मो की आत्मा है।

फिर भी भारत के संदर्भ में कट्टर राष्ट्रवाद के खतरे की आशंका के बावजूद मुझे आज राष्ट्रीयता की तत्कालीन आवश्यकता दिखाई पड़ती है। देश में बढ़ती अलगाव प्रवृत्ति एवं धार्मिक, भाषायी एवं क्षेत्रीयता जनित अंतर्विरोधों पर सवाल राष्ट्रीय भावना से भी विजय प्राप्त की जा सकती है। आपसी मतभेदों एवं संघर्ष से न तो देश का कल्याण संभव है और न ही इससे मानवीय मूल्यों को संरक्षित रखा जा सकता है।

मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना में लेखकों का योगदान

चंद्र कुमार 'सुकुमार'

भूलोक सत्त्व एवं तम से संतुलित राग का लोक है। इस लोक में सात्त्विक गुण के संचित कोश का नाम देवत्व है, तो तामसिक गुणों के भण्डार का नाम दानवता। सात्विक एवं तामसिक गुणों के मिश्रण को राजसिक नाम दिया गया है। राजसिक गुणों के संकलन को मनुष्य शब्द से संज्ञमित किया गया है। जो मनुष्य अपने सात्विक गुणों की वृद्धि करते हुए तामसिक गुणों से मुक्त हो जाता है, वही इस लोक में पूज्य बन जाता है, वरेण्य बन जाता है। प्रणम्य बन जाता है, प्रातः स्मरणीय बन जाता है। इसी क्रम में जो मनुष्य सात्त्विकता की पराकाष्ठा पर पहुँच देवत्व प्राप्त कर लेता है, उसे हम अवतार अथवा तीर्थकर शब्द से संज्ञापित, विभूषित कर अपनी संपूर्ण श्रद्धा, भक्ति और आस्था-निष्ठा अर्पित कर उसकी चरण वंदना करते हैं। इस सोपान से एक सोपान नीचे अवस्थित सत्पुरुषों को हम ऋषि या मुनि मान कर पूजते हैं, उनका आशीर्वाद ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर अपने जीवन को सफल बनाते हैं।

किंतु इसके विपरीत ऐसे अनेक प्रमाण हमारे सम्मुख यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे पड़े हैं कि इसी भूलोक में तामस गुणों के भंडार से व्यक्तियों ने राक्षसत्व का विकास किया है और आज भी कर रहे हैं। इसी राक्षसवृत्ति से संपन्न लोगों ने मनुष्य के शांत व सुखी जीवन को अपने कुलिश-क्रूर-कराल प्रहारों से आक्रांत कर जीवन को नारकीय यातनाओं से आच्छादित किया है। इस त्रासद स्थिति को विकट से विकटतर बनाने का कार्य आज हमारा विज्ञान संपादित कर रहा है। यथार्थतः विज्ञान भाव सत्ता से रहित बौद्धिक सत्ता की क्रीड़ा है। अर्थात् हृदयहीनता ही विज्ञान का दूसरा नाम है। इसी हृदयहीन विज्ञान द्वारा विकसित एवं उन्नत भौतिक संसाधनों ने एक ओर हमें अनेकानेक सुविधायें तो प्रदान की हैं, पर दूसरी ओर हमारी शांति एवं सुख को लील भी लिया है। इस विज्ञान द्वारा प्रदत्त संसाधनों ने मनुष्य को हृदयहीन बना दिया है। उसकी संवेदनाएँ मृतप्राय हो चुकी हैं। लक्ष्य है सर्वाधिक भौतिक समृद्धि प्राप्त करना। इसी स्वार्थ के पूर्ति-हेतु वह हर प्रकार का भ्रष्ट, कुत्सित व घिनौना मार्ग अपनाने में कोई संकोच नहीं करता। यह एक संक्रामक रोग है जो स्वस्थ-से-स्वस्थ व्यक्ति को देखते ही देखते घेर लेता है। इसी विकराल स्थिति की परिणति है परिवारों को विघटन

और व्यक्ति की टूटन। यही बिखराव और टूटन आज के मनुष्य की विक्षिप्तावस्था का आधार है।

कुंठित, लुंठित और विखंडित व्यक्ति में, हृदयहीनता और संवेदनशून्यता के वातावरण में हम विवेक, प्रेम और प्रेमल व्यवहार, दया व उदारता, अपनत्व और समत्व भाव, सहानुभूति व सहयोग, निष्पक्षता व न्यायप्रियता, अहिंसा व अपरिग्रह, अहम् का त्याग व धार्मिक-सामाजिक सहिष्णुता, आत्मबल और विश्व बंधुत्व जैसे महान गुणों की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? वास्तव में हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस संसार को विषवृक्ष बताया गया है, आज वह अपने साकार एवं सापेक्ष रूप में अवस्थित है। कहा गया है कि-

'संसार विषवृक्षस्य द्वे एव रसवरफले।
काव्यामृत रसास्वादः संगमः। सज्जनौ सह।'

लगता है यह संसार सत्यमेव ही विषवृक्ष है। मानवीय मूल्यों का ह्रास आज, इस वर्तमान युग में जितना हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ। यह तो पतन की पराकाष्ठा है, जहाँ नारकीय यातनाओं के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं बचा है। इससे त्राण एक, केवल एक ही मार्ग है कि हम मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना करें। मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना तब ही हो सकती है जब हम मनुष्य बनें। वह मनुष्य, जो केवल बुद्धि से संचालित नहीं होता, बल्कि हृदयस्थ रसार्णव की हिलौरों के झूले पर भी झूलता है। अर्थात् जो संवेदनाशून्य नहीं है, बल्कि संवेदनशील है। संवेदनशीलता ही हमें आज की विकट विषैली स्थितियों से उबार सकती है। एक नए मानव का विकास कर मृतप्राय मानवता में नए प्राण फूँक सकती है। संवेदनशीलता ही समत्वभाव की आधारशिला है। जिस पर शांत व सुखी मानव-जीवन रूपी भवन निर्मित होता है। समत्त्वभाव में रस है। रस आनंद का ही दूसरा नाम है। समात्मभाव जीवन की अनेक इकाइयों का ऐसा आत्मीय भाव है जो न तो इकाई की कठोर सीमा को प्राप्त हो सकता है और न इकाई के आधार को खंडित करता है। समत्वभाव प्रकृति की स्वार्थयिकता और बुद्धि की उदासीनता दोनों से मुक्त है। उधर आत्मा न इकाई में रूढ़ है न इकाइयों की आग्रहविहीन केंद्रीयता उसके विस्तार में बाधक है। इस विलक्षण स्वभाव के कारण ही आत्मा रस का, आनंद का स्वरूप है अर्थात् आनंद का उदय इकाई की सीमा के आग्रह को त्याग कर दूसरी इकाइयों के साथ सक्रिय और सृजनात्मक समत्त्वभाव में होता है।

आज मनुष्य सत्तालोलुप होकर सभ्यता और संस्कृति के साथ खिलवाड़ कर रहा है। भौतिक संसाधनों की प्रचुरता एवं सहज उपलब्धता ने इस लोलुप मनुष्य के अहम को चरम सीमा पर पहुँचा कर स्वयं मनुष्य एवं मनुष्यता के विनाश के मार्ग को प्रशस्त कर दिया है। अनैतिक आचरण एवं दुर्व्यसनों ने भारतीय समाज को विषमताओं के अँधकूप की ओर धकेल दिया है। जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण ने लोगों को स्वार्थान्धता के मकड़जाल में जकड़ दिया है। ऐसी स्थितियों में न केवल भारत को वरन् विश्व को भी भौतिक उत्थान से भी अधिक आध्यात्मिक संबल की आवश्यकता है। अणुव्रत आंदोलन ने युग-निर्माण की दिशा-दृष्टि प्रदान कर नई क्रांति का सूत्रपात किया है। अणुव्रत की सबसे बड़ी और अभिनव विशेषता ही यह है कि कोई भी व्यक्ति कहीं भी रहता हुआ सरलता से इसका पालन कर सकता है।

अणुव्रत आंदोलन नैतिक जागरण द्वारा जन जन को सन्मार्ग की ओर प्रेरित कर आत्मबल का विकास करता है। यह हृदय परिवर्तन के माध्यम से कार्य करने वाला एक सघन अभियान है। दूसरे शब्दों में यह चरित्र निर्माण का आंदोलन है। चरित्र की नींव गहरी और सुदृढ़ होती है जो हृदय और मस्तिष्क पर नियंत्रण रखती है। इस दृष्टि से यह संस्कार निर्माण का अभियान है। अणुव्रत असल में मन की खुराक है, इसीलिए वह नैतिकता को पुनरुज्जीवन में सक्रिय योगदान प्रदान करता है और मनुष्य को जीवन जीने की कला सिखाता है। स्मरण रहे कार्य और कारण शुद्ध होते हैं तो परिणाम भी शुद्ध होता है। इस रूप में अणुव्रत जीवन-शुद्धता का आंदोलन है। फलतः संत्रस्त मानवता को त्राणदाता और मानव समाज के सार्वभौम उत्थान व संस्कार का महायज्ञ है जो वैयक्तिक उत्कर्ष के साथ सामाजिक उन्नति की भूमिका भी तैयार करता है और राष्ट्रीय समात्मभाव विकसित कर राष्ट्रीय गौरव की संरक्षा व सुरक्षा भी करता है। जन-जन के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार एवं उत्थान को संभव बनाता है। अणुव्रत मानव-मात्र के लिए संग्रहण-सूत्र है जो मानव को मानव से जोड़कर विश्व-मानव का सृजन करता है। यह सही अर्थ में मानव धर्म का प्रतीक है। सत्य तो यह है कि हृदय से बुद्धि का, आचार से विचार का और कथनी से करनी का समन्वय हुए बिना आत्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त ही नहीं होता। आज से संघर्षशील मानव में आत्मद्रोही दृष्प्रवृत्तियों से अधिक मोर्चा लेने की क्षमता और सामर्थ्य यदि किसी में है तो वह अणुव्रत में है, क्योंकि

जीवन के बाह्य एवं आंतरिक पक्षों में अणुव्रत के द्वारा सहज ही संतुलन स्थापित किया जा सकता है। यह जीवन-दर्शन और समाज-व्यवस्था की पृष्ठभूमि है। इसलिए यह अहिंसात्मक प्रतिकार का अमोघ साधन है।

भारत के दृष्टाओं ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व मानव समाज के उत्थान का, उसे नैतिक विकास का जो तत्व बुद्धिर्गम, हृदयंगम एवं आचरणगम कर लिया था उसी का अभिनव आवृत्ति अणुव्रत आंदोलन ने सर्वधर्म समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया है, क्योंकि यह असांप्रदायिक और सार्वभौम है। यही नए मान, मानवता और सौहार्द्रपूर्ण बंधुत्व की भावना का विकास कर मानव की संहारक प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर सकता है और करके रहेगा। आणविक युद्ध को रोकने का एकमात्र उपाय अणुव्रत साधना है। स्मरण रहे अणुबम विनाश का अस्त्र है तो अणुव्रत जीवन का मंगलमय दर्शन है। अणुबम विष है तो अणुव्रत अमृत है। अणुबम प्रलय का वाहक है तो अणुव्रत जीवन का गायक है। स्पष्ट है कि अणुव्रत स्वीकार किए बिना कोई भी व्यक्ति, समाज देश का विश्व सुख-शांति से नहीं जी सकता।

अणुव्रत की आचार-संहिता के मूल बिंदुओं का यहाँ स्मरण कर लेना हमारे लिए सार्थक रहेगा। जो कि निम्नांकित हैं-

1. मैं किसी भी प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूँगा, न आत्महत्या करूँगा और भ्रूण-हत्या।
2. मैं आक्रमण नहीं करूँगा और न आक्रामक नीति का समर्थन करूँगा। विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूँगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।
4. जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को उँच-नीच नहीं मानूँगा, अस्पृश्य नहीं मानूंगा और मानवीय एकात में विश्वास करूँगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूँगा और सांप्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊँगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूँगा और अपने लाभ के लिए दूसरे को हानि नहीं पहुँचाऊँगा, न छलनापूर्ण व्यवहार करूँगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूँगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूँगा।
9. मैं सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूँगा।
10. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊँगा। अर्थात् मादक एवं नशीले पदार्थो यथा शराब, गांजा, चरस, हेराइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूँगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूँगा। स्पष्ट है कि हरे-भरे

वृक्ष नहीं काटूँगा और पानी का अपव्यय नहीं करूँगा।

कंटकाकीर्ण वैश्विक धरातल पर शांत एवं सुखी जीवन की सर्जना, लेखन के प्रति संकल्पिक-समर्पित आस्था के बिना संभव नहीं है। सकारात्मक सोच के धनी रचनाकार यें कार्य सहज ही कर लेते हैं, किंतु आत्मसाक्षात्कार करने की अनिवार्य प्राथमिकता यहाँ भी अवस्थित है। सत्य तो यह है कि जो लेखन मात्र अर्थोपार्जन के उद्देश्य से किया जाता है, वह प्रायः प्रभावहीनता की बेड़ियों में जकड़ जाता है, किंतु जो लेखन कीर्ति-काया प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है, वह हृदय और मस्तिष्क पर सीधा असर करता है, क्योंकि वह लेखकीय ध्यानावस्था की अनायास अभिव्यक्ति होता है। अनायास अभिव्यक्ति स्वार्थ, लालच या व्यक्ति के अहम् भाव से मुक्त होती है। भारतीय वांग्मय लेखकीय ध्यानावस्था की अनायास अभिव्यक्ति को स्पष्ट, मुखर एवं अकाट्य प्रमाण है। मन और आत्मा जब एकरूप हो जाते हैं और शरीरावस्था गौण हो जाती है तब यह ध्यानावस्था प्राप्त होती है। वास्तव में ध्यानावस्था वरदान है, अमृत-तत्व इसी की नाभी में अवस्थित है।

मैं क्षमा याचनापूर्वक कहना चाहूँगा कि जो लेखन केवल आतंक एवं वासना को शब्द देता है, वही व्यक्ति और समाज के हृदय में विष घोलता है। आज के लेखक प्रायः यही कर रहे हैं। ऐसे लेखकों द्वारा रचित साहित्य भले ही बिक खूब रहा हो और आज के प्रचार माध्यम इसी साहित्य के प्रचार-प्रसार में भले ही एड़ी से चोटी तक को जोर लगा रहे हों, किंतु यह केवल चार दिन की चाँदनी है। लय, जीवन की लय तोड़ कर प्रलय की ओर धकेलने का कोई भी प्रयास न कभी सफल हुआ है और न होगा। कला के नाम पर जो आतंक, भय और नग्नता व्यक्ति के समक्ष परोसी जा रही है वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आत्मघाती सिद्ध हो रही है। समाज के दर्शन होने का दावा करने वाले साहित्य को समाज की केवल विकृतियाँ ही क्यों दिखाई दे रही हैं, सुकृतियाँ क्यों नहीं दिखाई देती? और चलो, आज के रचनाकारें ने विकृतियों का दिग्दर्शन कराना अपने लेखन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया है तो उसका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार से तो कीजिए कि पाठक को उन विकृतियों से मुक्त होने की प्रेरणा मिले। विकृतियों के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न हो। वह उन्हें त्याज्य समझने और मानने लगे। अनैतिकता, अश्लीलता, सांप्रदायिकता और हिंसा से वह विमुख हो जाए।

यदि आज का लेखक, आज का रचनाकार इतना भर भी कर सकेगा तो हम उसे अपनी कृतज्ञता अर्पित करेंगे। मौजूदा लेखन एवं लेखक के समक्ष भौतिक समृद्धि की अंधी दौड़ ने एक चुनौती प्रस्तुत कर दी है। आइए हम इस चुनौती को स्वीकार करें और मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना के इस महायज्ञ में अपनी आहूति देकर अपने लेखकीय दायित्व का सफल निर्वहण की भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त करें। आचार-शास्त्र के महा प्रणेता भगवान महावीर ने कहा है-

'बलं क्षमं व पेहाए सद्धामारोगमप्पलो,
खेतं कालं च विन्नाय सहय्याणं निजुंजये।'

अर्थात् व्यक्ति अपने बल, पराक्रम, श्रद्ध और आरोग्य को ध्यान में रखकर व काल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार स्वयं को धार्मिक प्रवृत्तियों में नियोजित करे। लेखक का धर्म रचना है, यदि वह भगवान महावीर तथा महात्मा गाँधी द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करे तो निश्चय ही वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का मंगल कर सकेगा।

♦♦♦

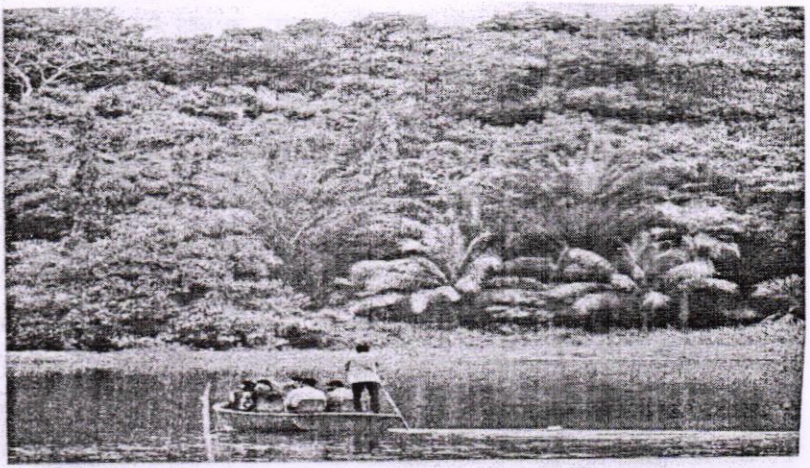

Boating at Nandankanan

राष्ट्रीय पर्व-त्योहार और सांस्कृतिक चेतना

पी. आर. वासुदेवन 'शेष'

हमारा देश विविध संस्कृतियों का अनुपम राष्ट्र है। यहाँ संस्कृतियों की जो स्वच्छंदता दिखाई देती है वह विश्व-पटल पर अन्यत्र दुर्लभ है।

यह हम भली-भाँति जानते हैं कि संस्कृति का स्वरूप निर्माण जब चाहें तब नहीं होता है, अपितु पीढ़ी के अनवरत सद्प्रयास से इसके युगों तक रहने वाली आधारशिला तैयार होती है। अतएव संस्कृति का उद्गम, अकस्मात् और सद्य: नहीं होता है, अपितु अपरंपरागत मान्यताओं, आस्थाओं और जीवन मूल्यों के आधार पर होता है। इसके आधार भूत तत्वों में धार्मिक सिद्धांत, सामाजिक परंपराएँ और नवीन दृष्टिकोण प्रधान रूप से होते हैं। धर्म संस्कृति का आवश्यक अंग होने के कारण हमारे अनेक पवित्र और स्वच्छंद कर्मो को उत्पन्न करता है। पर्व-तिथि और त्योहार-संस्कृति के जीवन प्रमाण हैं।

हमारे देश में त्योहारों का आगमन या आयोजन ऋतु चक्र से होता है। त्योहार हमारी सांस्कृतिक चेतना का जीवंत प्रतिनिधि के रूप में है जिससे हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय मान्यताएँ झाँकती हुई दिखाई देती हैं। हमारी मनोवृत्तियाँ इससे स्पष्ट होती हैं। हमारी जातियाँ दिखाई देती हैं, हममें क्या हैं और हमारी अवधारणाएँ क्या हैं, हमें दूसरों से अपेक्षा क्या है या हम दूसरों को क्या समझते हैं इन सभी प्रश्नों का उत्तर और स्पष्टीकरण इन त्योहारों के माध्यम से होता है। अतएव हमें अपने यहाँ संपन्न होने वाले त्योहारों का यथोचित उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है-

रक्षा बँधन -

रक्षाबँधन का त्योहार राखी, रखड़ी, सलोनी कई नामों से चर्चित है, जो वर्षा ऋतु की श्रावण पूर्णिमा के दिन श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के त्रिकोण से प्रकट होता है। प्राचीन काल से इसके प्रति अनेक धारणाएँ रहीं हैं, लेकिन आधुनिक इस त्योहार का खुला और सच्चा रूप भाई-बहन के परस्पर स्नेह और मंगल भावनाओं के द्वारा सामने आता है। पूरे देश में यह त्योहार हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाता है। रक्षा बँधन का

त्योहार में बहनें अपने भाइयों की कलाई में राखी (धागा) बाँधती हैं और आरती उतारती हैं, तिलक लगाती हैं। उसकी लंबी आयु, स्वास्थ्य की कामना करती हैं। बदले में भाई बहन को कुछ उपहार देता है और उसकी विपदा में रक्षा, स्नेह का आशीर्वाद देता है। यह बँधन बड़ा पाक और पवित्र होता है।

दशहरा अथवा विजयादशमी-

प्राचीन काल में दुर्गा के उपासक क्षत्रिय लोग वर्ष बीतने पर अपने कार्य का स्मरण करते थे। दुर्गा की नवरात्रि भर उपासना करते थे तथा नवरात्रि की अंतिम नवमीं को दुर्गा-पूजन करते थे, अपने अस्त्र-शस्त्र ठीक करते थे। दूसरे दिन दशहरा पड़ता है। उस दिन उत्सव मनाकर अपनी युद्ध यात्रा पर, आखेट यात्रा पर प्रस्थान करने के लिए शुभ माना जाता है। इस त्योहार के मनाने का एक अन्य मुख्य कारण यह है कि इस दिन रामचंद्रजी ने रावण का वध कर उस पर विजय पाई थी। इस अवसर पर मेघनाथ, कुंभकरण और रावण के पुतले जलाए जाते हैं। यह असत्य पर सत्य की विजय का त्योहार कहलाता है।

दीपावली अथवा दीवाली -

यह त्योहार विशेषकर वैश्य वर्ग का माना जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर निष्ठा और श्रद्धा के रूप में मनाया जाने वाला त्योहार दीपावली का त्योहार कार्तिक मास की अमावस्या को समशीतोष्ण ऋतु की मुस्कान दीपों की सुंदर और मनमोहक लौ के द्वारा प्रस्तुत करके हमारे ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित करने की संचेतना प्रदान करता है। कहा जाता है कि कार्तिक मास की अमावस्या तिथि को महाराजा रामचंद्र ने लंका विजय करके अयोध्या में पदार्पण किया था। उनके आगमन के उपलक्ष्य में उस समय अयोध्या नगर में दीप-मालिका सजाई गई। उसी घटना की स्मृति में आज भी दीपावली मनाई जाती है। आतिशबाजी, पटाखे, बंब छोड़े जाते हैं। सब मिलकर इस त्योहार को बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। आपस में खुशियाँ एवं मिठाइयाँ बाँटते हैं। बड़ी आत्मीयता, आनंद एवं सौहार्द का त्योहार है।

होली -

त्योहारों का शिरोमणि होली का त्योहार चैत्रमास कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को वसंत ऋतु की मधुर बेला में जब आ धमकता है तब मात्र

राधा, कृष्ण और गोपियों की होली का हुड़दंग और रसाचार हमको नहीं ललचाता और तरसाता है, अपितु अपनी बात बीती कहानी भी हमें इसकी मधुरता को याद दिलाने लगती है। इसी दिन से नया साल भी प्रारंभ होता है। नया वर्ष नये उत्साह को लेकर आता है। होलिका के विषय में यह कहानी प्रसिद्ध है कि हिरण्य कश्यप का पुत्र प्रह्लाद हरिभक्त था और वह स्वयं हरि विरोधी था। उसने एक बार होलिका को प्रह्लाद के साथ अग्नि में बैठकर उसे जला देने की आज्ञा दी। हरिमाया से होलिका स्वयं जल गई और भक्त प्रह्लाद बच गया। तभी से होलिका दहन की प्रथा चल पड़ी। इस त्योहार पर रंग गुलाल एक-दूसरे पर डालते हैं। एक दूसरे के साथ गले मिलते हैं। कहा जाता है कि दुश्मन भी होली के दिन दोस्त बन जाते हैं। इसे रंगों का त्योहार कहा जाता है। चारों तरफ खुशियाँ ही खुशियाँ छा जाती हैं। सभी लोग एक ही रंग में रंग जाते हैं। लगता है जैसे एक ही बगिया के विभिन्न फूल हों। मिठाईयाँ बाँटी जाती हैं। गाने, नाच गा कर होली गली-मोहल्ले में बच्चे एक दूसरे पर रंगों से भरी पिचकारियाँ छोड़ते हैं। सभी गिले, शिकवे, भेदभाव को मिटाकर यह त्योहार भाईचारा, आपसी सद्भाव को जाग्रत करता है। मथूरा में यह त्योहार बेहद लोकप्रिय है।

ईद -

भारतीय त्योहारों में ईद भी अहम् त्योहार है। मुसलमान भाई इसे बड़े चाव से मनाते हैं। इस दिन वे तड़के मस्जिद जाकर ईद की नमाज अदा करते हैं। अल्लाह का शुक्रिया अदा करते हैं कि देश में अमन एवं शांति कायम रहे, भाईचारा रहे, हिंदू भाई मुसलमान भाई को गले लगाकर ईद मुबारक कहता है। मिठाई एवं सेवैंया खाता है। बाजारों में ईद की चहल-पहल रहती है। मुसलमान भाई ईद की सफेद टोपी, नया वस्त्र धारण करते हैं। चहूँ ओर सौहार्द का वातावरण रहता है।

पौंगल -

यह दक्षिण के प्रांत तमिलनाडु में मनाया जाता है। फसलों की कटाई किसान करते हैं। गाय की पूजा करते हैं। चावल की खिचड़ी पकाई जाती है। सूर्य देवता की पूजा की जाती है। गन्ने की कटाई होती है। किसानों के त्योहार के नाम से जाना जाता है। किसान हर्षोलास से यह त्योहार मनाते हैं। घर, बैल, गायों को सजाते हैं। उनकी पूजा अर्चना करते

हैं। उन्हें नया परिधान पहनाकर गली-गली घुमाते हैं। व्यवसायी के लिए यह शुभ संकेत लेकर आता है।

ओणम -

यह दक्षिण के प्रदेश केरल का प्रसिद्ध त्योहार है। इस दिन फसलों की कटाई होती है। लोग अपने घरों में तरह-तरह की रंगोलियाँ एवं दीप जलाकर नाचते और गीत गाते हैं। हाथियों को सजाया जाता है और मंदिरों में पूजा-अर्चना होती है।

युगादी-

यह दक्षिण के प्रदेश 'आँध्र प्रदेश' में मनाया जाता है। इसे नये वर्ष के रूप में स्वागत करते हैं। सभी लोग सांप्रदायिक भेदभाव को भुलाकर इसे बड़े सौहार्द से मनाते हैं। आनंद एवं उल्लास होता है। नये आभूषण, वस्त्र खरीदते हैं। दूसरों को मिलकर बधाईयां देते हैं। मंदिरों में जाकर पूजा-अर्चना करते हैं।

बैसाखी-

यह उत्तर स्थित प्रदेश पंजाब का प्रसिद्ध त्योहार है। फसलों की कटाई कर किसान बाजार में बेचने जाता है और खुशियाँ मनाता है। नाचता है, भांगड़ा करता है। गाँवों में मेले लगते हैं। मेले में लोग एक दूसरे से मिलकर खुशियाँ बाँटते हैं। मेले में खरीददारी करते हैं। अच्छे-अच्छे रंगीन पोशाक पहनते हैं। महिलाएँ गीत गाती हैं। गुरुद्वारों को खूब सजाया संवारा जाता है। कीर्तन होता है। प्रसाद एवं लंगर बाँटे जाते हैं। पंजाब का यह त्योहार खेती करने वाले किसानों की खुशहाली का त्योहार है।

इसी प्रकार भारत के अन्य सभी त्योहार गणेशोत्सव (महाराष्ट्र) महावीर जयंती, नागपंचमी, बिहार में छठपूजा, गुरु रविदास महोत्सव, पारसी दिवस क्रिसमस (बड़ा दिन) बड़ी धूम धाम से मनाए जाते हैं।

ये सभी त्योहार समाज और राष्ट्र की एकता समृद्धि के लिए प्रेम, एकता, मेल मिलाप के प्रतीक हैं।

सांप्रदायिक एकता, धार्मिक समन्वय, सामाजिक समानता तो हमारे भारतीय त्योहारों की विशेषता है। जातीय भेद-भावना और

संकीर्णता के धुँध को ये त्योहार अपने अपार उल्लास आनंद के द्वारा छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये त्योहार अपने जन्म काल से लेकर अब तक उसी पवित्रता और सात्विकता की भावना को संजोए हुए हैं। युग परिवर्तन और युग का पटाक्षेप इन त्योहारों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका।

इन त्योहारों का रूप चाहे बड़ा हो, चाहे छोटा, चाहे एक क्षेत्र विशेष तक सीमित हो, चाहे संपूर्ण समाज और राष्ट्र को प्रभावित करने वाला हो, अवश्यमेव श्रद्धा और विश्वास नैतिकता और विशुद्धता का परिचायक है। इन त्योहारों से कलुषता और हीनता की भावना समाप्त होती है। सच्चाई, निष्कपटता और आत्मविश्वास की उच्च और श्रेष्ठ भावना का जन्म होता है। मानवीय मूल्यों और मानवीय आदर्शो को स्थापित करने वाले हमारे देश के त्योहार तो शृंखलाबद्ध हैं। भारतीय त्योहार राष्ट्र के गौरव हैं। सभी त्योहार विशुद्ध प्रेम, भेदभाव और सहानुभूति का महत्वांकन करते हैं। शांति, अहिंसा, भाईचारा, परस्पर प्रेम, सद्भाव एवं राष्ट्रीयता ही इन त्योहारों के आयोजन का मुख्य लक्ष्य है। विविधता में एकता ही इसका मूलमंत्र राष्ट्रीय है।

♦♦♦

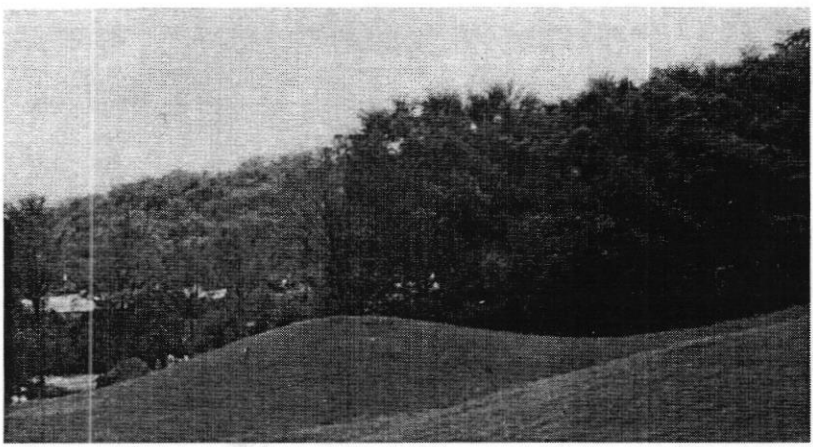

भारत में भाषायी एवं सांस्कृतिक एकसूत्रता

डॉ. बाल शौरि रेड्डी

भारत के विख्यात दार्शनिक एवं साहित्य स्रष्टा डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन ने साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा आयोजित एक समारोह में अपने व्याख्यान में कहा था – 'भारतीय वाङ्मय एक है, जो विविध भाषाओं में रचा गया है। इससे स्पष्ट है कि भाषायी भिन्नता के बावजूद भारतीय सारस्वत की आस्था एक है। समस्त भारतीय भाषाओं में सृजित साहित्य में हमारी एक अविभाज्य सांस्कृतिक परंपरा का स्रोत अविच्छिन्न रूप में दर्शित होता है। कारण यह है कि यह वैदिक साहित्य से लेकर आज तक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य में एकसूत्रता का आदर्श परिलक्षित है। भारत के सभी प्रदेशों की भाषाओं में आठवी-दसवीं शती तक अपना उल्लेखनीय साहित्य उपलब्ध नहीं होता सिवाय तमिल के।

भारतीय वाङ्मय के नाम से समस्त भारत के लिए वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास, महाकाव्य, नाटक तथा अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान संबंधी साहित्य समादृत रहा है। वैदिक भाषा से लेकर संस्कृत, प्राकृत, पाली एवं अपभ्रंश भाषाओं में प्रणीत साहित्य समस्त भारतीय भाषाओं के लिए आधारभूत बना रहा यदि कतिपय भाषाओं के सर्जकों ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय अपनी कृतियों में भी दिया हो, किंतु मूल कथानक एक ही रहा। आठवीं-दसवीं शती तक भारतीय भाषाओं में उल्लेखनीय अपना कोई मौलिक साहित्य सृजित नहीं हुआ। उसके पश्चात् भी प्रारंभ में संस्कृत के महाकाव्यों का रूपांतर ही हुआ। भारतीय भाषाओं के आदिकाव्य महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण है। इस काव्य का सभी भारतीय भाषाओं में न केवल रूपांतर हुआ, अपितु उन-उन भाषाओं के स्रष्टाओं ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा अपने काव्य के अधिक सुंदर, प्रौढ़ और सरस बनाने का प्रयास किया। साथ ही अपने प्रदेश की परिवेशगत विशेषताओं का मूल कथा के साथ समनवय करते हुए वहाँ के आचार-व्यवहार, खान-पान, वेश-भूषा एवं स्थानीय कलात्मक अभिरुचियों को भी सम्मिलित की अपनी कृति को एक नया स्वरूप प्रदान किया, परंतु काव्य के मूल कथा आदर्शो

को अक्षुण्ण रखते हुए अपने पात्रों के चरित्रों के माध्यम से उन्हें और अधिक निखारने का प्रयास किया। कतिपय रचनाकारों ने अपनी गहरी संवेदनात्मक अभिव्यक्तियों के द्वारा काव्य की रसात्मकता को अत्यंत उज्ज्वल बनाया।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' को स्थानीय लोकभाषा अवधी में रचने के साथ ही साथ रामचंद्र के चरित्र को शील, शक्ति एवं सौंदर्य के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। सती-साध्वी सीताजी को नारी के समस्त सद्गुणों से युक्त चित्रित कर उन्हें देवी के आसन पर बिठाया। इसी प्रकार लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सुग्रीव, केवचट गुह, विभीषण, शबरी, जटायु, दशरथ, कैकेयी, रावण, वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम, जनक इत्यादि चरित्रों को पात्रोचित गुणों से युक्त बनाकर अत्यंत सहजता का पोषण किया। परंतु तमिल में कवि चक्रवर्ती कंबन ने श्रीरामचंद्र के चरित्र में देवतय प्रदान कर अपनी अनुपम भक्ति भावना का परिचय दिया है। पुष्प वाटिका प्रसंग में कंबन ने तुलसीदास की अपेक्षा अपने अदभुत कल्पना कौशल द्वारा काव्य को अतिशय प्रभावोत्पादक बनाया है। साथ ही विभिन्न प्रसंगों के चित्रण में द्रविड़-संस्कृति के वैशिष्ट्य को प्रतिबिंबित कराया है।

तेलुगु में रंगनाथ रामायण के प्रणेता श्री गोनबुद्धा रेड्डी ने संदर्भानुसार अनेक चमत्कारपूर्ण लोक-कथाओं को जोड़कर कथा सूत्र को अधिक सुगठित एवं स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया। दृष्टांत के लिए पंचवटी में शूर्पनखा का प्रवेश, जम्बूवासी एवं कालनेमि के वृत्तांत, सती सुलोचना का वृतांत तथा उर्मिला देवी के प्रसंग ऐसे सहज, सरस एवं सरल बन पड़े हैं जो अन्य भारतीय भाषाओं की रामायणों में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार तेलुगु में रचित ओल्ल रामायण, भास्कर रामायण, रामायण कल्पवृक्ष इत्यादि रामायणों में अनेक अनुपम प्रसंग एवं उद्भावनाएँ मिलती हैं, जो काव्य के सौंदर्य को द्विगुणीकृत कर देती हैं। कुछ ऐसे ही अनोखे प्रसंग कन्नड़ की पम्प रामायण, कु.वे.गु. कृत रामायण दर्शनम, मलयालम की वल्लत्तोल रामायण, बंगला भाषा की कृतिवास रामायण, संस्कृत की अध्यात्म रामायण, अनर्घ राघव, रघुवंश, जैन धर्मावलंबियों द्वारा रचित रामायण, मराठी, गुजराती, ओड़िया इत्यादि भाषाओं में विचरित रामायणों में अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं जो मूल रामायण से भिन्न होते हुए भी उसकी आत्मा को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। यही बात महाभारत, भागवत तथा अन्यानय महाकाव्यों तथा पुराणों के संदर्भ में भी द्रष्टव्य है।

दसवीं शती से लेकर पंद्रहवीं-सोलहवीं शती तक प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं में प्रणीत अधिकांश साहित्य में या तो संस्कृत के ग्रंथों का रूपांतर हुआ है, उन काव्यों से कतिपय प्रमुख आख्यान एवं उपाख्यानों को इतिवृत्त के रूप में ग्रहण कर काव्य रचना हुई है। इससे विदित होता है कि भारतीय वाङ्.मय में एक विशिष्ठ सांस्कृतिक एकात्मकता अविछिन्न रूप से चली आ रही है। इस संदर्भ में हम यह भी कह सकते हैं कि आरंभ में भारतीय वाङ्.मय धर्म-प्राण रहा है। इस कारण से भारतीय भाषाओं में जो कुछ साहित्य रचा गया, वह धर्म-केंद्रीत रहा।

साहित्य में मानवीय संवेदनाओं की गहन व्याख्या होती है। धर्म नैतिक मूल्यों की परिरक्षा के साथ कतिपय आदर्श एवं सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। इसी भित्ति पर उत्तम मानव जीवन के लिए आचार-संहिता बनती है। साहित्य में इन मूल्यों तथा आचार-संहिता के अनुरूप पात्रों के चरित्र का निर्माण होता है। ये आदर्श सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य के सृजन के लिए एक प्रकार से मानदंड बने हुए हैं। चाहे कथानक जहाँ से भी ग्रहीन क्यों न हो, परंतु उसका केंद्र बिंदु वही आदर्श होता है। एक प्रकार से ये आदर्श साहित्य के लिए ऐसी सीमा रेखाएँ बने हुए थे कि इस चौखट के बाहर अपनी रचना के सृजन-क्षेत्र का विस्तार करने में रचनाकारों के लिए संस्कृति के अतिक्रमण के आरोप का भय था। ये आदर्श धर्म के नाम पर मानव-समुदाय को एक प्रकार से नैतिकता का मानदंड के रूप में स्वीकार थे। यदि मानव समाज में इन मूल्यों की अवहेलना होती तो उन्हें धर्मच्युत ठहराकर बिरादरी से बहिष्कृत करने की परिपाटी भी रही। अत: साहित्य की संरचना में उपरोक्त मूल्यों की रक्षा के साथ ही साथ उन आदर्शो का प्रतिपादन भी आवश्यक माना गया। यह एकरूपता प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं तथा साहित्य में अंतिर्वाहिनी के रूप में परिलक्षित है। जहाँ तक साहित्य के निर्माण का प्रश्न है, उसमें भी हमें सर्वत्र एकरूपता के दर्शन होते हैं।

रीति अथवा लक्षण ग्रंथ प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं में समान हैं। सर्वप्रथम संस्कृत में छंद, रस, अलंकार, नायक-नायिका भेद, महाकाव्य के अष्टादश वर्णन इत्यादि से संबंधित सूत्र ग्रंथों का निर्माण हुआ। तदुपरांत अन्य भारतीय भाषाओं में इन सूत्रों का निर्माण साहित्य-सृजन में साहित्याचार्यो ने ही किया। श्रवण-दृश्य काव्यों का गद्य, पद्य एवं चम्पू काव्यों के रूप में विभाजन करके उसकी संरचना के आधार पर मुक्तक

काव्य, प्रबंध काव्य, महाकाव्य, खंडकाव्य, रूपक, उपरूपक के रूप में वर्गीकृत किया। तत्पश्चात् रूपक के दस भेद तथा उपरूपक के अट्ठारह भेद निर्धारित करके रचना की रीति को दृष्टिगत करते हुए उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया। ये काव्य रीतियाँ समस्त भारतीय भाषाओं के लिए आधारभूत बनीं और इन्हीं रीतियों के आधार पर आज तक भारतीय भाषाओं का साहित्य विविध विधाओं के रूप में सृजित होता रहा है।

आरंभ में संस्कृत के महाकवियों तथा नाटककारों की प्रमुख कृतियों का भारतीय भाषाओं में रूपांतर हुआ। पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण में जो विविध प्रकार के मठ एवं मंदिर स्थापित हुए और उन मठों में धर्माचार्यो ने देश के कोने-कोने में जाकर शास्त्रार्थ किया, प्रवचन किए और उनके द्वारा पर्वर्तित भजन एवं पूजन भी सर्वत्र समान रूप से समादृत हुए। इस प्रकार भारत में एक सामाजिक संस्कृति को विकसित करने का श्रेय साधु-संतों, महात्माओं तथा आचार्यो को जाता है। मुगलों, यवनों तथा अँग्रेजों के आगमन के पश्चात फारसी, अरबी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं की रचना-प्रक्रियाओं का प्रभाव भी भारतीय साहित्य पर समान रूप से पड़ा।

पूर्व में चैतन्य महाप्रभु, पश्चिम में गुरु नानक, नरसी मेहता, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, दक्षिण में पुरन्दरदास, हरिदास, सिदैन्द्र योगी तथा उत्तर में कबीर, दादू दयाल, सूरदास, तुलसीदास और मीरा इत्यादि ने अपने भजन, कीर्तन पद एवं साहित्यामृत द्वारा मानवमात्र के रूके हृदय को स्पंदित किया और इस कारण उनका साहित्य एक प्रदेश-विशेष का न रहकर समग्र भारत का साहित्य बना। परिणामस्वरूप इनका साहित्य सभी भाषाओं में रूपांतरित हुआ। इस प्रकार भावात्मक एवं रागात्मक स्तर पर भारतीय भाषाओं में समन्वय स्थापित हुआ।

किसी जाति या देश की संस्कृति की सही पहचान उसके लोक साहित्य द्वारा होती है। लोक-साहित्य में जनता की आशा-आकांक्षाएँ, सुख-दु:ख, हास-परिहास, आचार-व्यवहार तथा समग्र जीवन-शैली प्रतिबिंबित होती है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत घटित होने वाला जीवन संघर्ष लोक-साहित्य में रमणीय ढंग से चित्रित हुआ होता है। शिशु के जन्म से लेकर जीवन के हर कदम पर होने वाले विविध संस्कार लोक-साहित्य में प्रतिबिंबित हैं। लोरियों से लेकर यज्ञोपवीत, शादी-व्याह, विदाई के प्रसंग, उत्सव एवं पर्वो के संदर्भ में गाए जाने वाले गीतों का अनुशीलन एवं

परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि भारत के सभी प्रदेशों के जनपदों में गाए जाने वाले गीतों में अद्‌भुत साम्य है। भाषायी आवरण को हटा दें तो उसके भीतर स्पंदित होने वाली अनुभूतियाँ एक जैसी दर्शित होती हैं। यह एकसूत्रता हमारी सांस्कृतिक विरासत की पहचान है।

भारतीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करने पर हमें विदित होगा कि सूक्ष्म अंतर के बावजूद विषयगत समानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। विभिन्न साहित्यों के इतिहासों में विषय के आधार पर जो विभाजन और काल-निर्णय किया गया है उसमें भी थोड़े बहुत वैषम्य के साथ अधिक साम्य दिखाई देता है। प्रत्येक काल-खंड में विधागत दृष्टि से भी समानता परिलक्षित होती है, जैसे प्राय: सभी भाषाओं का प्रारंभिक साहित्य पुराणों तथा काव्यों के आधार पर हुआ। एक प्रकार से मौलिकता के बावजूद उसे अनुवाद-युग कहा जा सकता है। उसके पश्चात् प्राय: सभी भाषाओं के साहित्यों का वर्ण्य-विषय भक्ति-प्रधान रहा एक प्रकार से इस युग में अधिक प्रौढ़ साहित्य का सृजन हुआ है। कवि एवं आचार्यो ने अपनी प्रतिभा का खुलकर परिचय दिया। इसका कारण यह भी है क्रमश: जहाँ प्रांतीय भाषाएँ समृद्ध होती गई वहाँ रीति काव्यों की सर्जना के साथ कवियों को अपने काव्य-कौशल का परिचय देने का मार्ग प्रशस्त हुआ। चौदहवीं शती से सत्रहवीं शती का समय भारतीय भाषा एवं साहित्यों के लिए स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

भारतीय भाषाओं के साहित्यों का प्रणयन राजाओं, महाराजाओं तथा मण्डलाधीशों के दरबारों में अधिक हुआ। राजाश्रय प्राप्त कर कवि एवं आचार्य आर्थिक दृष्टि से सपंन्न होने के साथ निश्चिंत हो गए, तो दूसरी तरफ उनमें एक प्रकार की स्पर्धा भी पनपती गई। संस्कृत काव्य का पोषण राजाओं के दरबारों में अधिक हुआ। कालिदास आदि इसके प्रमाण हैं। मुगलों के शासनकाल में भी राजाश्रयी कविता का विकास हुआ, किंतु इस प्रकार की कविता प्रौढ़ होने के साथ श्रृंगार प्रधान रही।

साहित्य की एक धारा भारतीय संस्कृति की परंपरा से अनुप्राणित हो सत्त प्रवाहिनी रही। इस धारा का साहित्य अधिकांश भक्ति-प्रधान रहा है अथवा काव्यदर्शी का पोषक बनकर महानचरितों का प्रतिपादन करने वाला रहा है। इस कोटि में 'तुलसी, सूर, मीरा, पोतना, आण्डाल, आल्वार, नायनमार, अक्क महादेवी, तल्लोवरी, चैतन्य महाप्रभु, स्वाति तिरुनाल, नारायण गुरु गोपीनाथ तथा अन्यान्य संत कवियों को भी इस श्रेणी में गिना

जा सकता है। कवि मानव-समाज के कल्याण-हेतु अपने साहित्य का सृजन करते रहे। तत्कालीन शासकों ने अपने दरबार में इन्हें सादर आमंत्रित करना चाहा, परंतु ये स्वाभिमानी कवि जनता जनार्दन के हित एवं अर्चना में ही अपनी कविता के पुष्प अर्पित करते रहे। इन साहित्यधर्मी कवियों द्वारा रचित साहित्य भारतीय भाषाओं को अत्यधिक समृद्ध किया, वहीं पर साहित्य-संपदा को कालजयी बनाने के साथ-साथ अमरत्व प्रदान किया। ऐसे संत, भक्त एवं मानवतावादी साहित्यस्रष्टा समस्त भारतीय भाषाओं में हुए हैं और उनका साहित्य प्रादेशिक भाषाओं की सीमा को पारकर सार्वदेशिक बन गया है। परिणामस्वरूप इन विभूतियों का साहित्य अनेक भारतीय भाषाओं में अनुदित हुआ है। इन साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें विदित होता है कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा किस प्रकार हम सबको एकसूत्र में आबद्ध किए हुए है।

भाषा विचारों की संवाहिका होती है। विचार परिवेशजन्य होते हैं। भौगोलिक स्वरूप के आधार पर परिवेश निर्मित होता है। इसी के आधार पर खान-पान, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार मनोरंजन एवं कलाओं की निर्मिति होती है। अत: विशाल भूखण्ड में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। परंतु उस भूखण्ड पर सदियों से राजनीतिक स्तर पर एक इकाई के रूप में शासन होता रहा इस कारण इस प्रदेशों की जीवन-शैली और कलात्मक अभिरुचियाँ अपनी अस्मिता को अलग कायम रखते हुए एक दूसरे को अनुप्राणित करती रहीं। फलत: इस भूखण्ड में एक सामाजिक संस्कृति विकसित हुई। वेदों से लेकर धार्मिक कर्मकांड, मनुस्मृति के आधार पर निर्मित न्याय-व्यवस्था, गोत्र-सूत्र-स्रोत इत्यादि सारे देश में समान रूप से स्वीकृत हुए। इन सीमा-रेखाओं के मध्य हमारी बुद्धि और हृदय अपने कल्याण और भविष्य की परिकल्पना करते रहे। अत: हमारे बीच में एक प्रकार से समानता का होना स्वाभाविक ही है। इसी सोच के आधार पर हमारा भारतीय वांड्मय निर्मित हुआ। इस वांड्मय में हमारी संस्कृति आदर्श-रूपी तटों के मध्य प्रवाहमान थी। इसलिए सूक्ष्म विश्लेषण करने पर इस वांड्मय में एकरूपता के सूत्र दर्शित होते हैं।

भारतीय संस्कृति एक प्रकार का आत्म-शिक्षण है। वह मन, बुद्धि और स्मृति को नियंत्रित करने वाली आत्मा से संबंधित है। जैसे विभिन्न प्रकार के फूलों के पराग में गँध निहित होती है, उसी प्रकार संस्कृति भी साहित्य, संगीत, नृत्य इत्यादि नाना प्रकार की शास्त्रमम्ता

विधाओं का प्रतिरूप होती है। उसमें विज्ञान भी है, विवेक भी है, बँधन भी है और मुक्ति भी। इस प्रकार विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होगा कि हमारे चिंतन, मनन, अध्ययन एवं उत्तम संस्कारों का विराट स्वरूप भी संस्कृति है। यह संस्कृति जल में लंवण की भाँति निहित होती है, उसका स्वाद चखने पर ही विदित होता है।

आततायियों के आक्रमण से और राजनीतिक प्रभाव से इन लोगों के वास्तविक स्वरूप में बदलाव होने लगा। हमारे साहित्य तथा कलाओं पर भी मुगल शैली के स्थापत्य, वस्तु, चित्र, नित्य तथा संगीत कलाओं का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। अँग्रेजों के आगमन से हम अपनी स्वाधीनता को खो बैठे, साथ ही अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य का भी विस्मरण अवधि में भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अँधविश्वास, कुरीतियाँ, जाति एवं वर्ग व्यवस्था की जड़ें गहराई से जमती गईं। लोग अशिक्षा, गरीबी और अज्ञान के शिकार हो गुलामी की जंजीरों में जकड़ते गए।

शासक वर्ग ने हमें निर्वीय बनाकर हमारे अर्थ-तंत्र को विच्छिन्न कर दिया। इस कारण सारे देश में अकाल और बीमारियों का प्रकोप हुआ। भारतीय जनता असहाय हो परतंत्रता के कड़वे फल को भोगते हुए अपने उद्धार के लिए किरण की बाट जोह रही थी। बाल्य-विवाह, दहेज, सतीप्रथा, देवताओं पर विश्वास, जातिवाद, मंत्र-तंत्र इत्यादि अन्य विश्वासों में जकड़ी जनता की बुरी दशा देख राजाराम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन जैसे मनीषियों का दिल दहल उठा। ब्रह्म समाज की स्थापना के साथ भारतीय समाज और साहित्य में पुनर्जागरण का काल अवतरित हुआ। आर्य समाज का उद्‌भव भी लगभग इस काल-खण्ड में हुआ। इन समाजों ने भारतीय जनमानस को झकझोर दिया और उनमें आत्म-विश्लेषण तथा परिवर्तन के बीज बोए। इन सिद्धांतों को गहरा प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। गुजरात में स्वामी दयानंद सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ की रचना करके आर्य समाज के माध्यम से एक अभ्युदयगामी विचारधारा का सूत्रपात किया तो ब्रह्म समाज के सिद्धांतों से प्रभावित होकर बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरतचन्द्र चट्‌टोपाध्याय प्रभृति ने इस विचारधारा को साहित्य का जामा पहनाकर जनमानस में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। हिंदी में भारतेन्दु बाबू मण्डली ने, तेलुगु में भी कन्दटूरी वीरेशलिंगम पंतुलु ने और अन्य भाषाओं के रचनाकारों ने तार्किक दृष्टि से जो साहित्य रचा, उसके कारण जनता में वैचारिक परिवर्तन हुआ। साथ ही भारतीय भाषाओं के साहित्य में सारस्वत

साधकों ने अपनी अस्मिता की खोज करना प्रारंभ किया। भारतीय समाज ने भली-भाँति इस बात का अनुभव किया कि परतंत्रता के कारण ही सभी क्षेत्रों में उनका पतन हुआ है और स्वाधीन भारत में ही उनकी संस्कृति, सभ्यता एवं अर्थव्यवस्था पल्लवित होकर सुदृढ़ बन सकती है। एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन जोरों पर था। लोकमान्य तिलक ने 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' घोषित कर जनता को आजादी की लड़ाई के लिए प्रेरित किया। राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी के आगमन से राष्ट्रीय आंदोलन को बल प्राप्त हुआ। गाँधी जी ने राष्ट्र के नवनिर्माण हेतु देश के समक्ष चौदह रचनात्मक कार्यक्रम रखे। इन कार्यक्रमों के समर्थन में भारतीय भाषाओं में विपुल साहित्य की सर्जना हुई। हिंदी में बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', माखन लाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्राकुमारी 'चौहान', भगवतीचरण वर्मा, सोहनलाल द्विवेदी इत्यादि ने राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त काव्यों का सृजन करके जनता में चेतना जाग्रत की, तो तमिल में महाकवि सुब्रह्मण्य भारती, नामक्कल रामलिंगम पिल्लै, भारतीदासन्, तेलुगु में गुरुवाड़ अप्पाराव, रायप्रोलु सुब्बाराव, दुव्वूरी रामिरेड्डी, विश्वनाथ सत्यनारायण, कन्नड़ में कु.वे.पु., गोपालकृष्ण अडिग, मलयालम में तकषी शिवशंकर पिल्लै, बालामणि अम्मा, मराठी में शंकरराव देव, सेनापति बापट, काका कालेलकर, गुजराती में भवेरचन्द मेथानी, उमाशंकर जोशी, उड़िया में फकीर मोहन सेनापति, गोपबन्धु नीलकण्ड, कृपासिंधु, गोपीनाथ महन्ती, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, पंजाबी में ज्ञानी हीरासिंह 'दर्द', गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर', असमिया में शंकर देव तथा माधव देव, उर्दू में चकबस्त, जोश मलिहाबादी, बिस्मिल, अकबर इलाहाबादी, बंगाली में उपेन्द्रनाथ गांगुली, ताराशंकर बनर्जी जैसे कवियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित किया। इस दौर में दो-चार दशकों तक बराबर देशभक्ति से प्रेरित साहित्य का ही सृजन होता रहा जिसने बूढ़े-बच्चों, विद्यार्थी और नर-नारियों में अपनी अस्मिता का बोध कराया। इस कालखण्ड में समस्त भारतीय भाषाओं में अधिकांशत: राष्ट्रीय साहित्य ही सृजित हुआ, जो हमारी भाषाओं तथा साहित्यों में एकसूत्रता का बोध कराता है। गाँधीजी ने सत्य, अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह को अपना आयुध बनाकर आजादी की जो लड़ाई लड़ी, उसका प्रभाव राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों पर पड़ा ही, साथ ही वैश्विक स्तर पर भी अनेक क्षेत्रों

को प्रभावित किया।

भारतीय समाज में जमींदारी प्रथा, भोगविलास, वैश्यावृत्ति इत्यादि इस कदर व्याप्त थे जिसके फलस्वरूप नैतिक मूल्यों का ह्रास हो चुका था। राजाराम मोहनराय जैसे समाज सुधारकों ने भारतीय समाज के अतीत पर दृष्टिपात किया और वर्तमान समाज को सुधारने की उन्हें प्रेरणा मिली। मानव जीवन को अधिक सुखमय बनाने का संकल्प किया। अँधरूढ़ियों और कुरीतियों का निर्मूलन करने के लिए तार्किक दृष्टि से विचार किया और उनके विरूद्ध जबरदस्त आंदोलन आरंभ किया। प्रबुद्ध लेखकों ने इस आंदोलन को सारस्वत रूप प्रदान किया और पुनः भारतीय समाज में नवोन्मेष लाने का अथक प्रयास किया।

इसी कालखंड में फ्रांस एवं रूसी क्रांति ने संसार के अनेक देशों के अर्थ-तंत्र के साथ वांड्ग्मय पर भी प्रभाव डाला। हिंदी में यह प्रभाव प्रगतिशील साहित्य के माध्यम से प्रस्फुटित हुआ। तेलुगु में अभ्युदाय कविता के रूप में लोकप्रिय हुआ। सन् 1930 से लेकर 1950-60 तक के दशकों में समस्त भाषाओं में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित एवं प्रभावित साहित्य रचा गया। इसके उपरांत भूखी-पीढ़ी, दिगंबर कविता, विप्लव कविता, हालावाद, नई कविता, अकविता, गद्य कविता इस प्रकार अनेक वाद एवं विधागत प्रवृत्तियाँ भारतीय भाषाओं के साहित्य में पनपीं और अल्पकाल में ही अदृश्य हो गई। इससे भी हमें विदित होता है कि विश्व साहित्य के वादों एवं पंथों का प्रभाव भारतीय साहित्य में समान रूप से परिलक्षित हुआ। इसमें हमें कोई अपवाद नहीं मिलता। परंतु एक वर्ग ने इन वादों और सिद्धांतों को भली-भाँति आत्मसात् करके भारतीयता की रुचि में रूपायित किया। इससे भी स्पष्ट है कि हमारा भारतीय साहित्य समन्वित विचारधारा को प्रतिबिंबित करते हुए अपने लक्ष्य की ओर गतिशील है।

दरअसल महात्मा गाँधी जी आधुनिक भारत की समग्र चेतना के प्रतिरूप थे। उन्होंने आखिरी आदमी (द लॉस्ट मैन) के उत्थान को अपना लक्ष्य माना। उनका कथन था - जब कभी तुम्हारे मन में शंका पैदा हो या अपने ही बारे में ज्यादा विचार करो तब तुम यह कसौटी अपने सामने रखो कि जिस गरीब से गरीब और दुर्बल मनुष्य को तुमने देखा हो, उसका चेहरा याद करो और दिल से पूछो कि जो कदम तुम उठाने जा रहे हो, वह उस मनुष्य के लिए किस प्रकार उपयोगी सिद्ध होगा। इससे स्पष्ट

है कि गाँधी जी ने आम आदमी के उत्थान का संकल्प किया। वे जो कहते थे, वही करते थे। उनकी कथनी और करनी में अंतर न था। मानव समाज के समग्र विकास के वे पक्षपाती थे। नैतिकता का अनुपालन उनका प्रथम और अंतिम लक्ष्य था। सत्य, अहिंसा और नैतिक मूल्य ये ही उनके धर्म के मानदण्ड थे। मानवतावादी दृष्टि गाँधी जी की परम सिद्धि थी। यही कारण है कि भारत के ही नहीं, बल्कि विश्व के विवेकशील साहित्यकारों ने गाँधीवाद को अपने साहित्य में विविध रूपों में प्रस्तुत कर दिया है।

क्रमशः राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में बदलाव आए। विश्व के परिदृश्य बदल गए। विज्ञान का ध्वंसात्मक एवं विकराल रूप अपना मुँह बाए समस्त विश्व को अपनी लपेट में लेने को तत्पर है। धन एवं अधिकार-लिप्सा के कारण भ्रष्टाचार चरमसीमा पर पहुँच चुका है। सर्वत्र हिंसा, आतंकवाद, कालाबाजार, सांप्रदायिकता, गरीबी, शोषण, निरक्षरता, बलात्कार, धोखाधड़ी, जातिवाद, ईर्ष्या-द्वेष का ताण्डव नृत्य हो रहा है। इन विभीषिकाओं के मध्य आम आदमी बलि का बकरा बना हुआ है। समाज सड़ता जा रहा है। मानवता कराह रही है। पर्यावरण कलुषित होता जा रहा है। ग्लोबीय संस्कृति की चपेट में सारा संसार आतंकित है। इन विषमताओं और विद्रूपताओं के मध्य आज के साहित्यकार चकित और बौखलाए हुए हैं। उनकी लेखनी से ऐसा साहित्य-सृजन हो और सारे संसार में वे पल्लवित एवं पुष्पित हो तथा इस तरह फैल जाए कि उनकी सुवाद सदैव व्याप्त होकर मानव-समाज को आह्लादित करे। यह सुवास सांस्कृतिक एकता का प्रतिबिंब बने।

सूखती संवेदना और मुरझाता राष्ट्र

डॉ. राकेश कुमार सिंह

उग्र भीड़ ने उसका आठ माह का गर्भ तलवार से काटकर सड़क पर निकाल फेंका। वह चीखी, लेकिन मानवी संवेदना को जगा नहीं पाई उसकी चीख, क्यों! 'बेटा बेटा' पुकारती बूढ़ी औरत के जननांगों से खिलवाड़ करती दंभी मानसिकता को माँ के रिश्ते की पवित्रता का अहसास नहीं होता, क्यों! निरीह बहन-बेटियों आँसुओं के पयस्विनी विगलित नहीं करती, स्तनों को काट-काट कर आँगन में फेंकने वाले पाषाण ननदयों को क्यों!!! आखिर क्यों!!! क्या हो गया है महावीर, गौतम और गाँधी की अहिंसा का! रुक क्यों गई है महान अकबर के दीन ए इलाही की बयार!! कहाँ खो गई है इस पवित्र भारत भूमि की सहिष्णुता और सननदयता! ये प्रश्न हिंदू से नहीं, मुसलमान से नहीं, इंसानियत से हैं, संपूर्ण मानव जाति से हैं! कौमें इंसानियत से बड़ी नहीं होतीं। हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी? आवश्यकता है इस चिंतन की जिससे राष्ट्र की जमीन से जुड़ी परस्पर स्नेह, सद्भाव समता, ममता, करुणा, सहिष्णुता की संवेदना की जड़ों को सूखने से बचाया जा सके।

संवेदनायें भारत भूमि की अनेकता में एकता संस्कारित करने का अहस्र स्रोत हैं। यहाँ विभिन्न धर्म हैं, विभिन्न वर्ण हैं, विभिन्न वर्ग हैं, विभिन्न जातियाँ हैं, विभिन्न जलवायु के विभिन्न प्रांत हैं। यह संस्कृति बहुल राष्ट्र है। लेकिन कश्मीर से कन्याकुमारी तक अटक से कटक तक यह जिस स्नेह से, जिस संवेदना से जुड़ा है उसकी जड़ें हजारों वर्ष पुरानी हैं। यह स्वानुभूति और सहानुभूति से बड़ी, बहुत बड़ी है। इसका स्वरूप बहुत व्यापक है। प्रेम से, करुणा से, समता से, ममता से, सहिष्णुता से यह मानव मानव को निकट लाती है। राष्ट्र के विकास का यह प्राण है। इस देश की साझी संस्कृति का आधार है यह संवेदना। इस संवेदना की जीवंतता की वजह से ही सैकड़ों वर्षो से चली आ रही विभिन्न विचार पद्धतियों को मानने वाले चिंतकों और विचारकों के मध्य वैचारिक आदान-प्रदान से हम सब भारतवासी सांस्कृतिक स्तर पर एक दूसरे के निकट आये हैं। हम संस्कृति पनपी है। इस आदान प्रदान ने हमें भाषाएँ दी है, जीवन का मार्गदर्शक साहित्य दिया है। अनेक स्तरों पर साझा जीवन दृष्टि दी है। हमने एक दूसरे

के रीति रिवाजों को अपनाया है। लेकिन आज हमारे कुछ लोगों के दिलों में एक दूसरे के प्रति आशंका व अविश्वास पैदा हो गया है और हम घृणा से अमानवीय शैतानी हथकंडों के स्तर पर उतर आये हैं। दरअसल, 'सारे जहाँ से अच्छा, हिंदोस्तां हमारा' और 'हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, आपस में सब भाई-भाई' की राष्ट्रीय आंदोलन की महान उदात्त परंपरायें तेजी के साथ खत्म होती जा रही हैं, 'खत्म की जा रही हैं। यह सब धार्मिक सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता और समन्यवादी मानसिकता के खिलाफ स्वार्थपूर्ण एक साजिश, सुनियोजित साजिश है।

'मजहब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना' इकबाल ने लिखा, ठीक लिखा। उन्होंने लिखा सननदयता से सिक्त होकर, भाईचारे की गहराई में डूबकर। डूबने के भय से जो सागर में उतरेगा ही नहीं, उसे क्यों मोती मिलेंगे। दोष मोतियों का नहीं, मानसिकता का है। मोती पाने के लिए गहरे पानी में पैठना ही पड़ता है। बाह्याडंबर किसी भी धर्म की सच्चाई नहीं। यह धर्म की ओट में एक व्यवसाय है। यह व्यवसाय ही वह विकार है जो व्यक्ति को धर्म के मूल उद्देश्य से दूर कर देता है। इन धर्माडंबरों का विरोध संत कबीर ने किया, गुरु नानक ने किया। तमाम हिंदू, मुस्लिम विचारकों ने किया। आज कबीर से, गुरु नानक से बड़ा धार्मिक कौन है? बाहर से अलग-अलग दिखाई देने वाले सभी धर्म वास्तव में अंदर से सभी मानवता के विकास के उद्देश्य को ही पूरा करते हैं। गुरु नानक स्पष्ट घोषणा करते हैं- घटी सभनी सहु बसै, सह बिन घट न कोई''। बाईबिल के न्यू टेस्टामेंट में इसी सत्य को इस प्रकार उद्घाटित किया गया है-'ईश्वर प्रेम है और उसका शब्द वह प्रकाश है जो प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशित करता है। यह भी उसकी इच्छा है कि सब मनुष्यों की रक्षा हो और सत्य का ज्ञान प्राप्त करें' आत्मन प्रतिकूलानी परेषांन समाचरेत-स्वयं को अनुचित लगनेवाला व्यवहार दूसरों के लिए न करो। यह है सनातन धर्म का सत्य। सोचिये, कहाँ कहा गया है, जो मनुष्य हमारे धर्म को नहीं मानता वह मनुष्य नहीं, उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए।

कोई धर्म घृणा, विद्वेष, संकीर्णता, असहिष्णुता, शोषण, उत्पीड़न का संदेश नहीं देता। सभी धर्मो में मानव मात्र की भलाई की व्यवस्था है। सभी धर्मो का सार विश्वबंधुत्व की सीढ़ियों पर खड़ा है। आज हमें धर्म के इस मर्म को पहचानने की आवश्यकता है। इसमें पैदा हो जाने वाले तमाम विकारों के परिष्कार की आवश्यकता है। कितना अच्छा होता यदि

कृतज्ञ राष्ट्र अपने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के संदेश को अपने जीवन में उतार पाता- सारे धर्म मूल में एक ही हैं, यद्यपि वे पेड़ के पत्तों की तरह विस्तार और बाह्य रूप से एक दूसरे से अलग हैं। कोई भी दो पत्ते एक से नहीं होते फिर भी आपस में नहीं लड़ते, बल्कि हवा के साथ-साथ खुशी से नाचते हैं और मिलकर मधुर संगीत बनाते हैं।

राष्ट्रीयता के संदेश का व्यावहारिक रूप भी है-'प्राणनाथ का मंदिर'। एक ओर श्री कृष्ण की मधुरिम मूर्ति तो दूसरी ओर कुरान की आयतें खुदी हुई। कुरान-पुरान दोनों पर समान चर्चा-जीवन में उल्लास, उमंग, नई चेतना, नई समझ। बहुधर्मी देश में मानवीय संवेदना की धार्मिकता की नई विस्तृत होती जमीन। वास्तव में किसी धर्म विशेष में आस्था रखना और निजी जीवन में ईश्वर से साक्षात्कार करने के लिए उसकी उपासना विधि अपनाना धार्मिकता है। लेकिन धर्म के आधार पर व्यक्तियों का मूल्याँकन करना, उनमें अपने व्यवहार का तरीका निर्धारित करना सांप्रदायिकता है।' किसी दंगे फसाद की जड़ धर्म नहीं, यह सांप्रदायिकता ही बनती है। सांप्रदायिकता का आधार घृणा है, विद्वेष है, संकीर्णता है, अलगाव है, असहिष्णुता है। इसकी जड़ें पुनरुत्थानवाद से खाद पानी लेती हैं। यह पुनरुथानवाद ऐलोपैथिक औषधि की तरह पुनर्जागरण का साइड इफैक्ट है।

पुनर्जागरण काल में स्वभावत: अतीत की पुनर्व्याख्या हुई। उसे महिमामंडित किया गया। लेकिन अतीत को महिमामंडित करने वाले लोग अपनी पुनर्व्याख्या से देश के वर्तमान और भविष्य के निर्माण के लिए अपेक्षित ताकत संचित करने की बजाय अपने अतीत को ही वापस लौटा लाने की मानसिकता के शिकार हो गये। 'अतीत के धर्म और संस्कृति को उसे हिंदू धर्म, वैदिक धर्म, सनातन धर्म कुछ भी कहा जाय आर्य संस्कृति, हिंदू संस्कृति कोई भी नाम दिया जाए, एक बहुभाषी अनेक धर्मोवाले देश में पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना अंतत: सांप्रदायिकता को पुष्ट करने में सहायक बना।' यह सांप्रदायिकता एक धर्म तक सीमित हो, ऐसा नहीं है और इसके शिकार भी वे लोग हैं जो शांति से रहना चाहते हैं। इन साधारण जनों को ही सर्वाधिक भड़काया जाता है और मारकाट भी सबसे ज्यादा इन्हीं की होती है। लेकिन इससे समूचे राष्ट्र की प्रगति में बाधा पड़ती है। इस सांप्रदायिकता से जूझने और उसे पीछे ढकेलने में यदि हम कामयाब होते आये हैं तो केवल इसलिए कि हम भारतीयों के दिलों में मानवीय संवेदना का धक-धक करना कभी भी बंद नहीं हुआ है।

इतिहास के पन्ने-पन्ने पर लिखी है हिंदू-मुस्लिम सद्भाव, सहिष्णुता और भाईचारे की कहानियाँ। इन कहानियों के संप्रेष्य से ऐसी संवेदना की सृष्टि होती है जो राष्ट्र के लिए खुशनुमा माहौल तैयार करने की भरपूर ताकत देती है। आओ, इतिहास के वातायन से झाँक कर राष्ट्रीय मूल्यों को पहचानें- मुगल सम्राट औरंगजेब को जीवनभर झकझोरते रहने वाले छत्रपति शिवाजी के सामने जीत के समान के साथ मुस्लिम सूबेदार की पुत्री गौहरबानो खड़ी है, उसे होने वाले कष्ट के लिए क्षमा मांगते हुए वे उसे ससम्मान उसके परिवार के पास भेजने का आदेश दे रहे हैं। मुस्लिम सम्राट हुमायूं हिंदू बहन की राखी की लाज बचाने के लिए राजपूत रानी कर्मवती के दुश्मनों को खदेड़ने के लिए युद्ध का डंका बजाते हुए निकल पड़े हैं। दीन ए इलाही चलाने वाले राजपूत रानी जोधाबाई के पति अकबर से बार-बार टकराने वाले महाराणा प्रताप सिंह की सेना के एक भाग का संचालन हकीम खाँ सूरी कर रहे हैं। समूचे राष्ट्र की आजादी के लिए तलवार उठाने वाले टीपू सुल्तान अपने हिंदू सेनापति व मंत्री से परामर्श कर रहे हैं। छत्रपति शिवाजी अपने मुंशी मुल्ला हैदर से पत्र लिखवा रहे हैं। मौजापुर के इब्राहीम आदिल शाह की सेना के पचास हजार हिंदू सैनिक अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। खानवा के युद्ध में राणा संग्राम सिंह की ओर से मुसलमान बाबर के विरूद्ध महमूद लोधी युद्ध कर रहा है। एक हजार मुसलमान घुड़सवार राणा संग्राम सिंह का साथ दे रहे हैं। वेदों, उपनिषदों का अध्ययन करते हुए शाहजहां के बड़े बेटे दाराशिकोह हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का समन्वय करते हुए अपनी पुस्तक 'मजमा-उल-वइराइन' लिख रहे हैं। देखो, बार बार देखो, हिंदू मुसलमान में परस्पर सहृदयता, सम्मान, प्रेम और विश्वास दिखाई देता है। इतिहास के ये ऐसे उजले पृष्ठ हैं जिनको पढ़कर देश मजबूत बनेगा, विकास करेगा। मत अनदेखा करो इन पृष्ठों को। इनमें एकता की, सद्भाव की, सहिष्णुता की जान है। मत सेंको सांप्रदायिक स्वार्थ की रोटियाँ, इतिहास के साथ खिलवाड़ करके। मत ठेस पहुँचाओ देश की साझी संस्कृति को। मत ठेस पहुँचाओ मियां रसखान के हृदय में कृष्ण के प्रति उमडती श्रद्धा को-'मानुष हों तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन। मत ठुकराओ कृष्ण के प्रति ताल के समर्पण को- 'नंद के कुमार कुरबार तेरी सूरत पे हैं, तो मुगलानी हिंदुआनी हवै रहूँगी मैं'।

इतिहास की तरह ही भारतीय सामाजिक जीवन में भी स्नेह, सौहार्द और सद्भाव के दृश्य मिलते हैं। पूर्वाग्रह से मुक्त होकर देखें, समूची

दुनिया आपको अपना कुटुम्ब सा प्रतीत होगी- 'सड़क पर बुरका उतार कर थैले में रखा, साड़ी ब्लाउज में सज गई युवतियाँ। कुछ दूरी पर मंदिर। दोनों ने दीप जलाये, प्रसाद ग्रहण किया, माथा टेका। लौटीं तो फिर से सिर से पाँव तक ढंके, बुरका ओढ़े। मुसलमानों की मजारों पर चादरें चढ़ाई जा रही हैं। चादर चढ़ाने वालों में हिंदुओं की तादाद कम नहीं है। जैन साहब के घर में दुल्हन बनी मुहरून्निसा बैठी है तो क्रिश्चन नीलोफर त्रिपाठी साहब के घर में ब्राह्मणी संस्कारों से बँधी राधा कृष्ण की आरती गा रही है। हिंदू बालायें ईद की सेवइयाँ बना रही हैं, गिरजाघरों में प्रार्थना कर रही हैं। नवदुर्गो में करीना बुर्का ओढ़े माँ दुर्गा की पूजा कर रही हैं आस्था एक ही है, मुसलमान उसे जाहरपीर कहते हैं और हिंदू उन्हें जाहर वीर कहते हैं। परिवार एक ही है, एक भाई राम सेवक है तो दूसरा रहमान है। एक बहन कुसुम है तो दूसरी जरीना है। जरीना का पति राम सजीवन राम को मानता है तो कुसुम का पति खुदा को। एक ही घर में मंदिर और मस्जिद दोनों। सामंजस्य और समन्वय की यह गंगा गंगोत्री से गंगासागर तक बहती है। फिर, मंदिर में आग क्यों लगाई जाती है? क्यों गिरजाघर उजाड़े जाते हैं? हिंदू, मुसलमान के खून का प्यासा क्यों है? मुसलमान हिंदू परिवार को बरबाद क्यों कर रहा है? मत कहो इन्हें हिंदू, मत कहो इन्हें मुसलमान, आततताइयों की कोई जाति नहीं होती, कोई धर्म नहीं होता। क्या उत्तर है अहमदाबाद के रफीक चाचा की पुत्री के प्रश्नों का! वह पूछती है-'दंगाइयों ने क्यों कत्ल किया उसके पिता का? इसलिए कि वह मुसलमान थे! फिर मेरे पति का क्यों कत्ल किया इन दंगाइयों ने, वह तो मुसलमान नहीं थे, हिंदू थे!! दरअसल, आततताइयों का धर्म में विश्वास नहीं होता, कर्म में विश्वास नहीं होता।' वे संवेदनाशून्य उन्मत्त होते हैं, निठल्ले और निकम्मे होते हैं। अन्यथा हमारे अपने देशवासी ही लाखों की संख्या में अरब देशों, अमेरिका, यूरोप के अन्य देशों तक अनेकानेक देशों में जाकर बस गए हैं और यह सिलसिला बराबर बना रहता है। यह आज के युग के जीवनयापन का स्वाभाविक अंग है। इससे शायद सबसे अधिक इस दृष्टि को बल मिलता है कि अलग-अलग भाषाओं के बोलने वाले, अलग-अलग धर्मो विचारधाराओं में विश्वास रखने वाले लोग काम-काजी स्तर पर मिलजुल कर रह सकते हैं।

अँग्रेजों और मुसलमानों से पहले हमारे देश में तमाम लोग बाहर से आये, फिर वापस लौटकर नहीं गये। यहीं बस गये। शक आये, कुषाण आये, हूण और मंगोल आये, कहाँ गये? हम सब लोगों के बीच में

ही हैं। पर आज कौन ऐसा है जो कह सके कि हम हूणों के वंशज हैं, मंगोलों के वंशज हैं। 'इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रारंभ से लेकर अब तक इस देश में आने वाली, बसने वाली और घुमक्कड़ जातियों के बीच आर्य और अनार्य के बीच रक्त संबंध स्थापित होते रहे हैं और ये परस्पर घुलती मिलतीं रही हैं। ऐसी स्थितियों में रक्त, नस्ल या जाति की शुद्धता का दावा कितना उपहास्यास्पद लगता है।' लेकिन आये दिन वर्ग, नस्ल के आधार पर आदमी आदमी में अंतर किया जाता है। एक जाति दूसरी जाति को लूटती पीटती है, उसे बेगार करवाती है, क्योंकि वह तथाकथित उच्च नस्ल की है। एक जाति दूसरी जाति की बहन-बेटियों के साथ बदतमीजी करती है, उन्हें बेइज्जत करती है, उन्हें नंगा करके गाँव में घुमाती है, क्योंकि वह अपने को सवर्ण मानती है। ऐतिहासिक साक्ष्यों को नजरंदाज करते हुए अपनी कथित अलौकिक रक्त नस्ल की शुद्धता और जातीय उच्चता के दंभ से दूसरी जाति को आतंकित कर दासत्व की मानसिकता में रखे हुए है। ऐसी शोषित पीड़ित जातियाँ जिनका अतीत जलालत के अतिरिक्त कुछ नहीं, देश की आबादी का बड़ा हिस्सा है। देश के स्वस्थ वर्तमान के लिए समझ को संस्कारित करो, मत समेटो संवेदनाओं को अतीत की चहारदीवारी में। क्या इन्हें आज़ आदमी की तरह जीने का हक नहीं? देश के विकास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्हें विकास की बराबरी में लाना ही होगा। 'अगर निरंतर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थायें तो टूटेंगी हीं, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।'

संस्कारित और परिमार्जित व्यवस्था व उदात्त परंपरावाले देश भारत के बारे में देववाणी श्री विष्णु पुराण 2/3/4 में कहा गया है-

'गायन्ति देवाः किलगीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

लेकिन आज इसकी प्रासंगिकता! घृणा, द्वेष, अलगाव, भेदभाव, शोषण, उत्पीड़न से इस भू पर स्वर्ग उतर आयेगा क्या? मारकाट, लूटपाट, छीना-झपटी, तोड़-फोड़, हिंसा से देवता प्रसन्न होंगे क्या? जाति, धर्म, प्रांत, भाषा के विवाद खड़ा करके आदमी को आदमी से अलगाने से नैसर्गिक छटा छायेगी क्या? ममता, समता, सननदयता, सद्भाव, सहिष्णुता को स्वभावतः यहाँ फैलने दो, फैलने दो भाईचारे को, फैलने दो अपनत्व की साझी संस्कृति को। फिर देखो, इस भारत भूमि पर फिर से मनुष्य रूप से विचरने के लिए देवताओं का भी मन बार-बार ललचाता है कि नहीं। फिर देखो, यह

भू भाग फिर से स्वर्ग से भी अधिक सुख संपन्न हो जाता है कि नहीं! फिर से अपनी संवेदना को बढ़ो, इतनी व्यापक बनाओ कि जिससे भारत भू को स्वर्ग बनाने वाली यह भारतीय सद्भावना फिर से जन-जन के जीवन में उतर आये-'सभी सुखी हों, सभी निरागी हों, सभी भलाई देखें, किसी को कोई दुख न हो-

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्चन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।'

♦♦♦

राष्ट्रीय नवजागरण की भारतीय अवधारणा

डॉ. कृष्णा कुमारी रावत

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस युग में भारतीय एवं पांश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का मिलन हुआ। यूरोप की नवीन सभ्यता तथा संस्कृति के संसर्ग में भारत में चतुर्दिक विकास का बीजारोपण हुआ। राजनीति में स्वतंत्रता, संस्कृति में नवचेतना, अर्थनीति में स्वावलंबन, रीति-नीति में प्रगति और साहित्य में नवजागरण व नवोत्थान हुआ।

यह चेतना नवजागरण के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में दिखाई देती है। कुछ देशों में नवजागरण का अँकुरण मुख्यत: कला एवं साहित्य के क्षेत्र में हुआ, कहीं धर्म, दर्शन, विज्ञान, संगीत एवं स्थापत्य के क्षेत्र में हुआ। इटली में राष्ट्रीयता की भावना के उन्मेष के साथ-साथ गौरव ग्रंथों को फिर से मान्यता प्राप्त हुई। फ्रांस में साहित्य एवं दर्शन नये रूप में निखर कर सामने आए। इंग्लैंड में साहित्य और दर्शन एवं धर्म और विज्ञान के क्षेत्र में इसका आविर्भाव हुआ तथा जर्मनी में दर्शनशास्त्र की ओर रुचि बढ़ी।

उन्नसवीं शताब्दी में समस्त भारत में जिस नवचेतना का प्रचार व प्रसार हुआ उसे विद्वानों ने विविध नाम दिये, जैसे रैनेसां, पुनर्जागरण, पुनरुत्थान, प्रबोधन-काल, नवोत्थान एवं नवजागरण आदि। कई नामों से विभूषित इस नवीन चेतना के युग को वास्तव में क्या नाम दिया जाए, यह विद्वानों के बीच विवाद का विषय रहा।

डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इसे 'नवोत्थान' नाम से पुकारा। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने पुनरुत्थान नाम से। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पहली बार इसके लिए नवजागरण शब्द का प्रयोग किया। इन्होंने नवजागरण के साथ-साथ हिंदी नवजागरण शब्द का भी प्रयोग किया। जबकि इससे पहले केवल बंगाल के पुनर्जागरण या नवजागरण की ही चर्चा होती थी।

निष्कर्ष रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के मुख्यत: समस्त सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के माध्यम से जो सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष चला उसने नई चेतना को जन्म दिया और उसके विकास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। क्योंकि एक तो इसमें लोगों को भविष्य के प्रति एक नई दृष्टि मिली। दूसरे यह संघर्ष औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के हमले के

प्रतिरोध में छेड़ा गया था। इस संघर्ष ने आधुनिक स्थिति को जन्म दिया- नए आदमी, नया परिवार, नया समाज।

इन सबका परिणाम नवजागरण के रूप में हमारे समक्ष आया। जब ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और विचारधारा के प्रचार-प्रसार की प्रतिक्रिया की बात उठनी शुरू हुई तब बाहरी संस्कृति के इस फैलाव से भारतीयों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे आत्मनिरीक्षण करें तथा अपनी संस्कृति व संस्थाओं की शक्ति और कमजोरियों की छानबीन करें। यद्यपि औपनिवेशिक संस्कृति के विरूद्ध यह प्रतिक्रिया हर स्थान पर समाज में अलग-अलग तरह की हुई, परंतु यह बात हर जगह महसूस की जाने लगी कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुधार अब जरूरी हो गया है। समाज में सुधार की यही प्रक्रिया नवजागरण के रूप में हमारे समक्ष आई।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय नवजागरण की चेतना के फलस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक नया निखार आया। भारतीय नवजागरण में देश के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में नवीन चिंतन ने पदार्पण किया। यह नवीन चिंतन अर्थात् नवजागरण का अँकुरण हमारी अपनी परिस्थितियों के भीतर से हुआ। इसमें देश ने पारंपरिक रूढ़िवाद का त्याग कर आधुनिक विचारधारा को ग्रहण किया।

डॉ. बच्चन सिंह का कथन है कि 'ब्रिटिश राज्य की स्थापना के कारण भारत की अर्थनीति, शिक्षा-पद्धति, यातायात के साधनों आदि में बुनियादी परिवर्तन हुए। इसके फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण हुआ वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीति-नीतियों, संघटनों के मेल में नहीं था। नये यथार्थ एवं पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य के साथ ही नये भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ हुई। अत: भारतीय नवजागरण के मूल में व्यक्ति स्वातंत्र्य का विशेष महत्व है।

भारतीय नवजागरण बंगाल से आरंभ होकर महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, असम, हिंदी उर्दू भाषी विस्तृत क्षेत्र एवं तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि प्रांतों में फैला। बंगाल का नवजागरण राजा राममोहन राय (1772-1833) से आरंभ होकर विवेकानंद (1863-1902) तक माना जाता है। इस समय धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति और समाज में जो क्रांति और परिवर्तन हुए उन्होंने बंगाल के नवजागरण का रूप धारण कर लिया। यह नवजागरण प्रारंभ में सामंतवाद विरोधी था, धीरे-धीरे साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद

विरोधी हो गया। बंगाल के नवजागरण में जितना महत्व इस नवजागरण से जुड़े हुए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का है उतना ही महत्व बंगला भाषा और इसके साहित्य में नवजागरण की अभिव्यक्ति का है।

बंगाल के नवजागरण का अग्रदूत ही राजा राममोहन राय का परिचय है। इन्होंने दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक चिंतन को तो प्रभावित किया ही, साथ ही शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। विभिन्न भाषाओं में पत्रिकायें निकाल देश के सभी भागों में राष्ट्रीय जागरण का संदेश पहुँचाया। इनके माध्यम से उन्होंने अतीत के अवशेषों, जाति प्रथा, मूर्ति पूजा, पशु बलि आदि के विरूद्ध संघर्ष छेड़ दिया। राजाराम मोहन राय का सबसे बड़ा योगदान सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना करना था। ब्रह्म समाज का मुख्य उद्देश्य, मूर्तिपूजा, छुआछूत, जाति प्रथा, धार्मिक कट्टरताओं का विरोध और विधवाओं के पुनर्विवाह एवं अंतर्जातीय विवाहों का समर्थन करना था। उस समय की सबसे घृणित रीति सती प्रथा के उन्मूलन के लिए सतत् प्रयत्नशील रहकर 4 दिसंबर सन् 1829 को इन्होंने कानून पास कराया। यह संघर्ष इतिहास में हमेशा स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। संक्षेप में राजा राम मोहन राय ने नवजागरण की भावना को भारतीय स्वरूप प्रदान किया।

राजा राममोहन राय के पश्चात् दूसरा नाम ईश्वरचंद्र विद्यासागर का आता है। इन्होंने विधवा विवाह और स्त्री-शिक्षा इन दोनों के लिए आंदोलन प्रारंभ किया। सन् 1854 में तत्वबोधिनी पत्रिका में विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रस्ताव रखा। 26 जुलाई सन् 1856 को काफी संघर्ष के पश्चात् विधवा पुनर्विवाह विधेयक पारित हुआ। स्त्री शिक्षा के समर्थन में नवंबर 1857 से 1858 के बीच लड़कियों के लिए 35 स्कूल खोले जिनमें कुल 1300 छात्राएँ पढ़ती थीं।

भारतीय नवजागरण के उन्नीसवीं सदी की अंतिम कड़ी रामकृष्ण परमहंस के प्रमुख शिष्य विवेकानंद थे। उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य नये संदेश का प्रचार करना और जनता में नई चेतना जगाना था। आधुनिक विज्ञान, विश्व इतिहास तथा दर्शन का उन्हें असाधारण ज्ञान था। वे उदार एवं प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने जनता के दु:खों को भगवान बुद्ध की तरह दूर करने का आह्वान किया। उन्होंने 1893 में विश्व-धर्म-सम्मेलन (अमेरिका) में भाग लेने के लिए भारत का प्रतिनिधित्व किया। अमेरिका एवं यूरोप का भ्रमण कर उन्होंने पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में

भारत का सम्मान बढ़ाया। वहीं पश्चिम में स्वतंत्रता एवं जनवाद के साथ नये उभरते हुए क्रांतिकारी विचारों की उनके हृदय पर गहरी छाप पड़ी। वे भारतीय नवजागरण के दिशा निर्देशक ही नहीं, अपितु व्याख्याता भी थे।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही गुजरात में कुछ परिवर्तन दिखाई देने लगे। इनके पक्षधरों में दुर्गाराय मेहता जी (1809-1878) तथा दलपत राम ढाया जी (1820-1898) मुख्य थे। इन्होंने सामाजिक परिवर्तनों को गति प्रदान की। इसके बावजूद गुजराती नवजागरण के दो महान पुरुषों को नवजागरण के योगदान की चर्चा करते समय भुलाया नहीं जा सकता- प्रथम लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, द्वितीय मोहनदास करमचंद गाँधी। सन् 1918 में गाँधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर सरदार वल्लभभाई पटेल ने राजनीति में प्रवेश किया। सन् 1918 में बारडोली में किसानों द्वारा चलाये जा रहे सत्याग्रह का उन्होंने सफल नेतृत्व किया। अँग्रेज भारत से जाते समय 554 सियासतें भारत को सौंप गये थे। सरदार पटेल ने उन रियासतों को न केवल संघ में शामिल किया, वरन् संपूर्ण देश में शांति और एकता कायम करने में भी महत्वपूर्ण कार्य कर स्वतंत्र भारत का नक्शा बदल दिया एवं स्वतंत्र भारत में जागृति का संदेश दिया।

गाँधी जी मानवता के सेवक थे। भारत का पुनर्निर्माण तथा मनुष्य के उत्थान हेतु कुल मौलिक विचारों पर बल दिया। गाँधी जी ने हरिजनोंद्धार, ग्रामोद्धार, बाल-विवाह, शराबबंदी, जुआ, समानता एवं स्वतंत्रता, घरेलू उद्योग, चरखा, छुआछूत, आर्थिक शोषण आदि की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए इनके प्रति जागृति लाने का कठिन प्रयास किया। गाँधी जी के धर्म के प्रमुख तत्व थे सत्य, प्रेम एवं अहिंसा। उन्होंने स्वराज्य के लिए रामराज्य की कल्पना की। भारत में नवजागरण लाने के लिए उन्होंने समाज सुधार पर सबसे अधिक बल दिया।

बंगाल एवं गुजरात में नवजागरण के अतिरिक्त असमिया नवजागरण लाने वाले लेखकों में चंद्रकुमार अग्रवाल, हेमचंद गोस्वामी, सत्यनाथ वोरा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उड़िया नवजागरण में फकीर मोहन सेनापति राधानाथ राम का विशेष योगदान रहा। मराठी नवजागरण के अंतर्गत इस चेतना का पथ प्रशस्त करने एवं समृद्ध बनाने वालों में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, ज्योति बा फूले, गणेश वासुदेव, महोदव गोविंद राना डे, फड़के साहब, दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। केरल में नवजागरण के जन्मदाता नारायण गुरु हैं। इन्होंने

दलित शोषितों की सांस्कृतिक और आर्थिक मुक्ति का आंदोलन चलाया। इनके अतिरिक्त कन्नड़, तमिल एवं उर्दू ने भी नवजागरण में योगदान दिया।

सन् 1857 को हिंदी प्रदेशों में नवजागरण का प्रथम चरण माना गया। सन् 1857 की पराजय के पश्चात् हिंदी प्रदेश में राजभक्तों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों का एक नया संगठन दिखाई दिया जिसने बाद में आजादी के विचारों को वाणी दी। जब कोई भी ऐतिहासिक घटनाक्रम विलंबित होता है तो उसमें एक विशेष प्रकार की विकृति एवं अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि नवजागरण का आधुनिक घटनाक्रम हिंदीभाषी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत विलंब से प्रकट हुआ। हिंदी नवजागरण के प्रमुख पुरोधा मोतीलाल नेहरू एवं जवाहरलाल नेहरू थे। वे भारत के वैभवशाली भविष्य का स्वप्न रखते थे। अमृतसर काँग्रेस में उन्होंने भारत के भविष्य के विषय में कहा था- 'हमें एक ऐसे भारत के निर्माण का लक्ष्य बनाना है, जिसमें सभी स्वतंत्र हों, जहाँ महिलाओं की बेड़ियाँ टूट चुकी हों तथा जाति प्रथा की कट्टरता समाप्त हो गई हो। जहाँ कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग या समुदाय न हो, जहाँ मजदूर का आदर हो व उसे उचित मजदूरी मिलती हो और गरीबी जो वर्तमान का आतंक है, भूत की वस्तु बन गई हो'।

अपने पिता की तरह जवाहर लाल नेहरू ने भी हिंदी नवजागरण और काँग्रेस पार्टी की एक महत्वपूर्ण कड़ी थे। उनका आदर्श 'लोककल्याणकारी' राज्य था उन्होंने प्रजातंत्र एवं पूँजीवाद में अंतर्विरोध बताया। स्वतंत्र भारत का प्रथम प्रधानमंत्री बनते ही 14 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि में संविधान-सभा के समक्ष वे कह रहे थे-'मध्य रात्रि के इस क्षण में जब कि संसार सो रहा है, भारत के जीवन और स्वतंत्रता में जागरण होगा।' उन्होंने कहा कि हमारा उद्देश्य एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। इस बात का प्रयास किया जायेगा कि व्यक्ति, मौलिक, नैतिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सभी दृष्टि से उत्थान हो और समाज नवजागरण के आलोक से आलोकित रहे।

निष्कर्ष रूप में क्षेत्रीय नवजागरण भारतीय नवजागरण का ही अंग था। भारतीय नवजागरण न केवल किसी प्रांत विशेष के लिए था, अपितु समस्त भारत एवं भारतीय भाषाओं में इसका जाल बिछा था। सबकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ थीं, अलग अलग महत्व था। संक्षेप में नवंजागरण की समस्त विशेषताओं जैसे- अस्मिता की पहचान, स्वाधीनता,

स्वदेशी, स्वभाषा, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति, नारी शिक्षा आदि सभी विषयों एवं समस्याओं पर तत्कालीन राजनेताओं ने विचार कर समर्थन दिया एवं भारतीय अवधारणा को राष्ट्रीय नवजागरण से आलोकित कर भारत को प्रकाशमान एवं गौरवान्वित किया।

♦♦♦

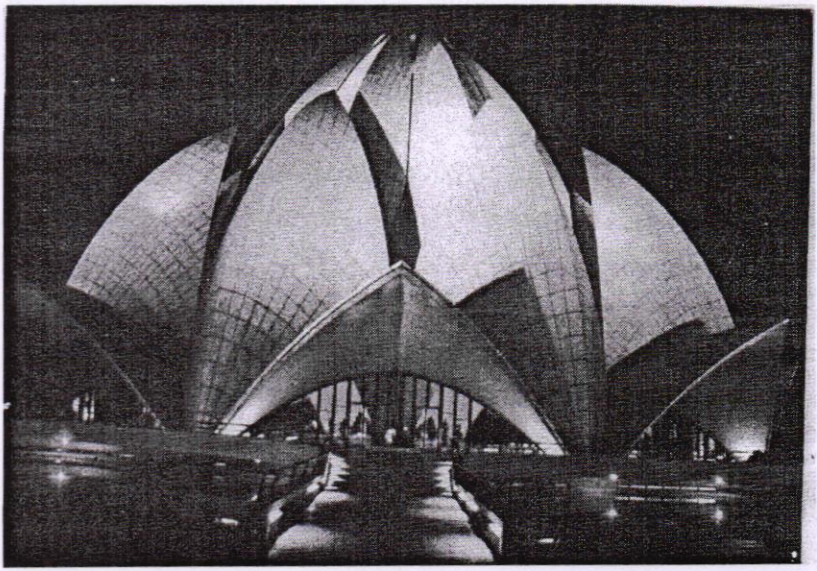

अध्याय : चार
राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीय एकता में विश्वविद्यालयों की भूमिका

डॉ. अमरसिंह वधान

यह सर्वविदित है कि किसी भी देश का भविष्य उसके विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में ही बनता-बिगड़ता है। इस संबंध में विश्व के शिक्षकों, विचारकों, चिंतकों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों ने अपने-अपने समय में बड़े महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। उनके वैचारिक विमर्शो-निष्कर्षो के आधार पर कहा जा सकता है किसी देश के शैक्षणिक संस्थान यदि सुचारू रूप से अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह कर रहे हों तो उसके उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है, अन्यथा उसके निरंतर पतन में कोई संदेह नहीं रह जाता। दूसरे महायुद्ध की राख के ढेर से उठाकर जापान ने प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति और विकास की जिन बुलंदियों को स्पर्श किया है, उसके मूल में वहाँ के विश्वविद्यालयों की सक्रिय व सकारात्मक भूमिका को नकारा नहीं कहा जा सकता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध कवि एवं दार्शनिक आर.डब्ल्यू. एमर्सन ने अपनी एक देशभक्तिपूर्ण कविता 'A Nations's strength' में कहा है कि किसी भी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति इसके सत्यनिष्ठ एवं प्रतिष्ठ लोग ही होते हैं जो तमाम कठिनाइयों एवं मुसीबतों के बावजूद भी अपने वचन तथा कर्त्तव्य से पलायन नहीं करते। उच्च चरित्र और प्रतिबद्ध विचारों के लोग राष्ट्र को प्रगति एवं समृद्धि की पराकाष्ठा की ओर ले जाते हैं। जाहिर है कि कवि का संकेत लोगों में कौमी एकता के जज्बे एवं राष्ट्रभक्ति की भावना की तरफ है। इस सच्चाई के लिए कोई सबूत तलाशने की जरूरत नहीं कि मध्य युग में विश्व स्तर पर विश्वविद्यालयों की प्राथमिक जिम्मेदारी राष्ट्रों को एक सामान्य सांस्कृतिक एकता के सूत्र में पिरोना था। सांस्कृतिक एकता भी राष्ट्रीय एकता का प्रधान घटक है। इस सत्य तथ्य को हमारे नालंदा एवं पाटलीपुत्र शिक्षा केंद्रों ने बखूबी समझते हुए विश्व के विभिन्न देशों के विद्यार्थियों में विचार और व्यवहार प्रणाली द्वारा पारस्परिक सहयोग, सद्भाव एवं मैत्रीभाव की बड़ी स्वस्थ, संतुलित व प्रेरक स्थितियाँ पैदा की थीं।

लेकिन दो विश्व युद्धों तथा विज्ञान के आगमन से ये उर्वर स्थितियाँ बुरी तरह से प्रभावित हुईं। भारतीय विश्वविद्यालयों पर भी इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। तैमूर लंग, महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमणों की आँधियों, मुगल शासन और ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीतियों में निजी स्वार्थों को तरजीह दी गई। भारतीय विश्वविद्यालयों के पूर्व स्थापित आदर्श, मूल्य, सरोकार आदि नेपथ्य में चले गए। इन विश्वविद्यालयों से राष्ट्र-प्रेम, देशभक्ति एवं कौमी एकता का जब भी स्वर उठा, उसे दबाने एवं कुचलने के हर संभव स्तरहीन प्रयास किए गए। यह भी कोई कम दुर्भाग्य की बात नहीं है कि आजादी के इतने वर्षों के बाद भी हमारे शिक्षा संस्थानों में निर्धारित ढाँचों और पाठ्यक्रमों में कोई क्रांतिकारी फेर-बदल नहीं हुआ है। यदि कहीं कोई परिवर्तन परिलक्षित होता भी है तो वह सतही है, अधूरा है। आज भी लॉर्ड मैकॉले का प्रेत हमारी शिक्षा नीतियों में हस्तक्षेप करने से बाज नहीं आता। इस स्थल पर यह भी याद कराना जरूरी है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था कलर्क पैदा करने और विदेशी सरकार की मशीन के पूर्जे ढालने के उद्देश्य से ही निर्मित और विकसित हुई थी। विदेशी सत्ता के लिए देश के धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषिक भेदों को सुदृढ़ता प्रदान करना ज्यादा लाभकारी था, क्योंकि देश की एकता उसके अस्तित्व के लिए खतरनाक हो सकती थी। इसलिए गोरी सरकार के निर्देशन में जो पाठ्यक्रम निर्मित हुए, इतिहास और परंपरा के जो विवरण तैयार किए गए, उनमें निरंतर उन बातों पर बल दिया गया जो जाति, धर्म, भाषा और प्रांत के आधार पर आपसी फूट और भेदभाव को व्यक्त करती थी तथा घृणा और वितृष्णा को जगाती-भड़काती थी।

यों तो ऊँचे स्वर में कहा गया कि भारत एक महामानव समुद्र है, जिसमें अनेक जातियों रूपी नदियाँ आ कर गिरी हैं। लेकिन यह नहीं बताया कि ये सब उसमें मिलकर समुद्रमय हो गई हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति विभिन्न जातियों, धर्मो, संप्रदायों के संग्रहणीय तत्वों से विकसित हुई है, फिर भी इसमें स्थान, जाति, धर्म एवं प्रदेश के आधार पर कुछ निजी अंतर अवश्य है। पर इसमें बहुत से अन्यान्य महत्वपूर्ण सूत्र ऐसे भी हैं, जो इसे एक राष्ट्र के रूप भी देते हैं। अत: राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय स्तर पर इतिहास, परंपरा, भाषा, धर्म, साहित्य आदि का अध्ययन कौमी एकता और भावनात्मक एकता पैदा करे। जहाँ आवश्यक है, पाठ्यक्रमों में सुधार और संशोधन किया जाए तथा अधुनातन वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर देश के इतिहास के पुनर्लेखन

का कार्य न तो सरकार कर सकती है और न ही स्कूलों में इसे संपन्न किया जा सकता है। निस्संदेह यह राष्ट्रीय काम तो विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं और इस संबंध में उन्हें आगे आना चाहिए।

राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिए देश के विभिन्न राज्यों, उनमें निवास करने वाली जातियों-संप्रदायों, वहाँ प्रचलित विभिन्न भाषाओं के साहित्य से देश के भावी कर्णधारों का परिचय कराना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन दुख की बात यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों से शिक्षा ग्रहण करके निकलने वाले विद्यार्थी इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, चीन और रूस के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, लोकगीत, लोकनृत्य आदि से थोड़ा बहुत परिचय रखते हैं, किंतु अपने पड़ोसी राज्य के जनजीवन का तनिक भी ज्ञान नहीं रखते। साफ है कि हमारे विश्वविद्यालयों को अपने शैक्षणिक कार्यक्रमों में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिए जिससे अपने देश के विभिन्न भागों में उचित सम्मान का भाव भी हममें जागृत हो सके। लोक साहित्य और लोक कलाओं को पाठ्यक्रमों में सही स्थान देना इसलिए भी जरूरी है कि इन्हीं में ऊपरी भेद के बावजूद राष्ट्र के हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है। यदि हम तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र या गुजरात की नवविवाहिता के गीत समझ पाएँ तो हमें मालूम पड़ेगा कि उनमें भी वही भाव है, वहीं संवेदनाएँ हैं जो पंजाबी नववधू के गीतों में उपलब्ध होती है। जाहिर हैं कि लोक संस्कृति हमारे देश को एकता के सूत्र में बाँधने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

विभिन्न राज्यों की भाषाओं के प्रोत्साहन के लिए भी विश्वविद्यालयों द्वारा प्रयास किए जाने चाहिए। सभी भाषाएँ हमारी अपनी हैं और उनके ज्ञान से हम इसे देश को, इसके वीर, साहसी और कर्मठ वासियों को बेहतर तरीके से जान सकते हैं। पंजाबी में एक कवि ने खूब कहा है-

'की होया वख जो रंग साडे
की होया वख जबानां ने
परखून दा रंग ता इक्को है
असी प्यार दी वाज परखदे हां।'

अर्थात् भले ही हमारे रंग-रूप और भाषाएँ अलग-अलग हैं, लेकिन खून का रंग तो एक ही है। हम प्रेम की आवाज और भाईचारा अच्छी तरह समझते हैं।

अँग्रेजी लेखक प्रिंस फिलिप ने अपने एक अर्थगर्भित निबंध

'The complete man' में लिखा है कि विद्वानों और शिक्षकों के एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में स्वतंत्र ज्ञान के आदान-प्रदान से संगठित राष्ट्रीय एकता को बड़ा बल मिलता है। भारत के संदर्भ में विद्यार्थियों और विद्वान प्राध्यापकों के ज्ञान का आदान-प्रदान कार्यक्रम गंभीरता से अपनाया जाना चाहिए। उत्तर भारत के विद्वान दक्षिण भारत में जाकर शिविर कार्यक्रमों, व्याख्यानमालाओं, कार्यशालाओं, संगोष्ठियों, बैठकों, सम्मेलनों आदि के माध्यम से अपनी कला, संस्कृति, लोक साहित्य, शैक्षिक अनुसंधानों, विमर्शों-निष्कर्षों और उपलब्धियों की जानकारी दक्षिणवासियों को प्रदान करें। यही भूमिका दक्षिण भारत के विद्वान उत्तर भारत में जाकर निभाएँ। इससे विभिन्न राज्य के निवासियों में एक दूसरे के प्रति स्नेह, लगाव और सहयोग भाव का विकास होगा। यदि सांप्रदायिक भाव, कल्याण भाव और धर्म निरपेक्षता की शिक्षा सही अर्थो में दी जाए तो वह राष्ट्रीय एकता का ठोस साधन बन सकती है।

अपनी कविताओं, गीतों, ग़ज़लों तथा अन्य रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने वाले कवियों एवं रचनाकारों की एक लंबी कतार है। कवि के लिए संवेदनशील एवं भावुक होना एक बात है, लेकिन भावुकता के बहाव में अवसरवादी हो जाना एक अन्य अप्रशंसनीय बात है। राष्ट्र के प्रति सच्ची निष्ठा के साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता। यदि आज एक रचनाकार भारतीय राष्ट्रीय एकता के प्रति प्रतिबद्ध है तो उसे अंत तक इस राष्ट्रीय भाव को बनाए रखना होगा ताकि देश के युवाओं पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़े, उन्हें अभिप्रेरणा मिले। उल्लेखनीय है कि उर्दू के भावुक एवं महत्वाकांक्षी शायर इकबाल ने 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' कहकर जो राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति की भावना लोगों में जगाई थी, उसे तितर-बितर होने में देर नहीं लगी, जब उसने यह तराना उद्घोषित किया-'इस्लाम हैं हम वतन है सारा जहां हमारा'। हैरत तो इस बात यह है कि यह उद्घोषणा की गई थी, जब समूचा भारत इकबाल को राष्ट्रकवि स्वीकार कर चुका था। यदि वे इस्लामवादी न होते, उनमें थोड़ी भी नैतिकता, देशप्रेम और जन्मभूमि से लगाव होता तो वे अलग देश का नाम भारत से ही जोड़कर रखते। उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम किसी आधार पर नामकरण करते। इससे इकबाल की कल्पना और सृजनशीलता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगता। जर्मनी जब विभाजित हुआ तो किसी भाग ने अपना नाम नहीं बदला, मात्र पूर्व और पश्चिमी शब्द से अपनी पहचान अलग कर ली। वह भावुकता अथवा महत्वाकांक्षा किस काम की, जो

राष्ट्रीय एकता के फलसफे को ही उलट दे।

इसमें दो राय नहीं कि दुनिया और संपूर्ण सृष्टि की व्याख्या तथा समझ सबसे पहले धर्म ने ही दी। अत: धर्म कोई बालू की दीवार नहीं है कि जरा किसी दूसरे ने हवा दी और ढह गई। धर्म तो मानवता की दुनिया है, मानव की बुनियादी जरूरत है। मानवता की शत्रु फिरकापरस्ती के खिलाफ कबीर ने अपनी पहचान अर्थात् सच्चे इंसान की पहचान बताते हुए यहाँ तक कहा है-'मैं न हिंदू न मुसलमान'। विष्णु प्रभाकर की 'अधूरी कहानी' के अहमद साहब कहते हैं- 'मेरे दोस्त! इस दुनिया में मिटने वाला कुछ भी नहीं है, मुहब्बत तो हरगिज नहीं।' सिर्फ हमारी गफलत से कभी-कभी उस पर परदा पड़ जाता है।' कहना न होगा कि नैतिकता, धर्म, मूल्य, एकता आदि को सही अर्थो में परिभाषित करने वाली साहित्यिक रचनाओं को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करने से लाभ हो सकता है। जापान और अमेरीका में नैतिक शिक्षा का स्थान पाठ्यक्रमों में दिए जाने संबंधी विचारधारा जोरों पर है। फ्रांस में आत्म अनुशासन पर अधिक बल दिया जाता है। वहाँ प्राथमिक विद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों में आत्म अनुशासन को समुचित स्थान दिया गया है। फ्रांस के विश्वविद्यालयों में हड़तालें, अपराध और अनुशासनहीनता के मामले नहीं के बराबर हैं। भारतीय विश्वविद्यालय भी यह गहरे में समझें कि विद्यार्थियों में उच्च मानवीय गुणों के विकास से आपसी भेद-भाव दूर होंगे, भाईचारे का विकास होगा और राष्ट्रीय एकता को मजबूती मिलेगी।

लेकिन यह भी धूप की तरह स्पष्ट है कि भारतीय विश्वविद्यालय अपने कुछ प्रतिशत छात्रों के चलते राजनीतिक दलों के अखाड़े बन गए हैं, जहाँ गुंडागर्दी से लेकर ताजपोशी तक की भूमिकाएँ तैयार होती हैं। छात्रसंघ चुनावों में विद्यार्थियों के प्रतिनिधि नहीं, राजनीतिक दलों के उम्मीदवार जीतते हैं। फिर जीतने के बाद वर्ष भर उनका शोषण किया जाता है। विश्वविद्यालय के ऐसे राजनीति में रंगे परिसर परिदृश्य में शिक्षा के भविष्य का कुप्रभावित होना स्वाभाविक है। ऐसे परिवेश में दो दोयम दर्जे के दबंग युवा समाज में आएंगे जो राष्ट्रीय एकता को तार-तार करने में अमानवीय एवं स्तरहीन कार्य करेंगे। पंजाब, असम, आंध्रप्रदेश आदि राज्यों के विश्वविद्यालयों के युवा, कब, क्यों और कैसे देश की मुख्यधारा से कट गए, बड़े-बड़े शिक्षा मनोविज्ञानियों को पता ही नहीं चला। दागी विद्यार्थी अथवा दागी नेता से क्या बेदाग राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा की

जा सकती है? अत: विश्वविद्यालयों का परम दायित्व बनता है कि वे सच्चे, निष्ठावान एवं विवेकवान विद्यार्थियों का निर्माण करके उन्हें राष्ट्रीय एकता की मुख्यधारा में जोड़ने में मददगार बनें। ये यह भी समझे कि बिना मजबूत अनुभूति पक्ष, संवेदनशीलता और रचनात्मकता के न तो सामाजिकता और राष्ट्रीयता को समझा जा सकता है और न ही त्याग और समर्पण की भावना को जाग्रत किया जा सकता है।

विश्वविद्यालयों में पनपे और विकसित डॉनवाद एवं माफियावाद की अपनी अलग रंगीन दुनिया है। शिक्षकों के चयन में पक्षपात और अपारदर्शिता आम बात है। साहित्य में 'राष्ट्रीय स्वर', 'राष्ट्रीय एकता', 'राष्ट्रीय भावना' आदि निकषों पर शोध कार्य कराने वाले निर्देशक, अपने शोधार्थियों का जमकर शोषण करना एवं उन्हें मैला करना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझते हैं। विद्वान, सद्चरित्र एवं देशप्रेमी निर्देशक हैं अवश्य, लेकिन न्यूनतम संख्या में। प्राइवेट महाविद्यालयों तथा सरकारी अनुदान से चलने वाले महाविद्यालयों में भी कुछ ऐसे लोगों की भर्ती की जाती है, जिन्हें राष्ट्रीय एकता, देशभक्ति एवं राष्ट्रप्रेम से कुछ लेना देना नहीं है। शैक्षणिक योग्यता के आधे-अधूरे प्रमाण-पत्रों, डिग्रियों वाले ये शिक्षकगण व्यावसायिक, भौतिक, कला और शास्त्रपरक शिक्षा में अंतर नहीं कर पाते। विश्वविद्यालयों की तर्ज पर युवा-युवतियों का शोषण करने, दूसरे का साहित्य हरण करने, अपने नाम के पीछे अमौलिक प्रकाशित पुस्तकों की लंबी सूची का मंच-दर-मंच ढिंढोरा पीटने वाले ऐसे शिक्षादानियों को विश्वविद्यालय स्तर पर पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों के माध्यम से ईमानदारी, राष्ट्रीय एकता, मानवता, मौलिकता, नैतिकता, कार्य-निष्ठा, मानव मूल्य, शैक्षिक मूल्य एवं उद्देश्य के विषय में प्रशिक्षण दिया जाना बेहद जरूरी है।

राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने के लिए विश्वविद्यालयों के स्तर पर प्रकाशित की जाने वाली शोध पत्रिकाओं-बुलेटनों की भी अहम भूमिका है। इन शोध पत्रिकाओं का आदान प्रदान भी होता रहे। स्वीकृत किए जाने वाले शोध प्रबंधों एवं लघु प्रबंधों के विषयों में 'राष्ट्रीय एकता' को भी कतिपय साहित्यिक विषयों के साथ जोड़कर शोध कार्य कराया जा सकता है, यद्यपि देश के कुछेक विश्वविद्यालयों में इस दिशा में काफी सतर्कता के साथ शोध कार्य संपन्न किया जा चुका है। विश्वविद्यालयों में शोधकार्य के संदर्भ में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इससे विश्वविद्यालयों के नाम और अस्तित्व को सार्थकता मिलेगी।

विश्वविद्यालय इस महत्वपूर्ण तथ्य को भी ध्यान में रखे कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हिंदी ने प्राचीन काल से देश में एकता और अखंडता स्थापित करने में अप्रतिम योगदान दिया। चाहे प्राचीन संतों का युग हो, चाहे सूफी संतों की प्रचार भावना हो, चाहे गुल और बहमनी बादशाहों ने हिंदी को काव्य की भाषा माना हो, चाहे व्यापारियों, सैनिकों और हमारे कामकाजियों ने इसे अपने लिए उपयोगी माध्यम चुना हो, सदैव हिंदी की धारा प्रवाहित होती रही है। राजनीतिक स्वाधीनता से पहले ही हिंदी ने राष्ट्र के मन में अपने लिए एक आदर भाव उत्पन्न कर लिया था। चूँकि हिंदी राष्ट्र के विभिन्न वर्गों और तत्वों की भाषा थी, अतः उन्हें अपनी अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा अवसर मिला। कबीर, गुरु नानक और मीराबाई ने हिंदी के जरिए मानव प्रेम, एकता, अखंडता, दया, सहयोग और सहानुभूति का संदेश दिया। इस संदर्भ को देने का प्रयोजन यह है कि शिक्षा पाठ्यक्रमों में मैकॉले के अवशेषों को अलविदा कहकर हिंदी माध्यम की दशा, दिशा और संभावना को ध्यान में रखते हुए नए सिरे से विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों को हिंदी में तैयार किया जाए ताकि तकनीकी शब्दों से प्राध्यापक एवं विद्यार्थीगण अवगत होकर राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक आदान-प्रदान में सक्षम हो सकें।

गौरतलब है कि हमारी संस्कृति, प्रकृति और सोच एक है और प्रवृत्तियाँ भी लगभग एक समान हैं। यही हमारी भारतीयता भी है। राष्ट्रीय एकता गमले में उगी हुई कोई बेल नहीं है कि जरा-सा सहारा पाकर विकसित होती चली जाएगी। राष्ट्रीय एकता तो हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की तरह एक आवश्यकता है, जिसे विवेक से, त्याग से और निष्ठा से मजबूत करना होगा। यह देश के अस्तित्व का प्राणतत्व है और भक्ति की तरह एक पवित्र कार्य है। माना कि आज देश में द्रोणाचार्यों और अर्जुनों की कमी नहीं है। लेकिन 'एकलव्य' तो आज भी उपेक्षित है। आम भारतीय अशिक्षित हैं तो अंतर्मुखी सोच में परिवर्तन का अभाव है। राष्ट्रीय एकता के सामने यह एक बड़ी चुनौती है। 'मनु स्मृति' के कतिपय अध्यायों, धृतराष्ट्रोन्मुख मानसिकता और भीष्म पितामही खामोशी का परिष्कार-संशोधन किए बिना राष्ट्रीय एकता को मजबूत नहीं किया जा सकता है। इस क्षेत्र में विश्वविद्यालयों के सहयोग के बिना पूर्ण सफलता मिलना कठिन है, यह तो जाहिर है ही।

राष्ट्र निर्माण और शिक्षा नीति

डॉ. गुलाबचंद कोटाड़िया

आज भारत 125 करोड़ जनसंख्या का आँकड़ा पार कर चुका है और लगातार जनसंख्या बढ़ती जा रही है जिस पर सरकार नियंत्रण नहीं कर पा रही है। अगर बढ़ोत्तरी इसी प्रकार होती रही तो सन् 2035 में चीन को भी वह इस विषय में पीछे धकेल देगा। इसमें भी जब हम राष्ट्र निर्माण की बात करते हैं तो एक बात स्पष्ट रूप से हमें मालूम पड़ती है कि आज की युवाशक्ति की आयु 21 से 40 तक हमारे पास 50 प्रतिशत से भी अधिक है जिसका हम सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं। राष्ट्र निर्माण का अगर हम सही ढंग से उपयोग करें तो यह हमारे देश के लिए बहुत बड़ा संबल बन सकता है। हमारी शिक्षा नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम राष्ट्र की बात करें। राष्ट्र क्या है? आज के संदर्भ में राष्ट्र है मानव समुदाय की एक इकाई। राष्ट्र है तो राष्ट्रीय सिद्धांत भी समानता के आधार पर हमें करना ही होगा। राष्ट्र किसी एक व्यक्ति समुदाय, धर्म, संप्रदाय का नहीं होता। राष्ट्र होता है सभी धर्मावलंबियों, भाषा-भाषी क्षेत्रीय विविधता में एकता लाने वाला जहाँ जात-पात, भाषा, धर्म, विश्वास बाधक नहीं होते। बहुसंख्यक अल्पसंख्यक भिन्न कर रहे व न्यायिक प्रक्रिया व सिद्धांत सब पर एक समान लागू होते हैं। अखण्ड एकता राष्ट्र का मूलाधार है। राष्ट्रीय एकता होगी तभी कश्मीर से कन्याकुमारी तथा गुजरात से लेकर असम तक हम जुड़े रह कर गर्व से मस्तक उँचा रख सकते हैं। राष्ट्र में विघटन शक्तियाँ यदा-कदा सिर उठाती हैं पर हमारी भारतीय सभ्यता-संस्कृति व परंपरा के कारण वह आवाज दब जाती है। पिछले 70 सालों में से यही हो रहा है। राष्ट्रीय एकल जनमानस में एक बार संस्कारगत हो जाए तो अन्य सभी भावनाएँ व पदार्थ गौण हो जाते हैं।

भारत के पास युवाशक्ति का अथाह भंडार है। अगर वह राष्ट्र निर्माण में लग जाए तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि आज भारत बहुत ही जल्द विकसित देशों की श्रेणी में आ सकता है, परंतु दुर्भाग्य यह है कि हमारे 40 प्रतिशत युवक युवतियाँ पूर्ण शिक्षित नहीं हैं और युवा वर्ग ही क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। कारण है हमारी शिक्षा नीति में कहीं न कहीं बहुत बड़ी खामी है जिसका पुनर्निरीक्षण करना ही होगा।

राजग सरकार ने 2001 में 13वें संविधान संशोधन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को मूलभूत अधिकारों में शामिल कर लिया और उसमें 6

वर्ष की आयु के बच्चों से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य मुफ्त शिक्षा घोषित कर दी और उसका भार प्रादेशिक सरकार के कंधे पर डाल दिया। यों भी शिक्षा राज्य का ही विषय है और यह उस राज्य पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार का पाठ्यक्रम लागू करे। राज्य अपने क्षेत्रीय पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर चयन करता है। राजग सरकार अपनी नीति को अमल में ही नहीं ला पाई, क्योंकि उसने संसाधनों के अभाव में यह भी नहीं सोचा कि इतनी बड़ी राशि आएगी कहाँ से। शिक्षा को मौलिक अधिकार मानते हुए भी कानून बनाने के अलावा वह ज्यादा कुछ नहीं कर पाई। उदाहरण के तौर पर संविधान संशोधन के तीन वर्ष बाद 2004-2005 वर्ष में आंतरिक प्राथमिक शिक्षा के लिए मात्र 5752 करोड़ रुपए केंद्रीय सरकार ने बजट में प्रावधान कर रखा था। यह राशि राजग सरकार के 2001 वर्ष में 9800 करोड़ के निर्धारण से आधी से कुछ ज्यादा मात्र है जो पूरे ढाँचे को बदलने व मुफ्त शिक्षा को अनिवार्य घोषित खर्च के लिए मामूली रकम है अर्थात् उस योजना का कार्यान्वयन ही नहीं हो सका, क्योंकि खर्च का अनुमान ज्यादा था और इस बीच राजग सरकार का मई 2004 में पतन ही हो गया।

राजग सरकार के पतन के बाद संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन यूपीए की सरकार ने भी न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनाकर या कामन मिनिमम प्रोग्राम प्राथमिक शिक्षा हेतु संसाधन जुटाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता जाहिर कर दी और उसके लिए केंद्रीय करों पर 2 प्रतिशत सरचार्ज या सेस लगाने की इच्छा जताई। केंद्रीय सरकार का वार्षिक रेवेन्यू प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों की प्राप्ति लगभग राजस्व व्यय 3,85,493 करोड़ आँका गया है जबकि कुल आय 3,09,322 करोड़ रुपए होगी अर्थात बजटीय घाटा 76171 करोड़ रुपए होगा (दिनांक 8.7.04 पेश बजट वित्तमंत्री पी. चिदंबरम ने प्रस्तुत किया उसके अनुसार)। राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 4.4 प्रतिशत यानी 137407 करोड़ रुपए होगा। जो लगभग 18 हजार करोड़ होती है। इतना खर्च दु:साध्य ही है और सपना बनकर रह जाएगा। तलस मजुमदार समिति ने सन् 1999 में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसके अनुसार देश की प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिए दस वर्षो के अंतराल में 1,36,822 करोड़ रुपए अतिरिक्त खर्च के जरूरत पड़ेगी, साथ में यह भी कहा कि अगर सरकार 6 प्रतिशत खर्च करने का वादा निभाती है तो संसाधन जुटाने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी।

उस बात को बीते 5 वर्ष भी हो गए हैं व नयी सरकार भी वही वादे दुहरा रही है। आशा करें कि वर्तमान सरकार अपना वादा सही ढंग से निभाएगी।

गत वर्षो में शिक्षा के क्षेत्र में कई विचारणीय प्रश्न खड़े हुए हैं। अध्यापक छात्रों का प्रतिशत, बीच में छोड़कर चले जाने वाले छात्रों की संख्या बहुत ज्यादा है। आज प्राथमिक शिक्षापूर्ति हेतु जो आठ वर्ष की आवश्यकता है उसमें आधे छात्र ही पढ़ पाते हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली का स्तर अलग अलग क्षेत्रों में बहुत ही घटिया है। इसका एक बड़ा कारण है कि सरकार शिक्षकों को गैर स्कूली कामों में लगा देती है, सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को, जो अनुचित है। यों भी सरकारी स्कूलों व प्राइवेट स्कूलों के स्तर में जमीन आसमान का अंतर है। सरकारी स्कूलों के परिणाम इतने कम आते हैं कि आश्चर्य होता है कि वहाँ हो क्या रहा है। सरकारी शिक्षकों का वेतन कम नहीं होता फिर भी शिक्षण का स्तर इतना नीचा क्यों? समानता के आधार पर सुविधा उपलब्ध कराई जा रही है तो शिक्षण का स्तर भी समान होना चाहिए। सरकारी शिक्षकों में उत्तरदायित्व व मनोबल का अभाव है जैसे ठीक है चलो कोई पढ़े या न पढ़े हमें सीमित घंटे पढ़ाना है बस। परिणाम चाहे कुछ भी आए यह ठीक नहीं है। सरकार अब उन पर भी विचार कर रही है व जिम्मेवारी सौंप दें तो भविष्य के लिए अच्छा होगा। सरकारी शिक्षकों पर अंकुश लगाना जरूरी है।

एक बात समझ के बाहर है कि पाठ्यक्रम में इतनी विविधता क्यों? उच्च स्तरीय पाठ्यक्रम क्यों नहीं हर जगह लागू कर दिया जाता है। अब कई राज्यों में एनसीईआरटी यानी राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद है जिसकी स्थापना 9 सितंबर 1961 में हुई। यह एक स्वायत्तशासी संस्था है। इसका मूल उद्देश्य देश के विद्यालय शिक्षा में सुधार करना, राष्ट्रीय एकता को सुनिश्चित करना, शिक्षा जनस्तर से उठाकर सार्वभौमिक वैश्विक स्तर पर लाना है तथा पाठ्यक्रम को लागू करना एक सकारात्मक काम साबित होगा। एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में शैक्षणिक स्तर पर किसी तरह का समझौता नहीं होना चाहिए। राज्य अपने क्षेत्रीय भूगोल, इतिहास व सांस्कृतिक विरासत को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम बनाए पर सामान्य ज्ञान राष्ट्रीय अखंडता को ध्यान में रखकर पढ़ाया जाए। शैक्षणिक स्तर को समान बनाना सरकार की प्राथमिकता होनी चाहिए। साथ में सरकारी स्कूलों के उत्तीर्ण परिणाम अच्छे आएँ उसके लिए शिक्षकों पर उत्तरदायित्व व जिम्मेदारी सौंपनी होगी। लोग प्राइवेट स्कूलों या सेंट्रल बोर्ड के

स्कूलों को क्यों ज्यादा अहमियत देते हैं? स्तर के कारण ही जबकि शिक्षकों के मानदेय में कुछ अधिक फर्क नहीं होता। तब सरकारी स्कूलों के बच्चे क्यों शैक्षणिक उच्च स्तर से वंचित रहें? तभी प्राइवेट व सरकारी स्कूलों को बराबरी का दर्जा मिल पाएगा।

हमारी शिक्षा नीति में रिसर्च अनुसंधान की बहुत बड़ी कमी पाई जाती है। छात्र विज्ञान और गणित की ओर जाना ही नहीं चाहते। आज भारत में विश्वविद्यालय की कमी नहीं है। सन् 1961 में जहाँ मात्र 45 विश्वविद्यालय थे आज 35 वर्ष बाद 1996 में वे बढ़कर 226 हो गये हैं परंतु जहाँ तक स्तर का सवाल है तो कोई खास उत्तमता दृष्टिगोचर नहीं होती। ये विश्वविद्यालय मात्र डिग्री प्रदायक मशीन सिद्ध हो रहे हैं। शिक्षा से भी अधिक अनुसंधान या रिसर्च महत्वपूर्ण है। हाल ही में एक सर्वे से मालूम पड़ा कि पूरे विश्व में 2000 विश्वविद्यालय हैं, टॉप उच्च स्तरीय विश्वविद्यालयों में मात्र द इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस एवं टेक्नोलॉजी बैंगलोर को 251 से 300 स्लाट में जगह मिली है। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, दिल्ली तथा आईआईटी खड़गपुर को 451 से 500 स्लाट में जगह मिली है। इससे साबित होता है कि भारतीय विश्वविद्यालयों का स्तर क्या है? यहाँ विज्ञान या अन्य शोध संधान प्रक्रिया में भाग भी नहीं लेना चाहते। हर संचार में अग्रणी के कारण कम्प्यूटर साइंस के स्नातक बन विदेशों की तरफ पलायन कर रहे हैं। इस मामले में चीन हमसे बहुत आगे है। शिक्षाविदों को अनुसंधान पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

राजग सरकार पर पाठ्यक्रमों में फेरबदल व भगवाकरण के आरोप लगाए गए हैं। यह झगड़ा बहुसंख्यक व अल्पसंख्यकों का है। अल्पसंख्यक असुरक्षा अनुभव करे यह अनुचित है। सांप्रदायिक एजेंडा एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र पर लादना मनमुटाव व द्वंद्व का कारण ही बनता है। समन्वय व सद्भावना को ठेस पहुँचनी ही नहीं चाहिए। कट्टरपंथी हिंदू व मुसलमानी शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मदरसों की हालत तो और भी खराब है। वे आधुनिक विज्ञान, रोजगारपरक शिक्षा ग्रहण ही नहीं करना चाहते। धार्मिक बंधनों के कारण पिछड़े हुए हैं। अब नई सरकार ने उनकी तरफ ध्यान देने के लिए एक अखिल भारतीय समिति का गठन किया है यह एक सराहनीय कदम है। अंत में राष्ट्रीय शिक्षा नीति कैसी होनी चाहिए इसके बारे में विचार करें। एनसीईआरटी पाठ्यक्रम के तय कार्यक्रम अनुसार पाठ्यक्रम सभी जगह चलाए जाएँ ताकि निम्न स्तरीय शिक्षा

समाप्त हो जाए। हर स्कूल में समान शिक्षा का सिद्धांत अपनाया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीय भावना भी पनपेगी।

रिक्त पदों पर शीघ्र भर्ती हो तथा हर शिक्षक के लिए मानक उत्तरदायित्व तय किए जाएँ ताकि वे अपने स्कूलों को अच्छे परिणाम दे सकें। पुरानी सोच व ढंग में पूर्ण परिवर्तन-परिवर्धन कर दिया जाना चाहिए। संशोधन भी कर दिया जाए। विश्वविद्यालयों में अनुसंधान पर जोर दिया जाए जो विज्ञान के परिचय पेश कर नए शोध में लगे। हर दो वर्ष में स्कूल व विश्वविद्यालयों का उनके काम का सर्वेक्षण किया जाए। कम्प्यूटर शिक्षा आज के आधुनिक युग के संदर्भ में अतिआवश्यक घोषित कर दिया जाए। धर्मनिरपेक्षता को अहम बना दिया जाए। किसी स्कूल में धार्मिक शिक्षा न दी जाए। जात-पात, संप्रदाय या धर्म को पाठ्यक्रम में जगह मिलनी ही चाहिए। एलकेजी, यूकेजी को हटा कर कक्षा प्रथम से ही स्कूल शुरु हो ताकि बच्चा बोझ उठाए न फिरे। शिक्षक अपने कर्त्तव्य का मानकीकरण कर अध्ययन में नवीनता व सकारात्मक सोच को जगह दें। रचनात्मक कार्यों को अहमियत दें रोजगार परक शिक्षा बनाएं ताकि स्कूल या विश्वविद्यालय से निकला छात्र मात्र नौकरी ही न ढूँढ़े स्वयं का धँधा व्यवसाय या इंडस्ट्री लगाए। सरकार हर स्कूल में पेयजल व अन्य सुविधा मुहैया कराए ताकि शुद्ध वातावरण में वे शिक्षा ग्रहण कर सकें। भर्ती के लिए छात्रों को भागदौड़ नहीं करनी पड़े, सरकार हर समस्या पर ध्यान दे। सर्व शिक्षा, समान शिक्षा अभियान चलाया जाना चाहिए। कक्षा 1 से 12 तक मुफ्त शिक्षा हो। परिवार पर भार डाले कि कोई बच्चा या बच्ची पढ़े बिना न रहे। आदिवासी क्षेत्रों में अधिक स्कूल खोलें। दलित शोषित अन्त्यज छात्र-छात्राओं को ईनाम इकराम की घोषणा करे ताकि वे आगे बढ़ सकें। नई प्रतिभाओं को प्रेरणा दें। गुणात्मक शिक्षण के साथ खेलकूद प्रयोगशालाएँ, पुस्तकालय के साधन जुटाए। पाठ्यपुस्तकें ज्यादा कीमती न हो आज यह भी एक बड़ा व्यवसाय बन गया है जहाँ पूरा पक्षपात हो रहा है। शिक्षा व्यवसाय नहीं है वह विद्यादान तक ही सीमित रहे। हर छात्र-छात्रा को पढ़ने के अवसर मिले, कोई शिक्षा के अभाव में वंचित न रहे, सर्व शिक्षा नीति सरकार को अपनानी होगी। हाँ! संसाधन जुटाने में कोई कोताही न बरतें अन्यथा बड़ी-बड़ी बातें व वादे खोखले ही साबित होंगे, राष्ट्र निर्माण में शिक्षित युवाशक्ति बहुत बड़ा योगदान दे सकती है।

राष्ट्रीयता और शिक्षा

प्रो. पी. के. झा 'प्रेम'

यह सर्वविदित है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। अपनी सुरक्षा पारस्परिक विचार-विमर्श, सुविधा-संपन्नता, शांति-एकता-व्यवस्था एवं सुव्यविस्थत प्रगति की ललक ने उसे सामूहिक जीवन जीने को मजबूर किया। और यह सिर्फ मानव में ही नहीं, वरन् छोटे-छोटे जीव अर्थात् चीटियों में भी देखी जा सकती है। इसी सामाजिकता की भावना ने मानव में राष्ट्रीयता को जन्म दिया।

'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता:'

यजुर्वेद की यह उक्ति हमें यह प्रेरणा देती है कि हम अपने राष्ट्र में सजग, सावधान होकर पुरोहित, अगुआ बनें। राष्ट्रीयता किसी भी देश की आत्मा होती है। इसकी सुदृढ़ता एवं व्यापकता से ही राष्ट्र की समृद्धि एवं विकास निहित होता है। जो राष्ट्र अंदर से जितना अधिक सजग एवं एकता स्थापित किए होगा, वह बाहर से भी उतना ही व्यापक और प्रभावशाली दिखाई देगा। जिस राष्ट्र के जन-मानस में जितना ही अधिक सद्भावना, सहिष्णुता एवं त्याग भावना होगी, वह राष्ट्र उतना ही जीवंत होगा।

राष्ट्रीयता एक भावना है, जो पास रहने एवं एक समान इतिहास से पैदा होती है, राष्ट्रीयता की पहचान यह है कि वे आपस में अलगाव का अनुभव मात्र से दुखी हो जाते हैं और निकटता का अहसास पाकर सुखी। राष्ट्रीयता की भावना जितनी अधिक मजबूत होती है, राष्ट्र उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है। और एक बात तो पूर्णत: स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना स्वाभाविक पैदा होती है, यह प्रचार से पैदा नहीं होती है, जिन राष्ट्रों का गौरवमय संघर्ष का इतिहास रहा है, वहाँ राष्ट्रीयता प्रबल होती है। वहीं दूसरी ओर गुलाम राष्ट्रों में राष्ट्रीयता मर चुकी होती है, अगर राष्ट्रीयता ही होती तो वे गुलाम न बने रहते। इसे एक उदाहरण के द्वारा भी परखा जा सकता है-जब तेरहवें विश्व कप फुटबाल मैच के सेमी फाइनल में ब्राजील हार गया तो संपूर्ण ब्राजील में मातम छा गया, हद तो तब हो गई जब उक्त आशय का समाचार पढ़ने वाली दूरदर्शन उद्घोषिका भी अपने आप को उक्त दु:ख को पचा नहीं पाई और उद्घोषणा करते वक्त ही रो पड़ी। इसे कहते हैं राष्ट्रभक्ति, राष्ट्र से लगाव। इस तरह हम कह सकते

हैं कि राष्ट्रीयता की भावना जहाँ भौतिक कारणों से पैदा होती है, वहीं कभी-कभी भौतिक से अधिक भावनात्मक भी हो जाती हैं।

आप जब हम अपने राष्ट्र को इस कसौटी पर परखते हैं तो स्वाधीन भारत के समक्ष राष्ट्रीयता की समस्या अपनी संपूर्ण अपेक्षाओं को मुँह चिढ़ाती खड़ी नजर आती है। इसने मायावनी दानवी की तरह अपने एक साथ अनेक रूप में प्रस्तुत कर रखा है। सांप्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, आर्थिक असमानता, पृथकतावाद, जातिवाद, घृणित राजनीति आदि न जाने कितने ही इनके रूप हैं, जो मुख्य रूप से अपनी उपस्थिति के कारण राष्ट्र रूपी शरीर को दिनानुदिन क्षय करने पर तुले हैं। ऐसा महसूस होता है कि राष्ट्रीयता अपने लोगों के कुप्रचार से अपने अस्तित्व पर ही संकट झेल रहा है। पहले तो हम विदेशी विध्वंसात्मक तत्वों का हवाला देकर पल्ला झाड़ लेते थे, किंतु अब तो अपनों ने ही नाकों दम कर रखा है। आज राष्ट्र के विचारक, शिक्षाशास्त्री, सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता, राजनेता तथा शासन चलाने वाले प्रशासक, सभी इस विषम परिस्थिति को देखकर, परिणाम की भयावहकता का अनुमान लगाकर व्याकुल हो उठे हैं और राष्ट्रीयता की समस्या के समाधान के लिए चिंतित हैं। इन परिस्थितियों में स्वाभावत: ही सबकी दृष्टि शिक्षा की ओर चली जाती है, क्योंकि राष्ट्रीयता की समस्या मूलत: भावनात्मक है। अतएव यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि राष्ट्रीयता पर भड़की चिंगारी का शमन शिक्षा रूपी पवित्र गंगाजल के प्रयोग से ही संभव है।

राष्ट्रीयता की महत्ता में शिक्षा का कितना महत्व है, वह भारत के महान दार्शनिक, शिक्षा शास्त्री एवं पूर्व राष्ट्रपति डॉ राधाकृष्णन् के इन विचारों से रेखांकित होता है, जिसका उद्‌बोधन उन्होंने राष्ट्रीय एकता सम्मेलन 1961 के दौरान किया था -'ईंट तथा गारे अथवा छेनी तथा हथौड़े से राष्ट्रीय एकता का निर्माण नहीं हो सकता। वह तो मनुष्य के मन तथा हृदय में अव्यक्त रूप से विकसित होता है। और इसके लिए बस एकमात्र प्रक्रिया है शैक्षिक प्रक्रिया। यह संभव है कि इस प्रक्रिया की गति धीमी हो, किंतु यह सुनिश्चित एवं स्थायी अवश्य है।'

अत: यह माना जा सकता है कि राष्ट्रीयता की कुँजी शिक्षा है। बल्कि सत्य यह है कि शिक्षा के सफल उपयोग के बल पर ही राष्ट्रीयता का विकास संभव है। राष्ट्रीयता के संदर्भ में राष्ट्र की वर्तमान शिक्षा का विश्लेषण एवं संश्लेषण आवश्यक है। इस संदर्भ में जब हम भारतीय शिक्षा प्रणाली पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं- भारत में जो शिक्षा

प्रणाली अपनाई गयी है वह निरूद्येश्य है। उनमें इतनी दोषपूर्ण संभावना है जो छात्रों को नव निर्माण का संचार न कर विध्वंशात्मक प्रकृति करती है। शिक्षा का एक रूप सैद्धांतिक है, वह दूसरा व्यावहारिक। 1. सैद्धांतिक ज्ञान हमें जीवन और प्रकृति के नियम को समझने में सहयोग देता है, जबकि 2. व्यावहारिक पक्ष आर्थिक जीवन में उपयोगी सिद्ध होता है।

परंतु आज भारत में शिक्षा तथा शिक्षण-संस्थान गलत राजनीति एवं लूट-खसोट का अड्डा बन गया है। आज भारत में जातीय एवं सांप्रदायिक शिक्षण संस्थानों का नाल बिध चुका है, जहाँ से सुशिक्षित नागरिक बनने की बजाय भाई-भतीजावाद, धार्मिक कट्टरता और पृथकता का ज्ञान लेकर निकलते हैं। वो अपने शिक्षा के सहारे सरकार के राष्ट्र से कुछ पाना चाहते हैं देना नहीं। सच कहा जाय तो आज के शिक्षण संस्थान शिक्षा का मंदिर न होकर राजनीति की पहली पाठशाला, गंदगी की आधारशाला एवं रोजगार के लिए ताबीज बनाने का संस्थान बन गया है। शिक्षा के इसी विकृति को देखकर कोठारी आयोग ने प्रतिवेदन दिया था कि 'वर्तमान शिक्षा जीवन-निष्ठ नहीं है।' फिर उन शिक्षार्थियों से हम कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि वो राष्ट्र हित की सोचें! जबकि राष्ट्रीयता मूलत: एक भावनात्मक लगाव का दूसरा रूप है। राष्ट्रीयता की भावना और शिक्षा में अन्योन्याश्रित संबंध है। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी राष्ट्र के भावी नागरिक के अंदर स्वस्थ एवं सही राष्ट्रीयता की भावना का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है। इसलिए तो कहा गया है कि जैसी शिक्षा, वैसे नागरिक तथा जैसे नागरिक, वैसी ही राष्ट्रीयता। इसलिए हमें अपनी भावी नागरिक के कोमल मन मस्तिष्क में शिक्षा की अपेक्षित वयार प्रवाहित करनी होगी। शिक्षा की व्यापकता को समझते हुए मौलाना कलाम आजाद ने भी इसी ओर संकेत किया- शिक्षा वही कार्य करती है, जिसे धर्म करता है। वह मन को प्रबुद्ध करती है, चीज को सुंदर बनाती है तथा व्यक्तित्व में मानवीय गुणों का संचार करती है। ये सभी गुण जन-समुदाय को सत्य और कर्त्तव्य की रक्षा के लिए एक सूत्र में निबद्ध करते हैं।' यही कारण है कि महान विचार युगदृष्टा स्वामी विवेकानंद ने भी भारत को सबल, सुंदर, प्रगतिशील एवं जीवंत रूप में लाने के लिए साधन के रूप में शिक्षा को ही प्राथमिकता दी। उनकी दृष्टि में भारत को वास्तविक मानव की आवश्यकता है जिसके हृदय में प्रेम की गंगा हो। तभी राष्ट्रीयता का सपना साकार रूप ले सकता है। अत: हम नि:संकोच कह सकते हैं कि शिक्षा के

माध्यम से ही राष्ट्रीयता को सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने में सफल हो सकते हैं।

उपर के महान विचारकों के विचारों से तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप में इतना तो स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता के विकास में शिक्षा का अतुलनीय योगदान है, परंतु 'शिक्षा' के उक्त रूप से नहीं जो अभी लागू हैं। हमें इसके स्वरूपों में परिवर्तन लाना होगा। अर्थात् नई शिक्षा नीति का निर्माण करना होगा, जिसमें कई नए कदम को शामिल करना होगा, तभी हम शिक्षा के बल पर राष्ट्रीयता का विकास कर सकते हैं।

वस्तुतः हमारी शिक्षा नीति निश्चित रूप से ऐसी होनी चाहिए जिसमें राष्ट्रीयता के भाव छात्र-छात्राओं में आरंभ से ही भरे जाएँ, वे अपने महान राष्ट्र के नागरिक होने में गौरव का अहसास करें। नई शिक्षा नीति का एक विशिष्ट पहलू यह भी होना चाहिए जिसमें उस युवा पीढ़ी को राष्ट्रीय दायित्व का बोध हो। उनके पाठ्यक्रम का निर्धारण ऐसा हो जिनसे उन्हें राष्ट्रीय कार्यो में भाग लेने का अवसर प्रदान हो। हालांकि इन अवसरों को उपलब्ध कराने वाली पहले से भी कई व्यवस्थाएँ कार्य कर रही हैं। जैसे एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउटिंग आदि। लेकिन इन कार्यक्रमों को भी मात्र खाना पूरी ही किया गया है। इन कार्यक्रमों को विराट् रूप में अर्थात् वास्तविक रूप में उतारा जाए न कि सिर्फ दिखावा के लिए। राष्ट्रीयता में शिक्षा का भरपूर सफल उपयोग तभी संभव होगा जब शिक्षा को रोजगार से जोड़ा जाएगा। आज की वर्तमान शिक्षा प्रणाली राष्ट्र में बेरोजगारों की फौज खड़ा कर रही है, जो दिनानुदिन भस्मासुर की तरह संपूर्ण व्यवस्था पर ही अपना तेजाबी रूख रख रहा है। वस्तुतः हम शिक्षा के बारे में दिशाहीन हैं, वर्तमान में जो शिक्षा नीति हमारे राष्ट्र में कार्यरत है, उसमें ऊँचे आदर्शो की तो बात की गई है, परंतु जिन बिंदुओं पर सबसे ज्यादा जोर देना चाहिए अर्थात् रोजगार पर, उन्हें उपेक्षित छोड़ दिया गया है। क्योंकि मात्र कह देने भर से ही शिक्षा रोजगारन्मुखी नहीं हो जाती है। महान विचारक 'जार्ज वर्नाड शॉ' का विचार विचारणीय है- 'निरंतर अवकाश का पूरा नाम नरक है, बेकारी जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है।'

उपरोक्त अवरोधों पर विचार-विमर्श के पश्चात् हमें शिक्षा को राष्ट्रीयता से जोड़ने के क्रम में निम्न व्यवस्थाओं पर ध्यान देना होगा। सर्वप्रथम शिक्षा को अनिवार्य घोषित करना होगा। साथ ही सबों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था व्यापक आधार पर करनी होगी। देश/राष्ट्र के प्रति निराशा का सर्वप्रथम कारण ही है अशिक्षा। हम देश को मात्र एक नाम मान लेते

हैं। अगर शिक्षित होंगे हर भारतीय तो वह देश को अपने से जोड़ेंगे फिर अपनों से जोड़ने पर सभी-के-सभी राष्ट्रीयता की गंगा में डुबकी लगाएँगे। और वहीं से राष्ट्रीयता की गंगा-जमुना पूरे राष्ट्र में बहने लगेगी।

शिक्षा को राष्ट्रीयता से जोड़ने में जो अहम और प्रभावकारी भूमिका निभाने का कार्य करता है वह है शिक्षा को रोजगार से जोड़ना, परंतु दु:ख है यहाँ की शिक्षा उत्पादकता से दूर-दूर रहती है। होना यह चाहिए कि शिक्षा में व्यावसायिक सोच पैदा करना होगा, तभी शिक्षित व्यक्ति अपने को व्यवस्थित कर राष्ट्रीयता की कड़ी को मजबूत करने का काम पूरे मनोयोग से करेगा। अत: हमें पहले आकलन करना होगा कि हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं? उसी को ध्यान में रखकर विभिन्न शिक्षण संस्थानों को संचालन करने की अनुमति प्रदान की जाए। इसके अतिरिक्त शासन और सरकार को इस स्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए तथा रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराने के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उपाय ढूँढ़ने चाहिए, बल्कि विकास की गाड़ी को राष्ट्र के ही जन साधारण दरवाजे पर पहुँचाकर उनकी आर्थिक हालत में सुधार लाने की कोशिश करनी होगी। हो सके तो काम के अधिकार को संविधान में मौलिक अधिकार के रूप शामिल कर बेरोजगारी की समस्या का सर्वमासिक हल विकसित करना चाहिए। ऐसी शिक्षा प्रदान करने वाली समस्याओं में निश्चित रूप से उत्साही और राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत शिक्षक की भी आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि आस्थाहीन शिक्षक शिक्षा के अभीष्ठ उद्येश्यों की पूर्ति कहाँ तक करेगा? कहा गया है- जैसा शिक्षक वैसी शिक्षा। अत: इस तथ्य को ध्यान में रखकर शिक्षक को राष्ट्रीय एवं उदारवादी प्रवृत्ति में ढालने की व्यवस्था करनी होगी। उनके हित एवं सम्मान का ख्याल हमें रखना होगा।

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् हम निम्न निर्णायक बिंदु पर पहुँचते हैं कि शिक्षा और राष्ट्रीयता में अन्योन्याश्रित संबंध है। शिक्षा के सफल उपयोग के द्वारा ही हम मानव के शैशवास्था में ही उनके अंदर राष्ट्रीयता की सुदृढ़ भावना का प्रवाह प्रवाहित कर सकते हैं। इस मान्यता की पुष्टि विश्व के अन्य राष्ट्र भी कर चुके हैं कि शिक्षा प्रणाली में अपेक्षित परिष्कार एवं अपेक्षित सुधार से छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना को प्रभावकारी ढंग से विकसित किया जा सकता है। अत: वास्तविक निचोड़ यह है कि सुव्यवस्थित आधारशिला पर ही राष्ट्रीयता की मीनार खड़ी की जा सकती है।

राष्ट्र निर्माण की चुनौतियाँ और समकालीन हिंदी कविता में राष्ट्रीय दायित्व

डॉ. ऋषभदेव शर्मा

समकालीन हिंदी कविता की राष्ट्रीय चेतना अतीत के गौरवगान और राष्ट्र पर मर मिटने के संकल्प की अभिव्यक्ति से आगे बढ़कर स्वतंत्र्योत्तरकालीन भारतीयता की संकटपूर्ण परिस्थितियों का विश्लेषण करके देश के प्रत्येक नागरिक के मन में राष्ट्र निर्माण की भावना जगाने के प्रयास में निहित है। यह कविता की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और उसके सचेत होने की शर्त भी। वर्तमान का विश्लेषण करके समकालीन कविता ने सारे देश के नागरिकों को वास्तविकता से परिचित कराया है ताकि उसे ही आधार मानकर भविष्य के राष्ट्र का स्वरूप तय किया जा सके।

आज जब परिस्थितियाँ देश को खंड-खंड करने में लगी हैं, तब राष्ट्रीय दायित्व का प्रश्न उठ खड़ा होता है। किसी भी देश में देश को संकटों से घिरा हुआ नहीं रहने दिया जा सकता, किंतु उसके लिए प्रत्येक पग पर सजग होना पड़ेगा। कविता ने इसे स्वीकार किया है। कवि ने माना है कि यह समय विशृंखलता से भरा हुआ है और राष्ट्रसेवियों का दायित्व उन्हें ललकार रहा है। इतना ही नहीं, दूर क्षितिज से करुणाई भाव से कोई पुकार-पुकार कर बुला रहा है। यह कोई राष्ट्र ही है जिसे कवि ने देखा है और जिसकी भावना को रचना में अभिव्यक्ति दी है-

'विशृंखलता से भरा समय आया,
भाई पग-पग पर है दायित्य तुम्हें ललकार रहा
दीनता और कारुण्य भाव स्वर में भरकर है
दूर क्षितिज से कोई तुम्हें पुकार रहा'
(देवेंद्र कुमार देव, सुकवि विनोद, फरवरी-मार्च 1983)

इस काल में कविता ने व्यक्ति को देश के एकदम निकट ले जाने की कोशिश की है, क्योंकि उसकी निकटता प्राप्त किए बिना निर्माण की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। ग्राम और नगर देश के अलग-अलग हिस्से हैं, इनके बीच की यात्रा की दिशा गाँव से नगर की ओर रहती है, नगर से गाँव की ओर नहीं। इस रूप में गाँव निर्माण की मूल इकाई बन जाता है। अत: राष्ट्रनिर्माण के लिए गाँव को समझना और उसके जीवन को पहचानना अनिवार्य है। कविता ने इस पहचान का माध्यम बनना चाहा है। रेलवे पोस्टर की बात करता हुआ कवि जूड़े में फूल खोंसती अतीत की बात तो करता है,

किंतु इस बड़े सवाल के साथ कि गाँव का बोझ लिए जा रहे आदमी की आकृति वहाँ खड़ी हो जाती है। कवि उस आदमी में वास्तविक भारत आँकता है। दायित्वबोध की यह प्रभावशाली दिशा है-

'तुमने भारत को पोस्टरों में देखा है।
एक सांवली औरत घने जूड़े में बड़ा सा फूल खोंस रही है।
एक देसी कमल पोखर से बच्चे की तरह उझक रहा है।
एक आदमी गाँव को बोझ लिए मचकता रहा है।
वहाँ कभी तुमने भारत देखा है?'
(विजेंद्र, ये आकृतियाँ तुम्हारीं)।

कोई भी क्रांति इसी व्यक्ति और उसके गाँव से शुरू होती है। राष्ट्र निर्माण की क्रांति ऊपर से ओढ़ी नहीं जा सकती। इस क्रांति में जिसे नष्ट होना है, उसकी जड़ें भी यहीं हैं, और कुछ बनना है, उसका आधार भी यहीं है। अन्याय और न्याय इसी धरती के हिस्से हैं। इसलिए कोई भी आवाज यहीं से उठनी सार्थक है, समकालीन कविता ने इसे अच्छी तरह अनुभव किया है। कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है-

'अन्याय को हम न्याय बनाकर रहेंगे।
इस धरती से जोर-जुल्म मिटा करके रहेंगे।
लेकर मशाल निकले हैं अपने पड़ाव से
आवाज आ रही है सुनो गाँव-गाँव से।'
(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कोई मेरे साथ चले)।

कवि ने राष्ट्र निर्माण को यथार्थ आधार देने के लिए इन शक्तियों की ओर से सावधान रहने को कहा है, जो देश की वर्तमान अव्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं। देश की इस अव्यवस्था के लिए अवसरवाद, स्वार्थपरायणता और संकीर्णता जिम्मेदार हैं। इन्हीं के कारण यह देश वर्गों में बँट गया है तथा अस्थिरता के कगार पर पहुँच गया है। देश के भविष्य के लिए इनसे लड़ना पहली आवश्यकता है। यदि इन्हें समाप्त नहीं किया जाएगा, तो हमेशा संकट ही बना रहेगा। इसी कारण कविता ने इस पूरी प्रवृत्ति को ही समाप्त करने की बात कही है-

'लोगो!
भविष्य में जीने वाले लोगो!!
सोच लो!
अगर उसकी ताकत अभी भी कामयाब हो जाती है

तो आगे भी ऐसा ही होता रहेगा।
बहते हुए बाजार की अँधेरी किसी गली में
घसीटकर
क्या हम इस बदमाश को खत्म
नहीं कर सकते हैं?

(ऋतुराज, अबेकस)

कविता इस अवसर को खोना नहीं चाहती। यदि इस समय भूल हो गई, तो परिस्थिति हमेशा के लिए हाथ से निकल जाएगी। आंतरिक शक्ति संगठन के साथ हमारे देश पर बाहरी शक्तियों का जो दवाब पड़ रहा है, वह इतना जटिल और गंभीर है कि राष्ट्र विरोधी शक्तियाँ क्षणमात्र में ही सबकुछ नष्ट कर सकती हैं। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद का नया विस्फोट और स्वातंत्र्योत्तर युग का मूल्यह्रास राक्षसी-रूप ग्रहण कर चुका है। ऐसे समय में भी सचेत न होना अपने राष्ट्र को अपने हाथ से खो देना है। यह अपने भविष्य को अँधकारपूर्ण कर लेना भी है। हमारे समय की अनेक कविताएँ ऐसी हैं जो मनुष्य के अंतरन को झकझोरती हैं और उसे खतरों के प्रति सचेत करती हैं-

'आज हम सो जाएँगे यदि तान कर चादर
रोज ओढ़े जाएँगे फिर मानकर चादर।'

(देवराज, तेवरी)

जो इस समय राष्ट्र-निर्माण के लिए जूझेंगे, वे ही भविष्य में सम्मान पाएँगे। जो अपने क्षुद्र स्वार्थ से चिपके रहेंगे, वे कायर कहे जाएँगे। देश कायरों का नहीं होता, वीरों का होता है। धरती को अपना कहने का अधिकार बहादुरों के पास संरक्षित होता है। कविता ने सारे देश के लोगों को ऐसी प्रेरणा देकर राष्ट्राभिमुख बनाया है। कविता का यह प्रयास पूरे देश की मानसिकता के निर्माण का प्रयास है। कविता का मूल कर्त्तव्य भी यही है। मानसिकता का निर्माण किए बिना देश नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस दशा में राष्ट्रीय मूल्यों के प्रति सार्थक प्रतिबद्धता पैदा नहीं की जा सकती। अत: कविता ने मूल प्रेरणा यह दी है कि-

'जो घरों को छोड़कर अब अँधेरों से लड़ेंगे।
वे बनेंगे बाहुबलि, महावीर होंगे एक दिन।'

(बृजपात सिंह 'शौरमी', संवाद)।

त्याग और बलिदान जैसे परंपरागत मूल्य राष्ट्र-निर्माण की

पहली सीढ़ी है। मनुष्य जिस देश में रहता है, वह उसका अहं होता है और देश के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाना उसका कर्त्तव्य बनता है। त्याग, तपस्या और श्रेष्ठ चरित्र से व्यक्ति अपने देश को महान बनाता है। यदि व्यक्ति में ये गुण नहीं हैं तो भौगोलिक और भौतिक उपलब्धियाँ देश नहीं बना पातीं। कविता इस मान्यता की स्थापना करती है कि कोई भी देश नागरिकों के चरित्रबल और शस्त्रबल के बिना जीवित नहीं रह सकता। शस्त्रबल आंतरिक शांति और सीमाओं की रक्षा का भार वहन करता है तो चरित्रबल राष्ट्रीय संस्कृति की अभिवृद्धि करता है-

'कोई भी देश
पनप नहीं सकता
मात्र
बाग-बगीचों और फब्बारों से
अथवा
राजनीति के खोखले नारों से
देश पनपता है
त्याग से
तपस्या से
आचार से
विचार से
और सुरक्षा हेतु रखी कटार से।'

(जगदीश चंद्र जीत, सर्वप्रिय)

इन सब तत्वों से महत्वपूर्ण है राष्ट्र निर्माण का उत्साह। उत्साह ही वह तत्व है जो प्रत्येक व्यक्ति को कर्म में लीन करता है। उत्साह पाकर जो व्यक्ति जहाँ है वहीं अपना कर्त्तव्य करने में जुट जाता है। इसी से राष्ट्र मजबूत होता है। यहीं यह कहना भी आवश्यक है कि उत्साह इस भावना को भी जन्म देता है कि सैनिक, किसान, मजदूर, लेखक, चित्रकार आदि सभी अपना-अपना राष्ट्रीय दायित्वपूर्ण निष्ठा और समर्पित भावना से निभाएँ ताकि किसी भी क्षेत्र में राष्ट्र का विकास बाधित न हो। सच्ची राष्ट्रीय चेतना के अंतर्गत सैनिक का गर्जन और किसान का फसल-गीत समान महत्वपूर्ण है। राष्ट्र के लिए मजदूर भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना वैज्ञानिक। समान महत्व का यह बोध कविता की नई राष्ट्रीय चेतना का प्राण हैं जिसमें कृषक अत्यंत गर्व के साथ कहता है-

'हरे खेत-खलिहान
सदा रसभरी जवानी
पुजारी धरती माँ के
हम कृषक भाई कंहलाते
माटी को शीश चढ़ाते
मुस्कराते हँसते-गाते
धरती पर धान उगाते।'

(सरला भटनागर, नौजवान देश के)

कविता की रुचि का यह परिवर्तन राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ कविता का भी नया मूल्य है जो उसे व्यक्तिवादी कविता से अलगकर सामयिक उद्यम बनाता है। कविता से राष्ट्र को नए रूप में जोड़ने का यह प्रयास स्वतंत्र भारत की कविता की महत्वपूर्ण विशेषता है। इससे कविता की राष्ट्रीय चेतना रूढ़ चिंतन से मुक्ति की ओर बढ़ी है आज की कविता नई चेतना के अनुरूप देशभक्ति को व्यापक स्तर पर ग्रहण करती है। वह समझती है कि देश के समक्ष नए निर्माण नफरत की दीवारों को ध्वस्त करके संपन्न होगा। तभी देश का वातावरण ऐसा बनेगा जिसमें नई सभ्यता का सूरज चमकेगा, उल्लास महकेगा, प्रेम का संदेश प्रत्येक व्यक्ति के मन में गूँजेगा और नई संस्कृति नए गौरव के साथ फले फूलेगी।

राष्ट्र-निर्माण की चुनौतियों का सामना करने के लिए कविता संघर्ष की मुद्रा को भी अपनाती है। निर्माण के लिए जिस उत्साह की आवश्यकता होती है, उसकी सुरक्षा के लिए उससे भी अधिक संघर्षधर्मी तेवर अनिवार्य होता है। स्वतंत्रता संघर्ष में जन आंदोलनों में प्रचलित गीतों में यह तेवर दिखाई देता था जिससे राष्ट्रभक्तों के संघर्ष की प्रेरणा मिलती थी। स्वतंत्रता के बाद यह तेवर बदल गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि कविता की मोर्चाबंद जुझारू प्रवृत्ति शिथिल हुई। बीसवीं सदी के आठवें दशक में तेवरी काव्यांदोलन के माध्यम से कविता में नए मूल्यों की स्थापना के साथ संघर्ष की मुद्रा भी पुनः प्रतिष्ठित हुई। निश्चय ही ऐसा होने के ठोस ऐतिहासिक कारण हैं। उनमें सबसे ज्वलंत यह है कि इस देश की संस्कृति को उनलोगों के हाथों नष्ट होते नहीं देखा जा सकता जो येन केन प्रकारेण राष्ट्र के भाग्य निर्णायक बन बैठे हैं। यदि यह भूल हो गई तो राष्ट्रभक्त राष्ट्र को संवारते रहेंगे और राजनीतिक माफिया अपने हित में उसे नष्ट करते रहेंगे। कविता इस देश के साथ ऐसा नहीं होने देना चाहती। वह उस

राष्ट्र रूपी वृक्ष को नहीं कटने देगी जिसे इस देश की जनता ने बड़े परिश्रम और संकल्प से बड़ा किया है-

'मरेंगे और मारेंगे मगर कटने नहीं देंगे
कि बिरवा देश का हमने बड़े मंन से लगाया है।'

(देवराज, तेवरी)

राष्ट्र निर्माण के सामने एक बड़ी चुनौती अँध राष्ट्र-भक्ति की भी है। 'अंध राष्ट्रभक्ति, अविवेक और आवेश पर आधारित होती है। यह व्यक्ति के मन में राष्ट्र के प्रति उन्माद की स्थिति का वह प्रेम है जो प्राय: निराशाजन्य होता है अथवा युद्ध की परिस्थिति में पैदा होता है। इसमें व्यक्ति अपने वर्तमान से पलायन को छिपाने के लिए वह अविश्वसनीय प्राचीन गौरव से चिपका रहता है। अँध राष्ट्र-भक्ति की यह विशेषता होती है कि ऊपर से देखने पर वह राष्ट्र के प्रति असीम प्रेम को प्रतिबिंबित करती है, परंतु यह प्रेम या तो निष्क्रिय होता है, या फिर घृणाजनित। सामान्य रूप से इसे ही राष्ट्रीय चेतना भी समझ लिया जाता है जबकि मौलिक रूप से यह राष्ट्रीय चेतना से बहुत दूर होता है। सांप्रदायिक दंगों से लेकर आतंक और युद्ध की राजनीति के मूल में प्राय: अँध राष्ट्रभक्ति विद्यमान होती है। इसके विपरीत स्वस्थ राष्ट्रीयता इस पशुधर्म का समर्थन नहीं करती। वह शांति और युद्ध दोनों कालों में पनपती है, लेकिन कभी भी युद्ध की पक्षधर नहीं होती। हाँ, जब राष्ट्र की संप्रभुता को खतरा पैदा हो जाता है, तब युद्ध को अनिवार्य बुराई के रूप में स्वीकार करके उसे हथियार उठाना पड़ता है। यही कारण है कि एक ओर तो कवि यह कहता है कि -

'युद्ध और राष्ट्रीयता दोनों के दोनों राजनीति हैं।
जब एक देश किसी दूसरे देश पर अधिकार जमाता है,
तब गुलाम देश के लोगों में शासक देश के विरूद्ध
घृणा का ज्वार उमड़ता है।
घृणा के इसी ज्वार में राष्ट्रीयता उत्पन्न होती है।
राष्ट्रीयता लगभग पशुधर्म है।'
(रामधारी सिंह 'दिनकर' शुद्ध कविता की खोज)।

वहीं दूसरी ओर कवि राष्ट्रीय संकट की घड़ी में निर्णायक युद्ध का आह्वान करते हुए चेतावनी देता है कि -

'समय शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,

जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।'

यह बोध हर भीतरी और बाहरी संकट के समय देश को एकजुट होकर शत्रु से संघर्ष के लिए प्रेरित करता है–

'लौटें
भले निहत्थे होकर,
बिन पाँवों के
भले लड़ें हम,
शत्रु पक्ष के अभिमुख होकर
विजय
शीर्ष पर घर लौटेंगे।'

(कविता वाचक्नवी, हैं सरहदें बुला रही)

लेकिन यह बोध संकीर्णता से ग्रस्त नहीं है इसलिए इसमें उत्साह है, घृणा नहीं। हमारी कविता उस राष्ट्रीयता की अवधारणा को स्वीकार करती है जिसमें किसी अन्य राष्ट्र की राष्ट्रीयता भी उतनी ही सम्मानीय है जितनी हमारी अपनी राष्ट्रीयता। लेकिन आज के कवि को अफसोस है कि सब राष्ट्र ऐसा नहीं सोचते–

'सरहद के
इस पार की चिड़िया
फुदकती हुई
जा बैठती है
उस पार के
वृक्ष के डाल पर
और मुक्त मन से
चहकने लगती है
वृक्ष के पक्षी
हमला नहीं करते
उस पर कभी
अपितु गाने लगते हैं
मिलाकर उसके स्वर में स्वर
पर मैंने
अखबार में
पढ़ा था

हाँ, यह तो मुझे
याद नहीं
कि वह बूढ़ा
अपने पोते का
कंधा थामे
इधर बढ़ा था
या उधर बढ़ा था
पर फोटों में
पोते सहित
सरहद पर
बिछा पड़ा था।'

(रामस्वरूप किसान, सरहद के इस पार: उस पार समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2004)

इस संदर्भ में आवश्यकता पड़ती है राष्ट्र की भावात्मक परिभाषा की, शेरजंग गर्ग के शब्दों में-

ग्राम, नगर या कुछ लोगों का नाम नहीं होता है देश,
संसद, सड़कों, आयोगों का नाम नहीं होता है देश।
देश नहीं होता है केवल सीमाओं से घिरा मकान,
देश नहीं होता है कोई सजी हुई ऊँची दुकान।
देश नहीं क्लब जिसमें बैठे करते रहें सदा हम मौज,
देश नहीं केवल बँदूकें देश नहीं होता है फौज।
जहाँ प्रेम के दीपक जलते, वहाँ हुआ करता है देश
जहाँ इरादे नहीं बदलते, वहीं हुआ करता है देश।

अध्याय : पाँच
विविधा

राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव

डॉ. विद्या शर्मा

यूनानो-मिस्रे रूमाँ सब मिट गए जहाँ से
अब तक मगर है बाकी नामों निशां हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमा हमारा,
इकबाल कोई मरहम अपना नहीं जहाँ में
मालूम क्या किसी को दर्दे-निहां हमारा।

उर्दू के दार्शनिक कवि डॉ. मुहम्मद इकबाल अपनी नवीन चिंतन शक्ति, भारतीय-पाश्चात्य दर्शन की समन्वय भावना, राष्ट्रीयता, अंतरराष्ट्रीयता, मानव जाति की आत्म-स्वतंत्रता आदि के कारण चर्चित रहे हैं। इकबाल की राष्ट्रीयता 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' में व्यक्त हुई है यह इकबाल की राष्ट्रभक्ति नहीं, कोटि-कोटि राष्ट्रभक्तों के कंठ की ही नहीं उनकी आत्मा से निकली हुई पुकार है। यह गान प्रत्येक भारतीयों को पुलकित करता है और करता रहेगा। रामप्रसाद 'विस्मिल' जो 19 दिसंबर 1927 को फाँसी पर लटका दिए गए उनके अंतिम शब्द थे-'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हूँ। उनकी सरफरोशी की तमन्ना पूरी हुई। उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत को ललकारा-

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।

फाँसी से प्यार करने वालों भारत माता के दुलारों ने अपने प्राणों का बलिदान देकर हमें आजादी दिलवाई है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण का भेदभाव भुलाकर, भयंकर यातना सहकर राष्ट्रीय एकता की डोर मजबूत की थी।

राष्ट्रीय एकता राजनैतिक शब्द है। इसका संबंध राष्ट्र के इतिहास से है। प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास भिन्न-भिन्न होता है। अत: प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता की कल्पना, राष्ट्रीयता की व्याख्या या राष्ट्रीयता की रूपरेखा भिन्न-भिन्न होगी। किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक मानदंडों को भाव रूप

में किसी राष्ट्र विशेष के नागरिकों में जगाए रखने का काम करती है। इस प्रकार राष्ट्रीय मानदंडों की रक्षा हेतु राजनैतिक शक्ति का सहारा लेकर एक होते हैं, इस आधार पर युद्ध होते हैं और ऐसे समय में राष्ट्रीयता की व्याख्या सामयिक होती है। युद्ध और संघर्ष को टालने का प्रयत्न जब-जब विश्व स्तर पर होता है तो संघर्ष की संभावना कम होती है और विश्व राष्ट्रीय स्तर पर एकता की बात स्वीकार करता है।

विश्व की एकता में राष्ट्रीय तत्व बाधक सिद्ध होते हैं चाहे विश्व के साहित्यिक मंच पर साहित्यकार एक हो जाएँ, किंतु जहाँ सीमा रेखा और राष्ट्र की अस्मिता का प्रश्न उठता है वहाँ तलवारें खींच जाती हैं। हिंदुस्तान और पाकिस्तान का उदाहरण इस बात की पुष्टि करता है। साम्यवाद और पूंजीवाद भी ऐसे ही बाधक तत्व हैं जिससे विश्व को छुटकारा नहीं मिलता। राष्ट्रीयता के संदर्भ में अर्थ बदलते रहते हैं। बंगलादेश-मुक्ति युद्ध बंगलादेश का निर्माण हो या चीन-भारत अथवा भारत-पाकिस्तान युद्ध अथवा कारगिल-युद्ध आधुनिक संदर्भ में अटल बिहारी बाजपेयी जी की पाकिस्तान यात्रा और भारत-पाक क्रिकेट मैच के बाद राष्ट्रीयता की धारणा में बदलाव आए हैं। धर्म किसी समय सत्ता का आधार रहा है, किंतु आज धर्म के हाथों से सत्ता छीनी जा रही हैं दलित आंदोलन इस बात का गवाह है। अँध-धार्मिकता का विरोध हो रहा है। राष्ट्रीय धर्म का नया रूप सामने आ रहा है। यह धर्म राजनैतिक है। धर्म को राजनीति से अलग करना जनता का धर्म बन गया है।

एक राष्ट्र में आज अनेक धर्म के लोग रहते हैं। सब धर्मो की समाज व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। उनकी यह भिन्नता विशेष रूप से आचार, व्यवहार, भाषा तथा जीव-जगत ईश्वर संबंधी मान्यताओं को लेकर है। इस भिन्नता में सामान्य तत्व भी हैं, जो सारी मानव जाति के लिए समान हैं। इन सामान्य तत्वों के आधार पर ही सब धर्मो के लोग मिलजुलकर रहते हैं। विवाद उस समय पैदा होता है जब एक धर्म के लोग दूसरे धर्म को हेय दृष्टि से देखते हैं। देखते ही नहीं, दूसरों को सहन करने के लिए तैयार नहीं होते। यह स्थिति धर्मोन्माद की है। राम़जन्म भूमि और बाबरी मस्जिद का विवाद राजनैतिक समर्थन पाकर और अधिक भड़का है। धर्म का शासन जब राजनीति पर भारी पड़ता है तो सत्ताधारी शासन को स्थिर बनाए रखने के प्रयत्न में डगमगाने लगते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता और धर्म सामान्य रूप से व्यक्ति के नैतिक मूल्यों को प्रभावित करते हैं।

जब राष्ट्र पर बाह्य रूप से आक्रमण होता है तो राष्ट्रीय मूल्य राष्ट्र से अधिक सजग होते हैं। जन-जीवन में उत्सर्ग और त्याग की भावना जगाई जाती है। इस स्थिति में राष्ट्रीयता को नैतिक मान मिलता है। धार्मिक भेद-भाव भूलकर संपूर्ण राष्ट्र एकता की अलख जगाता है। स्थायी रूप से नैतिक मूल्यों की प्राप्ति धर्म से ही होती है। सरकार की शक्ति वैज्ञानिक साधनों की संघबद्ध शक्ति होती है। इस शक्ति के बल पर वह अपनी नीति मनवाने का प्रयत्न भी करती है, किंतु जनता का मनोबल यदि ऊँचा हो तो सरकार बदल जाती है।

आदिकाल से ही भारतीय मनीषियों ने राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव पर बल दिया है। इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने वाले वीरों का वीरता का गुणगान करने वाले, मातृभूमि पर मर मिटने वाले अपनी संस्कृति और सभ्यता का यशोगान करने वाले, आत्माभिमान जगाने वाले संत महात्माओं ने महान साहित्य की रचना की। आदिकाल वीर गाथाओं से भरा पड़ा है जो हमारे वीरों ने अपने लहू से काल के भाल पर अपनी वीरता, राष्ट्र भक्ति और त्याग, बलिदान की कहानी अंकित की।

साहित्य कोष के अनुसार :

'राष्ट्रीय साहित्य के अंतर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है जो किसी देश की जातीय विशेषताओं का परिचायक हो। इस प्रकार के साहित्य में जाति का समस्त रागात्मक स्वरूप उसके उत्थान-पतन आदि का विवरण आ सकता है उसका होना एक प्रकार से अनिवार्य है'।

(हिंदी साहित्य कोष प्रथम संस्करण पृ. 653)

राष्ट्रीय उत्थान की प्रेरणा, देश प्रेम, देश की गरिमा का वर्णन श्रद्धा-भक्ति मातृभूमि की वंदना के पीछे कवि का मूल उद्देश्य कर्म की प्रेरणा ही था, क्योंकि कर्म समाज का पोषक तत्व है। इस प्रकार भौगोलिक एकता की अनुभूति राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक में थी। देश के निवासी भारत को अपना माल एवं स्वयं को अपनी संतान मानते आए हैं। विष्णु पुराण का निम्नलिखित श्लोक इस बात की पुष्टि करता है-

उत्तरं यत समुदस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षम् तद् भारतम् नाम, भारती तत्र सन्तति:।।

अर्थात 'जो समुद्र के उत्तर और हिमालय पर्वत के दक्षिण में स्थित है, उस देश का नाम भारतवर्ष है और वहाँ के निवासी भारत की

संतान हैं।

आदिगुरुओं ने भ्रमण और उपदेशों द्वारा सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता हेतु निरंतर प्रयास किया है। आदि-शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभाचार्य, चैतन्य निम्बार्क, माधवाचार्य, कबीर, तुलसी, नानक, विवेकानंद, दयानंद व राजा राममोहन राय जैसे विचारकों ने अपने क्रिया-कलापों, उपदेशों द्वारा भारत-भूमि में जन-जागरण का शंखनाद किया है।

स्वत्व की रक्षा हेतु एवं अन्याय तथा अत्याचार के विरूद्ध आदिकाल से ही इतने संग्राम हुए हैं जितने विश्व के किसी अन्य देशों में नहीं हुए हैं। महाभारत में श्री कृष्ण ने रथ की रास पकड़ ली। श्रीराम ने अमोघ वाण लेकर वन-वन विचरण करते हुए समुद्र पार कर अन्यायी रावण का वध किया और वीरता राष्ट्रीयता का पर्याय बन गई और विभीषण का राज्याभिषेक सद्भाव का उदात्त उदाहरण है।

छोटे-छोटे भूखण्ड के स्वामी पूरे राष्ट्र के प्रतीक बन गए। राष्ट्र नायक पृथ्वीराज चौहान, महाराण प्रताप, छत्रसाल, लक्ष्मीबाई और वीर शिवाजी का नाम उल्लेखनीय है। कालांतर में बिट्रिश सम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया में राष्ट्रीयता ने विस्तृत और व्यापक रूप ग्रहण किया। निरंतर प्रहार करते हुए अपना आधि पत्य स्थापित किया। ईस्ट इंडिया कंपनी सन् 1600 ई. में व्यापार करने के बहाने आई और धीरे-धीरे देश पर शासन चलाने का कुचक्र चलाना आरंभ किया। 1757 ई. में प्लासी का युद्ध और उसके पश्चात् सरकार के विरूद्ध विद्रोह के स्वरों में राष्ट्रीय एकता उभर कर सामने आई, कभी बंगाल में कभी बिहार में और कभी असम में सिपाहियों द्वारा, श्रमिकों द्वारा और किसानों द्वारा आंदोलन प्रारंभी किये गए। सन् 1806 से 1814 तक विद्रोह होते रहे और दमन चक्र चलता रहा। सन् 1857 में स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम मंगल पाण्डे, नाना साहेब, झांसीवाली रानी, तात्या टोपे, बाबू कुँवर सिंह आदि पराक्रमी देशभक्तों के नेतृत्व में लड़ा गया। तत्कालीन कवियों ने राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में योग दिया। 1857 में क्रांतिकारियों ने सरकार को ललकारते हुए यह झण्डा गीत गाया-

'हम हैं इसके मालिक हिंदुस्तां हमारा।
यह है आजादी का झण्डा, इसे सलाम हमारा।।

बंकिम चंद्र चटर्जी के 'वंदे भारतम्' ने जन-जन में नवीन चेतना जाग्रत की। 1874 में रचा गया गीत नव जागरण का जय घोष बन गया

वंदे मातरम्।
सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम्।।

भारतेन्दु की आत्मा कराह उठी-भये अंध पंगु सनदीन हीन बिलखाई। हा! हा! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

टैगोर ने अत्याचार के विरूद्ध खड़ा होना सिखाया-

'उठो अपने प्राणों के कलुष को आग में जला दो,
जो होना होगा, होगा।'

1905 में मोहनदास करमचंद गाँधी अफ्रिका से भारत आए और सन् 1906 में कलकत्ता अधिवेशन में तिलक ने कहा- स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

भगत सिंह-

उसे फिक्र है हर दम नया वर्जे जफा क्या है।
हमें यह शौक देखें तो सितम की इंतहा क्या है।।

माखन लाल चतुर्वेदी जी अपनी अभिलाषा व्यक्त की-

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।

सोहन लाल द्विवेदी के स्वरों में सारा देश गुन-गुना रहा था

वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
वंदिनी माँ को न भूले, राग में अब मत झूलो।
हो जहाँ बलि शीश अगणित, एक सिरा मेरा मिला लो।

इतिहास साक्षी है कि जब भारत माता मातृभूमि की ओर किसी ने आँखें तरेरने का दुस्साहस किया है तब-तब वीर प्रसूता भारत माँ की संतानों ने अपने शौर्य व पराक्रम से उनका डटकर मुकाबला किया है। पृथ्वीराज चौहान, चद्रवरदाई- जो शस्त्र और शास्त्र कलम और तलवार का एक साथ प्रयोग करते थे-जीति प्रथिराज की, पकहि साह ले संग, दिल्ली दिसी मारगि लगौ, उतहि घाट गिर गंग।

मध्य युग से आधुनिक युग तक राष्ट्रीय एकता कहीं भी क्षीण होकर लुप्त नहीं हुई। आजादी के पश्चात् और भारत पाक बँटवारे से लेकर आज तक राष्ट्रीय एकता अग्नि स्नान कर भारतीयों के हृदय में सिंहासन पर विराजमान रही है। सांप्रदायिक सद्भाव की कल्पना का भाव या

विचारधारा के रूप में इसका पदार्पण नि:संदेह आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के बौद्धिक शिशु रूप में हुआ। पाश्चात्य औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप निर्मित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक विचारधारा के रूप में जन्मी यह भावना मुख्यत: तीन प्रवृत्तियों को जन्म देती है–धार्मिक सुधार, औद्योगिकरण तथा जनवादी क्रांति। भारतीय इतिहास के क्रमिक विकास की प्रक्रिया में इतिहास के विभिन्न मोड़ों, कालों और दशकों में धर्मनिरपेक्षता के कुछ तत्व हमेशा विराजमान रहे हैं।

सांप्रदायिकता विदेशी आक्रमण से ज्यादा घातक है। महात्मा गाँधी की हत्या सांप्रदायिकता की पराकाष्ठा है। यह एक संवेदनशील तरल विषय है। भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता ने न केवल उग्र रूप धारण कर लिया है, बल्कि यह भारतीय राष्ट्र के हर जीवन तंतु को प्रभावित कर रही है। आज देश की एकता और अखंडता के लिए यह एक चुनौती बन गई है। इस परिप्रेक्ष्य में इसके मूल आधारों का पता लगाना और भारतीय राष्ट्रीय जीवन से हमेशा के लिए खत्म करना एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य बन गया है।

'भारत आज एक मोड़ पर खड़ा है जहाँ लोगों की एकता, साझी संस्कृति, भाईचारा, सहनशीलता, सद्भावना एवं सहअस्तित्व जैसी सुखद परंपरायें ही टूटती जा रही हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था को एक भयंकर चुनौती तथा खतरा उत्पन्न हो गया है।'

वास्तव में भारत में सांप्रदायिक तनाव और धर्मांधतापूर्ण झगड़ों के लिए जमीन तैयार की गई है। उसे सांप्रदायिक मनोवृत्तिवाले इतिहासकारों, राजनेताओं आदि ने तैयार की है तथा उस पर सांप्रदायवाद की ऐसी फसल तैयार की है जिसकी कटाई आज भी स्वार्थो द्वारा की जाती है। आज देश में राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भावना की आवश्यकता है, क्योंकि सद्भावना के मूल में सद्वृत्ति, सत्संकल्प, सदिच्छा और मानवीय करुणा निहित है। इसके लिए व्यक्ति का परिष्कृत हृदय तथा उदात्त चरित्र का संपन्न होना अपेक्षित है। किसी राष्ट्र विशेष के बहुसंख्यक जन सद्गुण संपन्न हों, उदार चरित्र से विभूषित हों, करुणा कलित हृदय से द्रवीभूत चित्तवाले हों, तब उस देश का हृदय राष्ट्रीय सद्भावना से सुसंपन्न होगा। पर दुख कातरता से सद्हृदय प्राणी भरा रहता है। आदि कवि बाल्मीकि क्रौंच वध से व्यथित हो उठे थे और श्लोक उनके हृदय को प्रभावित करते हुए फूट पड़ा था। भवभूति ने 'एको रस: करुणएव' कहा है।

मध्ययुगीन भक्ति काव्य राष्ट्रीय सद्भावना से भरा है। जायसी की प्रेम भावना संत कबीर के दोहों में जीव वेदना के रूप में प्रगट हुई है। तुलसी का रामचरित मानस सद्वृत्ति जगाने की प्रक्रिया है। सूरसागर में सूरदास ने सद्वृत्तियों को उजागर किया है। इसलिए भारतीय साहित्यकारों ने 'स+हिताय' कहा है। विश्वः श्रेयः का तात्पर्य यही है। भारतीय धर्म में सद्भावना धर्म की पृष्ठभूमि स्पष्ट की गई है। मनुस्मृति में कहा गया हैं-

घृतिः क्षमा दयो....स्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः
घीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्।

घृति 'धैर्यसाहसे लक्ष्मी', क्षमा वीरस्य भूषणम्, जितेन्द्रिय, चोरी न करना, संग्रह न करना। यही राष्ट्रीय सद्भावना है त्याग और भोग की मीमांसा में व्यक्ति के लिए समाज और समाज के लिए व्यक्ति चोरी न करे। आंतरिक और बाह्य शुद्धि अपेक्षित है। इंद्रिय निग्रह पर बल दिया गया है। नास्ति विद्या समंचक्षु विद्या से परम सुख की प्राप्ति होती है। विद्या विनय से शोभा पाती है। सत्य की सदैव विजय होती है एवं क्रोध आत्महानि का कारण बनता है। मानव, मानव की रक्षा करे मानव धर्म का मूलमंत्र है। आचरण की पवित्रता, धर्म की रक्षा करने में ही अपनी रक्षा है। सर्वे भद्राणि सुखिनः भवन्तु सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिय दुःख भाव भवेत। इस प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति समष्टि का अंग बन जाता है। राष्ट्रीय सद्भावना का मूलाधार देश और उसकी एकता है। राष्ट्रीय एकता में सांप्रदायिक सद्भावना का समावेश कर व्यक्ति उदार चरित हो, विश्व नीड़ का पंछी होकर सत्य शांति, अहिंसा, स्वतंत्रता तथा सद्भावना का पंछी बन जाता है। तन-मन-धन से मुक्त जीवन होकर समस्त प्राणीकोटि के कल्याण का मार्गदर्शक बन जाता है। राष्ट्र का कल्याण कर जाता है।

राष्ट्रीयता और नागरिकों का कर्त्तव्य-बोध

डॉ. शरद नारायण खरे

अतीत के पृष्ठ साक्षी हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही राष्ट्रहितों को सर्वोपरि महत्व देने की परंपरा चली आई है। भारतीय संस्कार भी देशभक्ति के निर्वाह की ही बात करते हैं। इसी का प्रतिफल है कि आर्यावर्त चहुँमुखी प्रगति कर सका तथा सृजनात्मक उपलब्धियों को हस्तगत करने में सफल हो सका।

इतिहास साक्षी है कि भारतीयों ने सदैव निज स्वार्थों का परित्याग करके राष्ट्रीयता के पावन भावों को धारण किया और आंतरिक एकता, समानता, सौहार्द व सद्भाव में बंधकर आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक व अन्यान्य सांस्कृतिक सोपानों की अभिप्राप्ति हेतु प्रयास किया। तभी तो भारत 'सोने की चिड़िया' बन सका और विश्व गुरु कहलाने का गौरव हस्तगत कर सका।

यथार्थ यही है कि राष्ट्रीय विकास हेतु राष्ट्र के नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावनाओं का आप्लावन होना अपरिहार्य होता है। स्वतंत्रताकाल में निहित स्वार्थों का तिरोहन और राष्ट्रीय भावों का व्यावहारिक अधिग्रहण ही अँग्रेजों को देश छोड़ने को विवश करने वाला प्रमुख कारक था। वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना जहाँ हमें आंतरिक एकीकरण सूत्र में आबद्ध कर देती है, वहीं वह हमें व्यक्तिगत, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक व वर्गीय संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर राष्ट्रीय-विकास के परिप्रेक्ष्य में कार्य करने का संदेश भी प्रदान करती है।

यह वास्तविकता है कि आंतरिक संपन्नता, समृद्धि, कलात्मक उत्थान, आर्थिक पुनर्रचना, शांति, वैज्ञानिक-विकास व साहित्यिक प्रगति हेतु नागरिकों में कर्त्तव्य-बोध का होना अपरिहार्य होता है। और सर्वप्रथम कर्त्तव्य-बोध होता है राष्ट्रीयता की भावनाओं का होना। इंग्लैंड, जर्मनी, जापान जैसे विकसित राष्ट्रों के विकास के मूल में वहाँ के नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावनाओं की विद्यमानता ही रही है। यह हकीकत है कि आज तक न तो कोई भी राष्ट्र बिना राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास की ऊँचाईयों को स्पर्श कर सका है, और न कभी कर सकेगा।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' को वर्तमान में हम राष्ट्रीयता के श्रेष्ठ संदेश के समतुल्य स्वीकार कर सकते हैं। राष्ट्रहित के

परिप्रेक्ष्य में कार्य करना ही कर्त्तव्यबोध है। जिस व्यक्ति में कर्त्तव्य-बोध होता है वह राष्ट्रीयता की पावन भावना को धारण कर ही कार्य करता है और तभी राष्ट्र की प्रगति फलीभूत होती है।

राष्ट्रीयता का मूल सार है- निहित स्वार्थो से ऊपर उठकर, संकीर्ण मानसिकता का त्याग करते हुए केवल राष्ट्रीय कल्याण के उद्देश्य से कार्य करने की प्रवृत्ति और विचारधारा। इसे हम राष्ट्रप्रेम का पर्याय भी व्याख्यायित कर सकते हैं। महात्मा गाँधी राष्ट्रीयता के साकार रूप थे। समस्त सुखों का परित्याग करके एक लंगोटी लगाकर आखिर वे किस जज्बों को लेकर आजादी के महासमर में कूद पड़े थे। वस्तुतः यह वही जज्बा है जो हमें राष्ट्रहित हेतु समर्पण, त्याग और शहादत हेतु शक्ति, आत्मबल व साहस प्रदान करता है। सुभाष चंद्र बोस, भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद आदि ने जो कुछ भी किया वह उनका राष्ट्रीयता की दिशा में कर्त्तव्यबोध का ही जाज्वल्य दृष्टांत स्वीकार किया जाएगा। इसलिए यह सहज की कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता की भावनाओं की अनिवार्यता, प्रासंगिकता व उपादेयता अति महत्वपूर्ण है।

यदि किसी राष्ट्र के नागरिक दायित्व बोध से च्यूत होकर, अराष्ट्रीय बनकर स्वार्थपूर्ण आचरण करने लगें, अनैतिक व बेईमान होकर राष्ट्र-कल्याण की अवहेलना करने लगें, निजी-खातिर असांस्कृतिक-अपराधिक व अश्लील आचरण करने लगें, स्मगलिंग/कर-चोरी व काले धंधे करने लगे, सांप्रदायिकता, धर्म-असहिष्णुता एवं भाषाई-क्षेत्रीय संकीर्णताओं में जकड़कर राष्ट्रविरोधी कर्म करने लगें, शासकीय धन का गोलमान करने लगें/ गबन करने लगे, कर्त्तव्य-च्युत होकर अराष्ट्रीयता का प्रदर्शन करने लगें, तो स्वाभाविक है कि वह इस अराष्ट्रीय शैली के कारण राष्ट्र का विकास नकारात्मक रूप में दुष्प्रभावित होगा।

भारत तो वैसे भी विकासशील देश है और विकसित होने के लिए छटपटा रहा है, ऐसे में अगर उसके नागरिक अराष्ट्रीय होकर कर्त्तव्यविमुख हो जाएँगे, तो फिर राष्ट्र का विकास कैसे संभव है? अगर राजनेता, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और मंत्रीगण ही स्वार्थकेंद्रीत होकर रह जाएँगे, तो फिर क्या राष्ट्र विकास संभव है? कदापि नहीं।

वस्तुतः राष्ट्र तभी संभव है, जब गाँधी-नेहरू, पटेल, शास्त्री जैसे सिरमौर हों। ऐसे सिरमौर जो राष्ट्रीयता का साक्षात् स्वरूप हों। यदि अधिकारी अपने दायित्व बोध को विस्मृत कर कार्य करेगा, तो राष्ट्र के

पतन का मार्ग अवरूद्ध होना स्वाभाविक है। वस्तुतः राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के द्वारा ईमानदारी पूर्वक अपने कार्य को पूर्ण करना ही सबसे बड़ी राष्ट्रीयता है।

यथार्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र की संपन्नता का आधार तो वहाँ के नागरिकों का राष्ट्रीय चरित्र ही होता है। अगर हिटलर राष्ट्रीयता (उग्र ही सही) से प्रेरित न होता, तो क्या वह अपने वतन जर्मनी के अपमान की कालिमा को धोने के प्रयासों और मित्र राष्ट्रों को चुनौती देने की स्थिति में पहुँच सकता था? सच्चाई तो यही है कि चाहे हम किसान हों, मजदूर हों, व्यापारी हों, दुकानदार हों, उद्योगपति हों, कर्मचारी हों, अधिकारी हों, नेता हों, वकील हों, खिलाड़ी हों, कलाकार हों, लेखक हों, विद्यार्थी हों, कामकाजी महिला या गृहिणी हों, पर जब तक हम सभी निहित स्वार्थो से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की भावनाओं को अंतर्मन में धारण करके कर्म नहीं करेंगे, तब तक राष्ट्र का विकास होना हर्गिज भी संभव नहीं है। वास्तव में राष्ट्रीय प्रगति का आधार हमारी नीयत, प्रवृत्ति और कार्यशैली ही होती है। यदि हम राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करें, केवल स्वयं के लाभ पर ही ध्यान केंद्रीत करेंगे, अराष्ट्रीय तौर-तरीके अपनाएँगे, शासकीय पूँजी व धन को हड़पने की चेष्टा करेंगे, तो ऐसे में स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय प्रगति का मार्ग तो अवरूद्ध होगा ही।

हम कालाबाजारी करते हैं, मिलावट करते हैं, रिश्वतखोरी करते हैं, शासकीय कार्य समय में गप्पबाजी करते हैं, कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं, धर्म-जाति-वर्ग-भाषा के नाम पर झगड़ते हैं और दूसरों को भी झगड़ा करने हेतु गुमराह करते हैं, अनैतिक व असांस्कृतिक तरीकों से धनार्जन करते हैं, तो ऐसे में हम राष्ट्रविरोधी भी हुए और राष्ट्र के शत्रु भी। तब हमारा निंदनीय आचरण राष्ट्र को विकास के स्थान पर पतन की ओर धकेलने का कार्य करेगा।

जीने को तो पशु भी जीवन जीते हैं, और अपना भरण-पोषण कर लेते हैं। पर पशु और इंसान में यही मौलिक भिन्नता है कि पशु भावनाओं से रहित होता है, पर इंसान भावनाओं से आप्लावित। वैसे भी हम जिस राष्ट्र की मिट्टी में जन्मे हैं, और जहाँ का वायु, पानी और अन्न ग्रहण कर रहे हैं, उसके प्रति आभारी होना, उसे विकास हेतु चिंतन, मनन और व्यावहारिक कार्य करना हमारा प्रथम नैतिक दायित्व बन जाता है और इस नैतिक दायित्व अर्थात् कर्त्तव्य-बोध का हमें स्वप्न में भी विस्मरण नहीं करना

चाहिए।

हम जिस राष्ट्र के नागरिक हैं, वहाँ की नागरिकता भी हमें राष्ट्रीयता का कर्त्तव्यबोध कराती है। जब हमारा सर्वस्व राष्ट्र की देन है, तो हमारा भी उसके हित संवर्धन, हित-संरक्षण और हित-स्थापन के लिए विशिष्ट दायित्व बन जाता है। यदि हम निष्पक्षता के साथ गहन चिंतन, मनन, निरीक्षण, परीक्षण व विश्लेषण करें, तो हम स्वयं ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि,

'राष्ट्र प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित
जिसकी दिव्य रश्मियाँ पाकर,
मनुष्यता होती है विकसित।'

वस्तुतः हमारी अतर्रात्मा भी हमें राष्ट्रीयता का आभास कराती है। भारत तो वैसे भी एक निर्धन देश है, ऐसे में हमारा राष्ट्रीय दायित्व द्विगुणित हो जाता है। राष्ट्रीयता की भावनाओं को धारण कर हम स्वैच्छिक रूप में साक्षरता का प्रचार करें, और निरक्षरों को साक्षर बनाने हेतु कार्य करें, गाँवों में सफाई-स्वच्छता हेतु अभियान चलाएँ, पर्यावरण-सुधार हेतु प्रयास करें और स्वयं तो राष्ट्रीय हितों पर आघात करने वाला कोई कार्य करें ही नहीं, साथ ही अन्यों को भी न करने दें। हमारा ऐसा ही संकल्प और चेष्टा होनी चाहिए।

वर्तमान में भाई-भतीजावाद, मूल्यहीनता, असामाजिकता, अश्लीलता, सांप्रदायिकता, भाषाई संकीर्णता, क्षेत्रीय-संकीर्णता व द्वेष-कलह का परिवेश विद्यमान है। प्रकारांतर से उपरोक्त सभी अराष्ट्रीयता के प्रतीक हैं और राष्ट्र-विकास में बाधक प्रमुख तत्व हैं। यदि हम अध्यापक हैं, तो हमें पूर्ण लगन के साथ अध्यापन-दायित्व का निर्वाह करना है, यदि हम इंजीनियर हैं तो हमें राष्ट्र को तकनीकी दृष्टि से समृद्ध बनाने हेतु कार्य करना है, यदि हम लेखक हैं तो हमें कलम को राष्ट्रीय-स्याही में भिगोकर ही शब्द रचना करनी है, यदि हम खिलाड़ी हैं, तो हमें स्वयं के लिए नहीं, वरन् राष्ट्र के लिए खेलना है, और राष्ट्र की आन-बान-शान हेतु ही विजयश्री का वरण करना है। यदि हम वैज्ञानिक हैं, तो हमें सर्वप्रथम राष्ट्र प्रसिद्धि हेतु ही अनुसंधान कार्यों की सिद्धि करनी है, स्वयं की उपलब्धि हेतु नहीं। वैसे भी यह यथार्थ है कि राष्ट्र-विकास और राष्ट्र-हित हेतु कार्य करने से हमारा हित तो स्वमेव ही सध जाता है। आखिर विकसित राष्ट्र की

श्रेष्ठता का रसपान कौन करेगा? हम ही ना? वस्तुत: यदि हम पूर्ण लगन, ईमानदारी, परिश्रम, निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और न्याय-नीति के साथ कार्य करते हैं, तो यह स्वाभाविक रूप में राष्ट्रीयता की भावनाओं को अपने में समेट लेता है। वास्तव में ऊंपरी कमाई, अवैध साधन, गैर कानूनी तौर-तरीके, असंवैधानिक प्रवृत्तियाँ ये सब अराष्ट्रीयता और कर्त्तव्य-बोध च्युतता के ही दृष्टांत हैं, और इनसे स्वयं को असुरक्षित बचाकर ही व्यक्ति राष्ट्रीय बन सकता है। यह तो सत्य है कि राष्ट्रीय व्यक्ति को कुछ त्याग भी करना पड़ता है, पर तय है कि इससे उसे गहन अत्मिक संतोष की अनुभूति होती है। और जब उसके योगदान से राष्ट्र विकास के उच्च सोपानों को स्पर्श करता है, तब इससे उसे जो सुखानुभूति होती है, वह अवर्णनातीत है।

यथार्थ तो यह है कि राष्ट्रीय-विकास किसी चमत्कार का नाम नहीं है कि कोई जादुई लकड़ी घुमाई और विकास फलीभूत हो गया, अपितु राष्ट्र-विकास हमारे स्वस्थ क्रियाकलापों और सकारात्मक प्रयासों का सुपरिणाम होता है। इसलिए तो कथन है कि 'राष्ट्र का भविष्य उसके नागरिकों के कर्त्तव्य-बोध पर निर्भर करता है।'

द्वितीय विश्व युद्ध में हुई जर्मनी की भारी विनाशलीला के संहार को वहाँ के नागरिकों के सघन प्रयासों ने ही संभाला। जर्मनों के दायित्व बोध से अनुप्राणित राष्ट्रीयता की भावनाओं ने राष्ट्रीय विकास का ऐसा चमत्कार संपन्न कर दिखाया कि वर्तमान में आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक दृष्टि से जर्मनी विश्व के प्रथम श्रेणी के विकसित राष्ट्रों की कतार में खड़ा हुआ है। यह तो सत्य है कि शरीर के स्वस्थ विकास हेतु उसे समस्त अंगों का भलीभांति कार्य करना अपरिहार्य होता है। ठीक इसी प्रकार से राष्ट्रीय विकास हेतु उसे (राष्ट्र के) अवयवों अर्थात् नागरिकों को राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में कार्य-निष्पादन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। यदि खिलाड़ी केवल स्वयं के लिए ही खेलें, नेता केवल स्वयं के लिए ही राजनीति करें, वैज्ञानिक केवल स्वयं के लिए ही आविष्कार करें, कलाकार केवल स्वयं के लिए ही सृजन करें, उद्योगपति-व्यापारी केवल स्वयं के हितों को ध्यान में रखते हुए ही धनार्जन करें, तो फिर राष्ट्र के लिए कौन सोचेगा? और राष्ट्र का विकास कैसे संभव होगा? वस्तुत: स्वयं के हितों पर ध्यानकेंद्रण व चिंतन निंदनीय नहीं है, पर केवल स्वयं के हितों तक सीमित रहना अवश्य निंदनीय/भर्त्सनीय है और यह सोच लांछनीय तब बन जाता है

जब हम राष्ट्रीय हितों को आघात पहुँचाकर, राष्ट्र-विकास को दुष्प्रभावित करके स्वयं के हितों को आघात पहुँचाकर, राष्ट्र के विकास को दुष्प्रभावित करके स्वयं के हितों की पूर्ति करते हैं। पर वर्तमान में विडंबना का विषय तो यह है कि अधिकांश लोग इस समय सरकार को चूना लगाकर स्वयं का उल्लू सीधा करने में लगे हैं। नौकरशाही के कारनामों व राजनेताओं की करनी का राष्ट्र विकास पर कोई कम नकारात्मक प्रभाव अंकित नहीं हो रहा है।

यह विडंबनापूर्ण स्थिति है कि हम यह सहज स्वाभाविक तथ्य विस्मृत कर बैठे हैं कि राष्ट्र के विकास पर ही हमारा विकास अवलंबित है और राष्ट्र के कल्याण में ही हमारा कल्याण निहित है, तथा राष्ट्र की सुरक्षा पर हमारी सुरक्षा निर्भर है। वस्तुत: हमारा व्यक्तिगत कल्याण एवं राष्ट्रीय कल्याण ये आपस में अन्योन्याश्रित हैं। इसी प्रकार हमारे विकास (नागरिक विकास) व राष्ट्रीय विकास में समानुपाती का संबंध है। हम जिस डाली पर बैठे हैं, उस डाली के अस्तित्व पर ही हमारा अस्तित्व निर्भर है। यह हमारा अविवेक ही माना जाएगा जो कि हम स्वहित और राष्ट्रीय हितों को पृथक समझते हैं।

जब स्वातंत्र्य संघर्ष में हमारे देशभक्त पूर्वज जुटे तो देश स्वतंत्र हुआ। आखिर इस प्राप्त स्वतंत्रता का उपभोग कौन कर रहा है? हम ही ना। प्रश्न यह है कि राष्ट्र आखिर क्या है? तो उत्तर प्राप्त होगा नागरिकों का समूह। अतएव राष्ट्र विकास का अर्थ सहजता में ही स्पष्ट हो जाता है, जो है 'नागरिकों का विकास'। अतएव राष्ट्रीय विकास को स्व विकास स्वीकार कर हमें राष्ट्रीयता के भावों को धारण करने का कर्त्तव्य -'बोध निभाना है और राष्ट्र-विकास के समानांतर सक्रियता, कर्मठता व व्यावहारिक क्रियाशीलता का प्रदर्शन करना है।

इसलिए कहा गया है कि राष्ट्रीयता उस पुण्य सलिला भागीरथी के समान है जिसमें स्नान करने से नागरिकों की अंतर्रात्मा पवित्र हो जाती है और अंतर्मन प्रसन्न। यदि हम कर्त्तव्य-बोध से अनुप्राणित हैं तो कभी भी हम धार्मिक विवादों/फसादों/सांप्रदायिकता के अविवेकपूर्ण कुचक्रों में नहीं फँसेंगे ना ही अलगाववाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद व अन्यान्य संकीर्णताओं को शिरोधार्य करेंगे।

भारतीय संस्कृति तो वैसे भी 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' सूत्र पर विश्वास करती है, 'वसुधैव-कुटुम्बकमृ' का संदेश भी हमें

राष्ट्रीयता, एकता, सौहार्द, भ्रातृत्व व सद्भाव का बोध कराता है। चंद्रगुप्त, चाणक्य, अशोक, महाराणा प्रताप, दुर्गावती, शिवाजी, लक्ष्मीबाई आदि का कर्त्तव्य-बोध राष्ट्रीयता से लबालब था, इसीलिए ही वे राष्ट्रभक्ति के साकार रूप सिद्ध हो सके। राष्ट्र की सुरक्षा, शांति, समृद्धि हेतु राष्ट्रीयता के आवेग का होना गहन आवश्यक है।

हम परतंत्र इसीलिए हुए थे, क्योंकि हम राष्ट्रीयता से विमुख होकर अपने कर्त्तव्यों को विस्मृत कर बैठे थे। भारत जैसा संपन्न और सोने की चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध राष्ट आर्थिक दृष्टि से दुर्बल इसलिए हुआ था, क्योंकि हम अपने कर्त्तव्यों को विस्मृत कर राष्ट्रीय भावों से दूर हटकर स्वार्थपूर्ण संकीर्णयुक्त गलियारों में भटकने लगे थे।

पर अब विवेक का तकाजा है और समय की माँग है कि हम अब राष्ट्रीयता की पावन भावना से आप्लावित होकर सदैव राष्ट्रीय विकास के परिप्रेक्ष्य में ही कार्य करें। बिना राष्ट्रीयता के न तो हमें अपने अपने कर्त्तव्य का सही बोध होगा और न ही हमारे कार्य राष्ट्रीय/संवैधानिक व देशहित की श्रेणी में आ पाएँगे। ऐसे में राष्ट्रीय हित स्वाभाविक रूप में दुष्प्रभावित होंगे।

यह यथार्थ है कि राष्ट्रीयता के अभाव में कभी भी राष्ट्र विकास संभव नहीं हो सकता है और राष्ट्र का विकास से वंचित रहना अर्थात् नागरिकों का विकास से वंचित रहना ही माना जाएगा। राष्ट्रीयता के अभाव में नागरिकों की शक्ति, ऊर्जा, क्षमता, प्रतिभा व चिंतन स्वार्थ व संकीर्णता की गंदी बस्ती तक ही सीमित होकर रह जाएगा। अतः हमारा दायित्व बोध हमें निर्देशित करता कि हमें भारतीय बनकर आचरण करना है, न कि हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई बनकरा हमें न पूर्व पश्चिम की संकीर्णता में घिरना है, न ही उत्तर-दक्षिण के मतभेदों को पोषित करना है। राष्ट्रीयता के संदर्भो में हमारा नागरिक कर्त्तव्य-बोध यही संदेश मुखरित करता है कि हमारा प्रत्येक कार्य देशहित से संबद्ध होना चाहिए।

राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव

डॉ. इंदिरा अग्रवाल

'राष्ट्र' अदृश्यमान विलक्षण तत्व का नाम है औरं देश दृश्यमान। जबकि दोनों का प्रयोग समानार्थी शब्दों के रूप में किया जाता है। दोनों में सूक्ष्म अंतर है और दोनों एक दूसरे पर आश्रित। राष्ट्र सूर्य है, देश उसकी रश्मि, राष्ट्र समुद्र है तो देश उसकी उर्मि, राष्ट्र आत्मा तो देश शरीर। आत्मा की भांति राष्ट्र अदृश्य और शरीर की तरह देश दृश्यमान। शरीर के बिना आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं और आत्मा के बिना शरीर शव तथा त्याज्य।

'राष्ट्रीय एकता' की बात करने से पूर्व 'राष्ट्र' और इसके स्वरूप पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। राष्ट्र के लिए तीन तत्व अनिवार्य हैं-भूमि, जल और संस्कृति। हम सब यह जानते हैं कि राष्ट्र हवा से नहीं बनता उसके लिए एक निश्चित भू-भाग की आवश्यकता होती है। उन्नीस सौ सैंतालीस से पूर्व भारत एक राष्ट्र नहीं था। एक प्राकृतिक भूखंड था जिसे स्वार्थी तत्वों ने दो राज्यों में विभाजित कर दिया। यह उत्तर में हिमालय, दक्षिण में रामेश्वरम तथा पूर्व में बंगाल और असम से लेकर पश्चिम में द्वारिका तक व्याप्त है।

राष्ट्र का दूसरा प्रमुख अंग है- जन। राष्ट्र जनता से बनता है, केवल प्रकृति या पशु-पक्षियों से नहीं। भारत एक विशाल जनसंख्यावाला राष्ट्र है। हवा, जल, अन्य का सेवन, एक लंबे समय तक साथ-साथ रहने से निकटता का बोधत्व स्वाभाविक है। विभिन्न धर्म, जाति, विचारों को रखने पर भी भारतीय होने का तत्व राष्ट्रीयता का परिवर्तित स्वरूप है। राष्ट्र का तीसरा तत्व है-संस्कृति। संस्कृति और सभ्यता, समाज का परिमार्जित स्वरूप होता है। संस्कृति भी राष्ट्र को वैसे ही जीवन और उत्साह प्रदान करती है जैसे आत्मा शरीर को। देश की श्रेष्ठता उसकी संस्कृति में निहित है। भारतीय संस्कृति में आत्मसात का गुण उसकी सबसे बड़ी विशेषता, महान और उदात्तता है जो विश्व में उसे अलग स्थान दिलाती है। विभिन्न प्रांतों की भाषा, वेश-भूषा, खानपान, रहन-सहन, आचार-विचार, अलग अलग होते हुए भी हम सब एक हैं।

राष्ट्र के जनमानस में मातृभूमि के प्रति इसी एकत्व व ममत्व का भाव 'राष्ट्रीयता' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। कहीं 'जननी

जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि। का स्वर गूँजता है तो कहीं कवि की इच्छा में यही भाव मुखरित होता है-

'मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जायें वीर अनेक।'

यह मातृभूमि मेरी है। मैं उसकी संतान हूँ। यहाँ की रज में लोट-लोट कर, मैं बड़ा हुआ हूँ। इसके अंत में मेरी उदर पूर्ति होती है। उसकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसे विचारों व भावों की दृढ़ता, व्यक्ति को आत्म बलिदान के लिए प्रेरित करती है, राष्ट्रीयता जाग्रत करती है।

स्वतंत्रता से पहले भारत में राष्ट्र नाम की कोई चीज नहीं थी। संपूर्ण भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था और उसी भूखण्ड की रक्षा करने के लिए वहाँ के लोग अपना कर्त्तव्य व जीवन लक्ष्य समझते थे। आजादी के बाद हम एक राष्ट्र से जुड़ गये। सीमावर्ती देशों विशेषकर चीन और पाकिस्तान के खतरनाक आक्रमणों के बाद राष्ट्रीय एकता के विकास का महत्व और बढ़ गया। ऐसे प्रयास होने लगे जिससे एकता की संजीवनी राष्ट्रीयता को अमरत्व प्रदान कर दे। 1961 में राष्ट्रीय एकता सम्मेलन डॉ. सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में हुआ। एक समिति का गठन भी हुआ। राष्ट्रीय एकता को इस प्रकार परिभाषित किया गया-'राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सभी भारतीयों के हृदय में एकत्व की भावना, समान नागरिकता की अनुभूति और राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना का विकास किया जाता है।'

परंतु पिछले कुछ वर्षो से ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि इस राष्ट्रीय एकता को ग्रहण लग गया है। भारत में भारतीय नहीं बंगाली, गुजराती, मराठी, बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अधिक मिलने लगे हैं। राजनीति में तुष्टीकरण की नीति और अति स्वार्थ प्रवृत्ति से देश को गुलामी की राह पर ले जाने की कसम-सी खा ली है। बड़े संकुचित दायरे के घेरे में बाँध कर कुर्सी की खातिर अँग्रेजों की नीति 'फूट डालो और राज करो' को अपना महामृत्युंजय मंत्र बना लिया है। संपूर्ण देश जाति, भाषा, धर्म तथा क्षेत्र के खेल में बँट कर अपना मूल्याँकन संकीर्ण रूप से करने लगा है। इससे राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है और इस एकता को खंडित करने वाला प्रमुख तत्व है- सांप्रदायिकता।

प्रश्न उठता है- सांप्रदायिकता है क्या? भारत में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई तथा पारसी आदि अनेक संप्रदाय के लोग रहते हैं। ये विभिन्न संप्रदायों के लोग एक दूसरे के साथ समन्वय एवं समायोजन स्थापित नहीं कर पाते हैं। प्रत्येक संप्रदाय का अपने को श्रेष्ठ समझना तथा दूसरे संप्रदाय के प्रति हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या का भाव रखना ही सांप्रदायिकता के मूलभूत कारण हैं। हिंदू मुस्लिम संघर्ष तो ऐसे होता है जैसे दो राष्ट्रों के नागरिकों में युद्ध हो रहा हो। कुछ दिनों से तो इस मानसिकता ने रामजन्म भूमि और बाबरी मस्जिद प्रकरण के रूप में और भी संकीर्ण रूप ले लिया है। यह एक ऐसी बुराई है जिसने मानव के बीच अलगाव की खाई को अपेक्षाकृत और चौड़ा कर दिया है। आग में घी डालने का कार्य वर्तमान राजनीतिज्ञों ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। शतरंज के मुहरे बना, राजनीति की बिसात पर बिछा कर, स्वार्थ के पासे डालने में शकुनि को भी पीछे छोड़ दिया है। इसीलिए राष्ट्रीय एकता को पाँच मुख (जातीयता, प्रांतीयता, क्षेत्रीय़ता, भाषावाद और सांप्रदायिकता) वाले अजगर ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। सब दूर खड़े होकर देखते हैं। बचाता कोई नहीं। इस उन्माद में लोग एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। इंसान से जानवर बनकर भोले-भाले लोगों को अनाथ कर डालते हैं। सुहागिनों की माँग का सिंदूर पोंछ डालते हैं। बहिनों से भाइयों को छीन लेते हैं। माताओं की गोद सूनी कर देते हैं। मजहबी चोले को पहनकर जब ये निकलते हैं तो इन्हें सबका रंग एक सा ही दिखाई देता है। इस जुनून में, अँधे होकर कभी-कभी अपनों का ही रक्त बहा देते हैं। बाद में चाहे पश्चाताप और आत्मग्लानि के आवरण को आजीवन रिक्तता का अभाव ही क्यों न सहना पड़े। परंतु उस समय तो किसी को हलाल करना ही इनका पेशा होता है। पेशे और पद का नशा सोचने-समझने की बुद्धि का हरण कर लेता है इंसानियत मर जाती है, हैवानियत जी उठती है।

जबकि कोई भी धर्म, मजहब ऐसा नहीं सिखाता रामायण हो या कुरान शरीफ, या बाइबल, गुरु ग्रंथ साहब हो या तृप्तिका-धर्म अहिंसा प्रेम और सद्भावना का ही संदेश देते हैं। आवश्यकता है पवित्र ग्रंथों में निहित आदर्शो को संग्रह करने की, आचरण में उतारने की, दूसरों के दुख में सहयोग करने की। प्रेम का संदेश देने की और आपसी वैरभाव को दूर करने की। कहा भी गया है-

'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना

हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्तां हमारा'

सभी धर्मावलंबियों के बीच परस्पर स्नेह और भाईचारा ही सांप्रदायिक सद्भाव है। इसकी संजीवनी को जनता जनार्दन तक पहुँचाने की आवश्यकता है। हम सब का निर्माण एक ही भाँति पंचतत्व से होता है-'क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच तत्व मिल बन्यो शरीरा' - फिर भेद कैसा? सभी में एक रक्त, मांस-मज्जा है। जन्म का द्वार भी एक है। भेद सिर्फ सोच विचार का अथवा हमारे तुम्हारे स्वभाव का है। मृत्योपरांत विलीन भी सभी इसी भूमि में होते हैं फिर क्यों करते हैं संघर्ष? जब हम दूसरों को जीवित नहीं कर सकते तो फिर क्यों छीन लेते हैं इस उन्माद में दूसरों का जीवन। 'जैसे शाख से पत्ता मिट्टी में मिल जाता है' पुनः शाख पर लग सकता है उसी प्रकार हम सब का जीवन समाप्त हो जाता है तब परहित करते मानव जीवन जीना ऐसा अपना लक्ष्य क्यों न लिया जाये। हिंदू-मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई कुछ नहीं है, हम सर्वप्रथम मानव हैं और हमारा धर्म इंसानियत। ऐसी भावना-सांप्रदायिक सद्भावना है। इसके लिए आवश्यकता है- ममत्व, समत्व, भ्रातत्व के प्रचार प्रसार और दिलों से नफरत मिटाने की।

'हिंदू-मुस्लिम, सिक्ख-ईसाई, सभी यहाँ हैं भाई-भाई' का मंत्र फूंकने की। यह संभव है समाज सुधारकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों, मनीषी विद्वानों के सत्प्रयासों द्वारा। समय और आवश्यकता के अनुसार धारणाओं में परिवर्तन कर वे समस्त विवाद और आपस के वैमनस्य दूर कर, स्नेह और प्रेम की मंदाकिनी प्रवाहित करने की जिसमें अवगाहन कर इस समस्या का समाधान करने की, राजनीतिक द्वंद्वजाल के भ्रम में मानवीयता, राष्ट्रीयता को बचाने की, ताकि प्रथम सभी जातियों और राज्यों के मध्य संपर्क स्थापित कर सकें। व्यवस्था और कार्यों को प्रोत्साहन देने की जिससे राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित हो सके। इसके लिए हमें अपनी नवीन पीढ़ी को शिक्षित और जागरूक करना होगा। उनके लिए ऐसी पाठ्य पुस्तकें निहित की जायें जिनसे उनका मस्तिष्क इस कुभाव से दूर रहे। राज्यों, साहित्यिक सांस्कृतिक अकादमियाँ राष्ट्रीय एकता की मुहिम छेड़ उसे शक्तिशाली बनाने में सहयोग करें।

सभी जातियाँ सभी लोकप्रिय मेलों, पर्वो तथा राष्ट्रीय उत्सवों में भाग लें। पत्र पत्रिकाएँ, समाचार पत्र, दूरदर्शन फिल्म आदि के माध्यम से युवा पीढ़ी में इस भावना का विकास करें जो वर्ष में एक या दो

बार अध्यापकों द्वारा शिक्षा संस्थाओं में सभी छात्रों से यह प्रतिज्ञा कराई जाये- 'मेरा देश महान है। समस्त भारतीय मेरे भाई और बहिन है।' समस्त छात्रों को राष्ट्रीय गान, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय दिवसों के संबंध में पूर्व सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जाये। छात्रावासों एवं विद्यालयों का संगठन धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए। सभी सरकारी, गैर सरकारी विद्यालयों के पाठ्यक्रम, राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से आयोजित किये जायें। विद्यालयों के सांप्रदायिक स्वरूपों को समाप्त किया जाये। उत्तरी भारत के विश्वविद्यालय में दक्षिणी भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था भी की जाये। इसके साथ ही साथ विद्यालयों में प्रवेश और अध्यापकों की नियुक्तियाँ बिना जाति, धर्म और प्रदेश आदि का विचार करके होनी चाहिए। अध्यापक मजदूर में सभी जाति धर्मो के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। संपूर्ण देश में शिक्षा की एक ही राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय योजनाएँ क्रियान्वित की जानी चाहिए जिससे विविध जातियों धर्मो प्रदेशों के छात्र एक सूत्र में बँध जायें एक दूसरे के आचार-विचार, सभ्यता संस्कृति को आसानी से समझ बूझ सकें और राष्ट्रीय एकता के निर्माण में अपना अस्तित्व बना सकें। गर्व के साथ कह सकें। -

हैं राष्ट्र के नायक हम करें राष्ट्र नमन
हम करें राष्ट्र वंदन
करें राष्ट्र को हम सर्वस्व समर्पण
यही भाव लेकर
जियें और मरें हम
भरे राष्ट्रीयता का कर्मो से मंत्र हम।

उपर्युक्त विवरण के उपरांत यह सत्य आभासित है कि सांप्रदायिक सद्भाव, समसामयिक परिस्थितियों में, एक ऐसी संजीवनी है जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता हैं अपने संकीर्ण विचारों के दायरों को विस्तृत कर जाति-पांति, भेद-भाव छोड़कर, क्षेत्रीयता की सीमाओं को तोड़ कर, मजहब की दीवार लांघ कर, मानवता के धर्म को सर्वोपरि समझकर, एक दूसरे के प्रति प्रेम और विश्वास को उत्पन्न कर, कंधे से कंधा मिलाकर, उन ताकतों को जड़ से उखाड़ फेंकना है जो हमारी राष्ट्रीय एकता और अखंडता पर गिद्ध दृष्टि लगाये बैठे हैं। सुरसा के मुँह की तरह बढ़ते जा रही है समूचे राष्ट्र को निगलने के लिए। समय रहते हमें चेतना होगा। आस्तीन के उन सांपों को दूध पिलाने से अच्छा है इन्हें समाप्त करना। 'जीओ और जीने दो' का मंत्र सिखा कर अपने प्राचीन

आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित करना है-

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'-

ऐसा इसलिए भी करना है कि संपूर्ण पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग है तो हमारी मातृभूमि पर जिसके लिए देवताओं की सदैव यह कामना रही है-

'गायन्ति देवाः किल गीतिकानि, धन्यास्तते भारतभूमि भोग
स्वर्गापवर्गास्पदहेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्'

(विष्णु पुराण)

इसकी समृद्धि और आत्मसात करने की संस्कृति ही तो दूसरों की दृष्टि में खटकती है इसलिए वे साम-दाम-दंड भेद की नीति अपनाकर, राजनीति का सहारा ले सांप्रदायिकता की नीति अपनाकर, सांप्रदायिकता का जहर घोलते रहते हैं। विस्मृत हो जाता है उन्हें यह कि स्वतंत्रता के लिए बलिदानी वीरों में राणा, शिवा, दत्ता, भगत सिंह, विस्मिल, चन्द्रशेखर जैसों ने सर्वस्व समर्पण कर दिया तो आजादी के बाद अब्दुल हमीद जैसे राष्ट्र भक्तों ने उसके सम्मान को बरकरार रखा है। राष्ट्रीय एकता को विखंडित करने वाले सिरफिरों को यह सोचना चाहिए कि जल की भांति हम इस धरती से जुड़े हैं। जैसे पानी बिना मछली जीवित नहीं रह सकती वैसे ही भारत के बिना हमारा कोई अस्तित्व नहीं। प्राणों का उत्सर्ग कर इसकी अस्मिता को सुरक्षित रखने का भाव कवि ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया-

इस अर्पण में कुछ और नहीं,
केवल उत्सर्ग छलकता है
मैं दे दूँ और कुछ न लूँ
इतना ही सरल झलकता है।

-जयशंकर प्रसाद

इस पुण्य भूमि, मातृभूमि के प्रति जिसमें कर्त्तव्य का बोध नहीं वह इंसान नहीं पत्थर है- 'जो भरा नहीं है, भावो से, बहती जिसमें रसधार नहीं, वह हृदय नहीं पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं, इसके ऋण से उऋण होने के लिए कविवर रामावतार त्यागी के शब्दों में हर राष्ट्र भक्त की यह धारणा बन जाये। तन समर्पित, मन समर्पित और यह जीवन समर्पित तो सोने पे सुहागा हो जायेगा। गैरों के नापाक इरादे कभी सफल नहीं होंगे। हम अपनी राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करते रहेंगे।

राष्ट्रीय एकता में भारतीय रेल का योगदान

सिद्धेश्वर

दुनिया की सारी गतिविधियाँ मानव समुदाय से जुड़ी हैं। मनुष्य के प्रादुर्भाव के साथ ही आवागमन का सिलसिला चला आ रहा है। मानव सभ्यता के विकास का इतिहास यातायात के विकास का इतिहास है। उन्नीसवीं सदी के मध्य यानी सन् 1843 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल के दौरान भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने जब भारत में रेल व्यवस्था प्रारंभ करने का सुझाव दिया था तो उसके पीछे इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के व्यक्ति की भारत के प्रति न तो कोई सद्भावना थी और न ही इस देश के लोगों के कल्याण की भावना थी, बल्कि उसके मन में यही भाव था कि रेल व्यवस्था लागू होने से फौज, बारूद तथा अन्य चीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में आसानी होगी। साथ ही भारत पर ब्रिटिश हुकूमत का नियंत्रण और कड़ा हो जाएगा। इस सोच के पीछे दूसरा पहलू संभवत: यह भी था कि रेल द्वारा भारत से कच्चा माल इंग्लैंड के कारखानों में कम खर्च और समय पर पहुँचाया जा सकेगा और फिर वहाँ से तैयार माल लाकर भारत के बाजारों में बेचा जा सकेगा।

अपनी इसी सोच की सिद्धि के लिए उन्होंने भारत में रेल व्यवस्था सुदृढ़ की भी। 'डेवलपमेंट ऑफ इंडियन रेलवेज' नाम्नी अपनी पुस्तक में नलिनाअ. सान्याल लिखते हैं- ब्रिटेन के मैनचेस्टर और ग्लासगो नामक उद्योग केंद्रों ने भारत में रेलमार्ग बनाने के लिए सरकार को विवश किया, क्योंकि बंबई से कपास ढोकर लाने के लिए ऐसा करना जरूरी था। भारत अच्छी कपास का उत्पादक है जिसकी इंग्लैंड की आवश्यकता है। भारत के बाजारों में भी इंग्लैंड के तैयार माल की बढ़ी माँगों की पूर्ति रेलगाड़ियों के बिना संभव न थी। रेलमार्ग के निर्माण के परिणामस्वरूप 1848 ई. से 1856 ई. तक भारत की कपास के निर्यात में दुगुनी वृद्धि हो गई तथा विलायती माल का आयात ढाई गुणा से भी ज्यादा बढ़ गया। इस प्रकार कपास उत्पादन करने वाले सारे क्षेत्र रेलमार्ग से जुड़ गये। सन् 1868-69 तक ब्रिटिश भारत के आयात-निर्यात अर्थात कच्चा माल ले जाने और तैयार माल लाने में तिगुनी वृद्धि हो गई।

31 अक्टूबर, 1850 को पश्चिमी भारत में रेल परियोजना प्रारंभ होने के पश्चात् 16 अप्रैल, 1853 को 31 तोपों की सलामी के साथ

पहली बार रेल अपने 14 डिब्बों में सवार 400 मेहमानों को लेकर मुंबई से थाणे तक मात्र 34 किलोमीटर की यात्रा के लिए रवाना हुई और भारत के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया। फिर 15 अगस्त, 1854 को कोलकाता में तथा सन् 1856 में दक्षिण भारत में पहली रेल चली। इन बंदरगाह शहरों से रेल विस्तार का जो सिलसिला शुरू हुआ वह लगातार बढ़ता ही चला गया और देश की सेवा करते हुए आज भारतीय रेल अपने 154वें गौरवपूर्ण वर्ष में प्रवेश कर गई है।

भारतीय रेल ने अपने अस्तित्व के 156 वर्षो के दौरान इस देश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका निभाई है। इन वर्षो के दौरान रेल ने प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। वर्तमान दौर में भारतीय रेल में 16 लाख से अधिक रेलकर्मी रेल के पहियों को दिन-रात अपने कर्त्तव्यों का निर्वहण करते हुए चलायमान रखते हैं और 63,028 किलोमीटर के लंबे मार्गो पर करीब 13000 गाड़ियाँ 8000 स्टेशनों से गुजरते हुए करीब एक करोड़ 30 लाख यात्रियों को प्रतिदिन रेल यात्रा कराते हैं तथा सात लाख मैट्रिक टन सामान रोजाना एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय रेल ने भारत में एक सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति लाई है जिससे भारत का स्वरूप ही बदल गया। यहाँ के लोगों के रहन-सहन तथा शैली में ऐसा बदलाव आया है जैसा हजारों वर्षो में नहीं हुआ था। बैलगाड़ी युग के लोगों को अचानक भाप, डीजल और बिजली युग में पहुँचा दिया गया। आज भारतीय रेल पर अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी के 6000 अश्वशक्ति के बिजली रेल इंजन तथा 40000 अश्वशक्ति के डीजल रेल इंजन प्रयोग में लाए जा रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हुए रेल नेटवर्क को अत्याधुनिक तकनीकी से युक्त कर अब 96 प्रतिशत से अधिक आरक्षण कम्प्यूटरीकृत कर दिया गया है। इस प्रकार आज देश के एक कोने से दूसरे कोने में किसी भी कम्प्यूटरीकृत स्टेशन से आने-जाने का आरक्षण कराया जा सकता है। अब इंटरनेट के द्वारा यात्रियों को घर पर ही आरक्षण की सुविधा उपलब्ध करा दी गई है। यही नहीं, खान-पान के क्षेत्र में भी और सुधार करने के लिए भारतीय रेल खान-पान एवं पर्यटन निगम द्वारा सेवाओं में और वृद्धि की जा रही है। प्रमुख स्टेशनों पर अब अनेक फूड प्लाजा खुलने के साथ महाराष्ट्र पर्यटन निगम के सहयोग से 'डेक्कन ऑडिसी' नामक एक पर्यटन लग्जरी

गाड़ी का शुभारंभ किया गया है जो पहले से चल रही 'पैलेस ऑन व्हील' और 'रॉयल ऑरियंट' लग्जरी गाड़ी से बेहतर है। वर्ष 2004 की यात्री सुविधा वर्ष मनाते हुए 17 संपर्क क्रांति एक्सप्रेस गाड़ियाँ चलाने की घोषणा के साथ ही पहली गाड़ी बैंगलोर के लिए कर्नाटक संपर्क क्राति एक्सप्रेस चलाई जा चुकी है। रेलों के 150वें वर्ष के उपलक्ष्य में 15 अगस्त 2002 को एक 'चल रेल प्रदर्शनी' गाड़ी प्रारंभ कर पूरे देश में अनेक बड़े शहरों का भ्रमण करते हुए 16 अप्रैल 2003 को दिल्ली लौटी। अब तो पूर्णवातानुकूलित 'गरीब रथ' नामक गाड़ी चलाई जा रही है।

राष्ट्रीय एकता के निर्माण में भारतीय रेल की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। एक डिब्बे में यात्रा कर रहे यात्री सभी भेदभाव भूलकर मित्र बन जाते हैं और भविष्य में मुलाकातें करने का वचन निभाते हैं। हम रेल के एक डिब्बे में पूरे देश की संस्कृति का दर्शन कर सकते हैं और वहाँ यात्री आपस में एक दूसरे के साथ जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह हिंदी है। पूरे देश में यात्री कहीं चले जाएँ हिंदी में एक दूसरे से अपने विचारों का आदान-प्रदान कर अपना कार्य चलाते हैं। पूरे देश में रेलों के स्टेशनों पर लगे हुए नाम, बोर्ड, सूचना-पट्ट आदि हिंदी-अँग्रेजी त्रिभाषी में सुलभ हैं। प्रमुख स्टेशनों पर उदघोषणाएँ भी हिंदी, अँग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में होती रहती हैं, जिनसे यात्रियों को अपनी यात्रा से संबंधित जानकारी अपनी ही भाषा में सुलभ हो जाती है। इस प्रकार यात्रियों को क्षेत्रीय भाषा सहित हिंदी और अँग्रेजी भाषा में सूचनाएँ उपलब्ध कराने के लिए निरंतर प्रयास किए जाने से राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है। रेलें देश के सामाजिक, औद्योगिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता और अखंडता में भी अपनी उल्लेखनीय भूमिका अदा कर रही हैं।

रेल के स्टेशन पर कुली, रिक्शा चालक, टैक्सी चालक, होटल और भोजनालय का वेटर हिंदी भाषा को न सिर्फ अच्छी तरह समझते हैं, बल्कि बोलते भी हैं। महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण तथा उत्तर भारत की नवयुवतियाँ कमीज-सलवार को यात्रा के दौरान अत्यंत आरामदायक महसूस करती हैं, जिसके परिणामस्वरूप पूरे देश के पैमाने पर रहन-सहन तथा वेश-भूषा में समानता दिखने लगी है। इसी प्रकार खान-पान में भी अब समानता आने लगी है। इडली, डोसा और सांबर उत्तर भारत में अब चटकारे लेकर खाए जाते हैं जबकि दक्षिण भारत के लिए वे सर्वप्रिय खाद्य सामग्री हैं। मुंबई की पाव-भाजी दक्षिण भारत में भी अब लोकप्रिय हो रही है। उत्तर

भारत के सिंघाड़े अब दक्षिण तथा पश्चिम के कई प्रांतों में पाए जाते हैं। इस तरह के व्यंजन अपने-अपने राज्यों की सीमाएँ तोड़कर अन्य स्थानों में अपना विशिष्ट स्थान बनाते जा रहे हैं। इन सबका बहुत कुछ श्रेय रेल को देना ज्यादती नहीं होगी, क्योंकि रेलों के द्वारा ही आवागमन में सुविधाएँ उपलब्ध हो सकीं। विभिन्न परिवेश और संस्कृतियों के लोग एक साथ रहने लगे और एक दूसरे के विचारों, संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा तथा जीवन शैली को न केवल समझने लगे, बल्कि आदर करने लगे जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता सबल हुई और आपस में एक सद्भाव का वातावरण बनने लगा।

पूर्व में विभिन्न धर्मो के लोग रेल में यात्रा करते वक्त पका हुआ भोजन नहीं खाते थे, कारण कि वे मानते थे कि दूसरी जाति अथवा समुदाय के लोगों के साथ किसी प्रकार का संपर्क उन्हें अपवित्र कर देगा। आज वह समय आ गया है जब रेलों में यात्रा के दौरान अब खाना परोसते हुए वेटर की कोई जात-पात नहीं पूछता तथा भोजन बनाने वाले रसोइयों की जात-पात का पता लगाना तो अब असंभव काम है। सच तो यह है कि अब रेल यात्री उसकी जरूरत ही नहीं महसूस करते और अब वे प्लेटफार्म पर बिक रही खाने-पीने की चीजों का आनंद लेते हैं। आजादी के पहले हिंदी पानी या मुसलमान पानी की आवाजें सुनाई देती थीं, जैसे पानी का भी कोई धर्म होता है। अब तो स्टेशनों पर फेरीवाले जो पानी यात्रियों को देते हैं वह पानी होता है न कि हिंदी पानी या मुसलमान पानी। बड़े-बड़े स्टेशनों पर तो पानी के कूलर लगे हैं जहाँ एक साथ लोग पानी पीते हैं। आजादी के पूर्व हर बड़े स्टेशनों पर यूरोपीय, मुस्लिम और हिंदू ये तीन तरह के भोजनालय होते थे जिसके स्थान पर अब शाकाहारी और मांसाहारी बस दो तरह के भोजनालय हैं जहाँ हर धर्म के लोग अपनी अभिरुचि के मुताबिक भोजन करते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि रेल भारत के विभिन्न भाषा-भाषियों को एक सूत्र में पिरोने तथा भारतवासियों के अंदर एकता और अखंडता का अलख जगाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

स्वतंत्रता के समय देश की आबादी 33 करोड़ थी जो आज 70 वर्ष में बढ़कर लगभग 125 करोड़ हो गई है। इस तरह औसतन प्रतिवर्ष करीब 4.4 प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई और जनसंख्या की वृद्धि दर यही मानी जाए तो सन् 2025 में हमारे देश की आबादी करीब 190-200 करोड़ हो जाएगी। इतनी आबादी के लिए सन् 2025 में दुगुने यातायात की व्यवस्था करनी होगी। आबादी आवागमन के बढ़ने के कारण दूर-दराज के क्षेत्रों से लोग रोजगार तथा

अच्छी जिंदगी बिताने की इच्छा लेकर नगरों एवं महानगरों की ओर दौड़ने लगे जिसके परिणामस्वरूप समस्याओं की बाढ़ आ गई और विभिन्न परिवेशों तथा पृष्ठभूमि से आए लोग एक साथ रहने लगे तथा उनकी सोच में भी समानता आने लगी, किंतु वे अपनी जड़ों से कटे नहीं। आज स्थिति यह है कि रेल यातायात की सुविधा के चलते बिहार, उत्तरप्रदेश के लोग महाराष्ट्र, गुजरात, प. बंगाल, पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली में आकर बस गए हैं और जिविकोपार्जन के साथ-साथ उनके लड़के-लड़कियाँ अपने आसपास ही अपने जीवन साथी तलाशने लगे हैं। फलत: एक संस्कृति के लोगों को दूसरे की संस्कृति से वाकिफ होने का अवसर मिला और लोगों में एकता बढ़ी तथा एक दूसरे को लोग समझने एवं आदर करने लगे हैं।

रेल संपर्क की स्थिति आज यह है कि जम्मू-कन्याकुमारी एक्सप्रेस जहाँ हिमालय की तराई को दक्षिण भारत के समुद्र तट से जोड़ती है, वहीं गुवाहाटी-तिरुवनंतपुरम एक्सप्रेस या जोधपुर-हावड़ा एक्सप्रेस भारत के विस्तृत क्षेत्रों से गुजरती हैं और अनेक राज्यों की सीमाओं को चीरती हुई अपने गंतव्य स्थान तक पहुँचती है। भाषा-संस्कृति की सभी बाधाओं को पार कर ये भारत की संपूर्ण छवि प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार भारतीय रेल अनेकता में एकता का प्रतीक बन चुकी है और देश की एकता और अखंडता को निरंतर मजबूत बनाती जा रही है।

देश के लोग जब रेल से सफर करते हैं तो यात्रा के दौरान उन्हें थोड़े समय के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सहयात्रियों से मुलाकात होती है। कभी-कभी किसी ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति से यात्रा के दौरान भेंट हो जाती है और परिचय हो जाता है जिनके व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ जाती है। इस संदर्भ में पूर्व-मध्य रेलवे के दानापुर मंडल के तत्कालीन डी. आर.एम. पी.के.राय के 'भारतीय रेल' के अक्टूबर 2002 अंक में 'स्वर्ग में रखा हुआ' शीर्षक से प्रकाशित एक प्रेरक रेल यात्रा संस्मरण की घटना को यहाँ उद्धृत करना कदाचित इसलिए समीचीन होगा कि उससे रेल में यात्रा करने वाले सहयात्री के मेलजोल से न केवल सद्भाव का वातावरण बनता है, वरन् शारीरिक रूप से लाचार अथवा विक्लांगता के शिकार यात्री से एक प्रकाश किरण के रूप में तिमिरांच्छन्न मानसिकता को आलोकित कर सकती है। श्री राय के प्रेरक रेल यात्रा संस्मरण यों हैं-विगत 30 मार्च 2002 को जब वे हावड़ा से दानापुर की यात्रा पंजाब मेल से कर रहे थे तो यात्रा के दौरान उनकी मुलाकात एक अमेरिकी दंपत्ति से हुई। उनके चेहरे पर एक अद्भुत

मुस्कान थी। हावड़ा से गाड़ी छूटने के पश्चात् वे धार्मिक एवं लोकोपयोगी पुस्तक मनोयोगपूर्वक पढ़ने लगे। बातचीत के दौरान पता चला कि वे वाराणसी जाएँगे तथा पिछले एक माह से वे भारत के विभिन्न शहरों का मिशनरी कार्य के उद्देश्य से भ्रमण कर रहे थे।

बातचीत के क्रम में अमेरिकी दंपत्ति ने श्री राय को यह बताया कि रेलवे की लंबी यात्रा के दौरान उन्हें कोई दिक्कत नहीं हुई और सहयात्रियों से अपेक्षित सहयोग भी मिलता रहा। इस अमेरिकी दंपत्ति के लिए वातानुकूलित प्रथम श्रेणी में एक नीचे वाली और एक ऊपरवाली शायिकाएँ इनके लिए आरक्षित थीं। यह समझकर कि दंपत्ति की सहधर्मिणी श्रीमती रूबी को ऊपरवाली शायिका पर चढ़ने-उतरने में असुविधा होगी, श्री राय ने स्वेच्छा से नीचेवाली अपनी शायिका को श्रीमती रूबी को देने तथा स्वयं ऊपरवाली शायिका पर जाने की बात बिल शेड से कही जिसके लिए उन्होंने तहेदिल से श्री राय को धन्यवाद दिया। श्री राय ने उन्हें बताया कि भारतीय संस्कृति में बुजुर्गो के लिए आदरपूर्ण व्यवहार सन्निहित है तथा हमेशा यह ध्यान रखा जाता है कि बुजुर्गो को कोई असुविधा या तकलीफ न हो। ऊपरवाली शायिका पर थोड़ी देर विश्राम करने के बाद जब श्री राय नीचे उतरे तो उन्होंने देखा कि श्री बिल शेड का एक पाँव जिसमें जूता लगा था तथा पैंट से ढंका था बीचवाले टेबुल पर टिका हुआ है जैसे किसी बैठे हुए यात्री का पैर हो। दरअसल शारीरिक विक्लांगता के चलते श्री बिल शेड का एक पाँव अलग रखा हुआ था। इसके बावजूद उन्हें खड़े होने या चलने में कोई दिक्कत नहीं हो रही थी और न ही हाव या चाल से ही किसी तरह का संकेत मिल रहा था।

श्रीमती रूबी और श्री शेड ने बातचीत के क्रम में कभी भी श्री बिल के पाँव के बारे में श्री राय से नहीं बतलाया और न ही इस विक्लांगता के लिए उन्हें तनिक भी दु:ख था, किंतु श्री राय को उनके कृत्रिम पैर के बारे में जिज्ञासा थी। श्री राय के पूछने पर श्री बिल ने विकलांग होने की सारी बात बताई। श्री बिल ने यह बतलाया कि उनका एक पैर ईश्वर की कृपा से स्वर्ग में रखा है और इस सौभाग्यपूर्ण स्थिति में अद्भुत आनंद उठा रहे हैं। बहुधा शारीरिक विक्लांगता के लिए लोग अपने भाग्य को कोसते हैं। उसे पूर्व जन्म का पाप या भगवान की अकृपा मानकर अपने जीवन को दूभर बनाते हैं।

श्री राय का मानना है कि श्री बिल का जीवन के प्रति

सकारात्मक दृष्टिकोण एवं विपत्ति को हर्ष में परिवर्तित करने की कृपा उन तमाम व्यक्तियों के लिए, जो शारीरिक रूप से लाचार हैं अथवा विक्लांगता के शिकार हैं, एक प्रकाश किरण के रूप में तिमिराच्छन्न मानसिकता को आलोकित कर सकती है।

श्री बिल ने 'माय वन फुट इन दि हेवन' नामक एक छोटी सी पुस्तिका भी छपवाई है जिसमें उनकी दुर्घटना, जीने की कला एवं ईश्वर में असीम आस्था तथा अद्‌भुत आशावादिता का सरल एवं मार्मिक वर्णन है। रेलयात्रा के दौरान आत्मीयता और सद्‌भावना की एक जीती जागती इस कहानी से राष्ट्रीय एका की झलक भी मिलती है।

भारतीय रेल का महात्मा गाँधी से संबंध –

महात्मा गाँधी ने रेलवे का प्रयोग अविभाजित भारत के कुल क्षेत्रफल के कोने-कोने की यात्रा करने के लिए किया। उन्होंने हमेशा 'तीसरे दर्जे' में यात्रा की। भारतीय रेलवे से महात्मा गाँधी का संबंध भारत की स्वतंत्रता की निरंतर चल रही उनकी लड़ाई का एक आवश्यक अंग था जो सन् 1915 से लेकर उनके शहीद होने तक बना रहा। उनकी अस्थियों को भी 11 फरवरी 1948 के दिन एक विशेष रेलगाड़ी द्वारा नई दिल्ली से इलाहाबाद तक ले जाया गया था।

गाँधी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंद स्वराज' (1909) में ब्रिटिश भारतीय रेल के प्रति क्यों इतने आलोचनात्मक थे, जिन्होंने रेल को वकीलों और डॉक्टरों के साथ मिलाकर उसे अँग्रेजों को भारत का शोषण करने और साम्राज्यवादी शक्तियों के अधीन बनाए रखने में सहायता करने का दोषी माना है। अब समय आ गया है और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से ही भारतीय रेल संभवत: सशस्त्र सेनाओं के बाद, देश और इसकी जनता की सेवा में सबसे आगे है।

भारतीय रेलवे ने गाँधी जी के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व अधिकतर, भारतीय तीसरे दर्जे में सफर करते थे जिसमें आरक्षण का कोइ प्रावधान नहीं था। समृद्धि और प्रतिष्ठा के प्रति सचेत यात्री इंटरक्लास और दूसरे दर्जे में यात्रा करते थे। पहला दर्जा साधारणतया शासक वर्ग और वास्तविक अमीरों के लिए था। गाँधी जी के लिए वृहद स्तर पर भारतीयों के साथ एकाकार होने का अर्थ था तीसरे दर्जे की यात्रा, क्योंकि ऊपरी दर्जे में यात्रा कर पाना सामान्य जनता की पहुँच से

परे था। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि उन दिनों यात्री गाड़ियों में सबसे अधिक क्षमता का प्रावधान तीसरे दर्जे के डिब्बों में था।

प्रत्याशित रूप से गाँधी जी की प्राथमिक दिलचस्पी, तीसरे दर्जे में यात्रा की परिस्थितियाँ, अत्यधिक भीड़, असंवेदनशील रेलवे, नौकरशाही, स्वच्छता की कमी, यात्रियों की गंदी आदतें, बिना टिकट यात्रा, सामाजिक पूर्वाग्रह का व्यवहार और यहाँ तक कि रेलवे कर्मचारियों से संबंधित विषयों में भी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के 60 वर्षो पश्चात् रेल यात्रा सुविधाओं में हुए व्यापक परिवर्तनों के बावजूद ये विषय आज भी सामयिक हैं। रेल के तीसरे दर्जे के मुसाफिर को जो कष्ट होते हैं उसके विषय में गाँधी जी ने अपने अनुभव समाचार पत्रों के द्वारा जनता के सामने रखे। ये कष्ट आज के दूसरे दर्जे में मौजूद हैं। भारत की प्रजा वस्तुत: बड़ी सीधी सादी है। उसे चुपचाप दु:ख सहते रहने की शिक्षा मिली है। यही कारण है कि वह लाखों दु:ख सहती है तथापि उनका निवारण नहीं होता। जनसाधारण एक्सप्रेस गाड़ियों को चलाकर भारतीय रेल ने आम जनता की परेशानियों को अंशत: दूर करने का प्रयास किया है। फिर भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है। यह मामला देश के करोड़ों गरीब तथा मध्यवर्गीय भाईयों को प्रभावित करता है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय चरित्र के लिए पतनकारी हुए बिना नहीं रह सकता। हम थोड़े से शिक्षित लोगों का राष्ट्रीय दायित्व है कि यात्रा करने वाले लोगों को इस अत्याचार से मुक्त करें।

राष्ट्रीयता और आंतकवाद

कर्नल एस. एस. राय

क्या यह विडंबना नहीं है कि अभी तक किसी भी स्तर पर, चाहे वह अंतरराष्ट्रीय हो या राष्ट्रीय, आतंकवाद को परिभाषित नहीं किया जा सका है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देशों के बीच भी आतंकवाद को परिभाषित करने के प्रश्न पर गहरे मतभेद हैं। कभी कभी इसे किसी देश विशेष या किसी संदर्भ विशेष में राज्य प्रायोजित आतंकवाद की संज्ञा दे दी जाती है तो कभी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तरों पर जानबूझकर इसे परिभाषित नहीं किया जाता है और असमंजस पैदा कर स्वार्थ सिद्ध किया जाता है। अपराध और आतंकवाद के अंतर को समझना बहुत जरूरी है। आतंकवाद के परिभाषित न होने का फायदा देशद्रोही तत्व जो विध्वंसक गतिविधियों में संलग्न हैं, जमकर उठा रहे हैं।

1992 में, ए. पी. शमिड, जो आतंकवाद के विशेषज्ञ कहे जाते हैं, ने संयुक्त राष्ट्र संघ की अपराध शाखा को अपनी रपट सौंपी थी। इस रपट में शमिड ने सुझाव दिया था कि शांतिकाल के आतंकवाद को युद्धकाल के अपराध के संदर्भ में परिभाषित करना चाहिए। आतंकवाद को परिभाषित न करने में सबसे बड़ा दोषी अमेरिका ही रहा है। आज की दुनिया में आतंकवाद के परिभाषित न होने के फलस्वरूप, जिस शख्श को एक स्थान पर आतंकवादी कहा जाता है उसी को दूसरी जगह जेहादी या स्वाधीनता सेनानी कहा जाता है। कश्मीर के आतंकवाद के संदर्भ में यह अक्षरशः सत्य है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ डंके की चोट पर ताल ठोक करके कश्मीर के आतंकवादियों को स्वतंत्रता सेनानी की संज्ञा से विभूषित करते हैं और भारतवर्ष एक अक्षम, लाचार और असहाय देश की भांति तमाशा देखता है। सारा विश्व मूकदर्शक की भूमिका में दिखता नजर आता है। लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष सीमापार से कश्मीर में मुशर्रफ के स्वतंत्रता सेनानी और भारतीयों के लिए आतंकवादी, गैरकानूनी ढंग से प्रवेश करते हैं। ये जेहादी पाकिस्तानी सेना द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त कर - जम्मू-कश्मीर में घुसकर बेगुनाह लोगों का कत्ल कर रहे हैं और मुशर्रफ के शब्दों में स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ते हैं। इनका कहना है कि ये कश्मीर को बचाने के लिए कुर्बानी दे रहे हैं। इनके अनुसार कश्मीर में इस्लाम खतरे में है और हिंदू काफिर है। यह ग़जब की

बात है कि मुशर्रफ इन आतंकवादियों को जेहादी, फ्रीडम फाइटर/ स्वतंत्रता सेनानी तभी कहते जब ये भारत के अंदर कत्ल को अंजाम देते हैं, किंतु ये ही लश्कर-ए-तोइबा या जेश-ए-मोहम्मद के छोकड़े/ सेनानी जब परवेज मुशर्रफ पर जानलेवा हमला करते हैं तो मुशर्रफ उन्हें खतरनाक आतंकवादी करार देते हैं। आतंकवाद का यह दोहरा मापदंड विश्व चौधरी अमेरिका भी अपना रहा है।

अब्दुल कादिर खान प्रकरण ने पूरे विश्व को झकझोर दिया है। अब्दुल कादिर खान तो मुशर्रफ ही नहीं, संपूर्ण जगत (इस्लामिक जगत) के नाभिकीय नायक थे। आज यह जगजाहिर है कि पाकिस्तान ने नाभिकीय शक्ति चीन से हासिल की और चीन ने यह ज्ञान सोवियत संघ से पाया। इरान और लीबिया के नाभिकीय प्रसार कार्यक्रम को पाकिस्तान ने आगे बढ़ाया। आज का कठोर सत्य यह है कि आतंकवादी नाभिकीय अस्त्रों/शस्त्रों से सुसज्जित होते नजर आ रहे हैं। अगर मुशर्रफ के आत्मघाती दस्तों ने इन नाभिकीय शक्तियों का प्रयोग किया तो दुनिया कैसे बचेगी? यह इसलिए कहा जा रहा है कि अभी की परिस्थितियों में, वे जेहादी जहाँ भी विस्फोट करना चाहते हैं, कर देते हैं। इन विस्फोटों में इजाफा होता चला जा रहा है। इन्हें अपनी जान की कोई परवाह नहीं है क्योंकि वे मरने पर जन्नत में मजा लेंगे। यह शिक्षा उन्हें मदरसों में मिली है। आज के दिन यह शंका व्यक्त की जा रही है कि जेहादी कहीं भी, कभी भी और कुछ भी कर सकते हैं।

संभव है कि ये जेहादी नाभिकीय परमाणु संयंत्रों को भी अपना निशाना बना दें या रेडियोएक्टीव स्रोतों को ही धराशायी कर दें। यही कारण है कि अंतरराष्ट्रीय परमाणु एजेंसी के महानिदेशक मोहम्मद एलबैरेदी ने सन् 2001 में, वियना में काफी चिंता व्यक्त की थी और भयंकर अनहोनी की कल्पना की थी। इतना ही नहीं, समाचार पत्रों के अनुसार परमाणु ऊर्जा एजेंसी ने भारत और पाकिस्तान को अपने परमाणु संयंत्रों की रक्षा के लिए चेतावनी भी दे दी है। अमेरिका तो पाकिस्तान के परमाणु संयंत्रों के प्रति चिंतित है। अमेरिकी विदेश मंत्री कालिन पॉवेल ने मुशर्रफ से साफ-साफ कहा है कि पाकिस्तानी अधिकारी अमेरिका में जाकर यह जायजा लें कि अमेरिका अपने परमाणु संयंत्रों की सुरक्षा और हिफाजत कैसे करता है?

श्री संदीप वासलेकर ने टाइम्स ऑफ इन्डिया, 03 मई 2004 को अपने आलेख "West and Islam, Beyond the aparent clash of

civilisations" में लिखा है :

"If the rivalry between the two competing advocates of the unitary world order continues without restraint, there is a risk of a nuclear disaster. The NPT guards nuclear proliferation among states but cannot contain smuggling of technology and material from states to non-state act or The International Atomic Energy Agency has reported 18 incidents of smuggling of enriched uranium or plutonium between 1993 and 2003. This was before the A. F. Khan episode came to light. A large quantity of weapon grade material is not efficiently protected, especially in the former soviet union. A suicide squad that acquires some of it may not have sophisticated delivery systems to use nuclear bombs but it can simultaneously plant dirty bombs in a dozen cities. Worse, it can join a coalition of extremist forces to take over a nuclear state. This will be the beginning of the end."

संदीप वासलेकर ने जो परिदृश्य पेश किया है वह सत्य पर आधारित है और यही वह परिदृश्य है जो एक दिन इस धरातल को रसातल में भेजकर ही दम लेगा। यह कब होगा, कैसे होगा, इसको आने वाले भविष्य की गोद में रहने दिया जाय तो अच्छा होगा।

1970-2000 के बीच पाकिस्तान आतंकवाद का अड्डा बना। याद कीजिए उन दिनों को जब खालिस्तानी आतंकवादियों को हथियार प्रशिक्षण, धन और अन्य सहायता पाकिस्तान दिन के उजाले में भी उपलब्ध कराता था। भारत और खासकर पंजाब जल रहा था। लाखों भारतीय मारे गये। औरतें विधवा हुईं। बच्चे अनाथ हुए पर अमेरिका या किसी पश्चिमी देश ने इस आतंकवाद को रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया। यहाँ तक की किसी पश्चिमी देश ने पाकिस्तान का नाम भी नहीं लिया। इसके बाद पाकिस्तान ने अपनी गुप्तचर संस्था आई.एस.आई. की मदद से जम्मू-कश्मीर एवं भारत के अन्य भागों में अपने नौजवानों को आतंकवादी बनाकर भेजना प्रारंभ किया। पाकिस्तान की सेना ने इस काम में काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों ने भी खुद आतंकवादियों को भारत में प्रवेश कर रास्ता दिखाया।

हम उस समय को कैसे भूल सकते हैं जब विश्व की दूसरी

महान शक्ति यानी सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में अपनी सेना भेजने की भयंकर भूल की। अमेरिका को एक सुनहरा अवसर हाथ लग गया। उसने खौफनाक, खतरनाक और मानवता के दुश्मन मुस्लिम कट्टरवादी ताकतों और हस्तियों की मदद देना शुरू कर दिया। इस नापाक कार्य में अमेरिका को पाकिस्तान की निहायत जरूरत महसूस हुई। पाकिस्तान के पौ बारह हो गये। पाकिस्तान जो चाहता था वह उसे आप से आप हासिल हो गया। पाकिस्तान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। रास्ते से भटके पाकिस्तानी युवा कट्टरवादी विचारधारा में तेरने लगे। इन युवाओं को आधुनिकतम हथियार से लैस कराया गया। इन्हें सैनिक प्रशिक्षण दिया गया और इन पर पैसों की बौछार की गयी। फिर क्या था? सोवियत सेना के छक्के छूट गये। सोवियत सेना मुँह की खाकर मुँह छिपाने लगी और अंततः उसे बेइज्जत होकर अफगानिस्तान से हटना पड़ा। अफगानिस्तान एक खाली मैदान बन गया। इस परिस्थिति का फायदा अमेरिका द्वारा प्रशिक्षित अफगानिस्तानी युवाओं और कट्टरपंथी मुल्लाओं ने लिया एवं तालिबान का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हें धन और हथियार अमेरिका से मिला था। प्रशिक्षण पाकिस्तान से मिला और कट्टरता कठमुल्लाओं से। पाकिस्तान ने अपने द्वारा नियंत्रित तालिबान सरकार को अफगानिस्तान में सत्ता हथियाने में भरपूर मदद की। इसलिए पाकिस्तान का मनोबल आसमान छूने लगा। पाकिस्तान ने कट्टरवादी मुल्लाओं के द्वारा अफगानिस्तानी और पाकिस्तानी युवाओं के एक खास वर्ग के कट्टरपंथी को सांचे में ढालना आरंभ किया और आत्मघाती दस्ते बनाए गए। इन युवाओं को पाकिस्तानी गुप्तचर संस्था आई. एस.आई. ने भारत में प्रवेश कराना प्रारंभ किया। इनका मुख्य निशाना जम्मू-कश्मीर था। पाकिस्तान को पूर्ण विश्वास था कि भारत को तहस-नहस करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। पाकिस्तानी शासक यह भी सोचने लगे थे कि पाकिस्तानी युवाओं को दिग्भ्रमित करके उनमें व्याप्त असंतोष को भी दूर किया जा सकेगा। पाकिस्तानी शासकों ने कारगिल में जो दुस्साहसिक घुसपैठ कराया वह भी उनकी इसी सोच की उपज थी। मजे की बात यह रही कि कारगिल में शर्मनाक पराजय के बाद भी पाकिस्तान की इस घिनौनी सोच में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं आया। पाकिस्तान ने भारत को परेशान करने के इरादे से आत्मघाती दस्तों को भेजना जारी रखा। इसका फल यह हुआ कि भारतीय फौज का रक्तप्रवाह होता रहा और पाकिस्तानी फौज रंगरेलियाँ मनाती रही, तालियाँ बजाती रही और हमारी खिल्ली उड़ती रही। सोचने की

बात यह है कि चौधरी की भूमिका अदा करने वाला अमेरिका पाकिस्तानी हरकतों से वाकिफ था और उसकी मिली भगत का एहसास भारत को था, किंतु भारत कुछ भी करने में असमर्थ था। करीब तीन दशकों (1970-2000) तंक यह नंगा नाच चलता रहा किंतु किसी विश्व शक्ति नें पाकिस्तान को सही फटकार लगाना वाजिब नहीं समझा। अमेरिका की आँखें तब खुलीं जब उसके गुप्तचर विभाग ने रपट दी कि सोवियत सेना को अफगानिस्तान से खदेड़ने के लिए जिन कट्टरवादियों की मदद ली गयी थी वे कट्टरवादी अब अमेरिका के लिए ही भस्मासुर की भूमिका में आ चुके हैं और अमेरिका को उनसे सही खतरा उत्पन्न हो रहा है। बिन लादेन का जन्मदाता अमेरिका अब बिन लादेन और अल कायदा से कंपित होने लगा। पिता अमेरिका को पुत्र बिन लादेन का भय ग्रसित करने लगा। बिन लादेन ने तो खुलेआम तालिबान की मदद की और अमेरिका को गाली बका पर फिर भी अमेरिका ने तालिबान के खिलाफ कोई ठोस कारवाई नहीं की। सच्चाई तो यह थी तालिबान-पाकिस्तान का डारलिंग था और पाकिस्तान अमेरिका का डारलिंग। अत: कोई अपने डारलिंग को नाराज नहीं करना चाहता था। जब अमेरिका को यह महसूस होने लगा कि अब पानी सिर से ऊपर से बहेगा और बिन लादेन अमेरिकियों को कच्चा चबा जायेगा तो अमेरिका ने अपनी कुशाग्र बुद्धि को इस्तेमाल किया और आतंकवाद विरोधी अभियान में अमेरिकियों के साथ होने का वचन दिया। मुशर्रफ अपनी शतरंजी चाल और आदत से बाज नहीं आए। बुश को वचन तो दिया गया किंतु पाकिस्तानी सेना का एक वर्ग छुपे रूस्तम तालिबानियों की मदद करता रहा। वह सिलसिला पराकाष्टा पर तब पहुँचा जब पाकिस्तानी सेना के कुछ कर्नल, लेफ्टीनेंट कर्नल, मेजर और कैप्टन, तालिबान की मदद करते रंगे हाथों दबोचे गये। इन ऑफिसरों का नाम भी प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने प्रकाश में लाया। इसके बाद मुशर्रफ होश में आये और अमेरिका को खुश करने के लिए घड़ियाली आँसू बहाने लगे। मुशर्रफ का पोल खुलने पर भारत ने भी ढोल बजाए और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर माहौल कुछ अंश तक हमारे पक्ष में बनने लगा। इसका आंशिक लाभ हमें जरूर मिला। मुशर्रफ के डर से आतंकवादी कुछ डरे। आतंकवादियों को मुशर्रफ का पूर्ण समर्थन समाप्त हुआ। अमेरिका को मुशर्रफ के हाथ कुछ हद तक जरूर बांधे। मुशर्रफ ने कुछ सार्थक कदम भी उठाये भले ही यह दिखावा की श्रेणी से नवाजा जाय। आतंकवादी तत्वों का मनोबल कुछ पस्त हुआ। अत: कुछ तो निष्क्रिय जरूर

हो गये और कुछ में बुनियादी बदलाव की संभावना व्यक्त की जा रही है। कारण स्पष्ट है। कोई भी आतंकवादी संगठन-पाकिस्तान सरकार के सहयोग (प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष) से न चलता था न भविष्य में चलेगा। आज अलकायदा भी लड़खड़ा रहा है, क्योंकि अमेरिका के दबाव में पाकिस्तान उससे दूरियाँ बनाए हुए है। यही कारण है कि अभी के हालात में अल-कायदा भी मुशर्रफ के खून का प्यासा है। मुशर्रफ पर जान लेवा हमला यह प्रमाणित करता है कि आतंकवादी अभी धरातल पर हैं पर यह सोच लेना कि वे (आतंकवादी) समाप्त हो गये केवल मुंगेरी लाल के हसीन सपने जैसा होगा। अगर भारत ने इस इस्लामिक आतंकवादियों से कारगर ढंग से निपटने की योजना को मूर्त्त रूप नहीं दिया तो विनाश सुनिश्चित है।

आतंकवाद कोई नयी बला नहीं

इसका इतिहास करोड़ों वर्ष पुराना है। प्रत्येक युग में आतंकवादी विद्यमान रहे हैं। हाँ, इतना फर्क जरूर है कि अलग-अलग युगों में इनके काम करने के तरीके भी अलग-अलग थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में आतंकवाद का स्वरूप कुछ बदला। यात्री विमानों का अपहरण द्वितीय महायुद्ध के बाद किया जाने लगा। इससे दहशत का माहौल पैदा हुआ। आधुनिक इतिहास गवाह है कि 1960 के दशक में- राष्ट्रसंघ में आतंकवाद पर बहस हुई। प्रस्ताव भी पारित किए गये। यह भी सही है कि अब तक आतंकवाद से मुकाबला करने के लिए करीब एक दर्जन बैठकें राष्ट्रसंघ ने करायी है। 1994 के दिसंबर में आतंकवाद को पूरे विश्व से समूल नष्ट करने का प्रस्ताव भी पारित हुआ और यह प्रस्ताव राष्ट्रसंघ के महासचिव राष्ट्रसंघ की महासभा को हर वर्ष आतंकवाद की स्थिति की जानकारी देते हैं। आतंकवाद निरोधक प्रकोष्ट भी 1999 से कार्यरत है और यह वियाना से कार्य कर रहा है। सुरक्षा परिषद् ने भी आतंकवाद विरोधी समिति का गठन कर रखा है। सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव संख्या 1373 पर हमें केंद्रीत होना चाहिए। एक प्रस्ताव 25 फरवरी 2000 को राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा पारित हुआ। एक और महत्वपूर्ण प्रस्ताव 11 सितंबर 2001 को अमेरिका पर हमले के बाद पारित हुआ। यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में पारित हुआ। ये दो प्रस्ताव काफी महत्वपूर्ण हैं और इसलिए इनका जिक्र किया गया है। 25 फरवरी 2000 को महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव का मकसद था ''आतंकवाद को कहीं से भी

आर्थिक या अन्य किसी प्रकार की सहायता न मिलने देना। आतंकवाद के *सभी श्रोतों को मटियामेट कर देना, कुचल देना और ध्वंस कर देना।'* 11 सितबर 2001 के प्रस्ताव का उद्येश्य था, ''राष्ट्रसंघ द्वारा हर प्रकार के आतंकवाद के विरूद्ध पूरी शक्ति से युद्ध का ऐलान और आतंकवाद को परास्त करने की शपथ।'' इन दोनों प्रस्तावों के बावजूद. आतंकवाद जीवित है। आतंकवाद को मदद करने वाले छिपकर पीछे के रास्ते से आतंकवादियों को समर्थन दे रहे हैं और आतंकवादियों के धन का स्रोत अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। प्रस्ताव संख्या 1373 काफी स्पष्ट है फिर भी आतंकवाद थमता नजर नहीं आता अर्थात् नतीजा वही ढाक के तीन पात वाली कहानी चरितार्थ हो रही है। सब कुछ टांय-टांय फिस होता नजर आता है। आतंकवादी लाखों किस्म के मुखौटे से सुसज्जित हैं। वे कब, कैसे और कौन मुखौटा धारण कर प्रहार करेंगे इसका पता तो अमेरिकन गुप्तचर संस्थाओं को भी नहीं है। आतंकवादी अपनी उपासना पद्धति को थोपने के लिए दुनिया में कोई भी कुर्बानी देने को तैयार हैं। अफसोस की बात है कि राष्ट्रसंघ में अपने ही प्रस्तावों को लागू करने की क्षमता नहीं है। अमेरिका जो एक ही महाशक्ति आज के विश्व में है, राष्ट्रसंघ को कठपुतली बना कर नचाता है। पाकिस्तान और लीविया राष्ट्रसंघ की कमजोरी का फायदा उठाते जा रहे हैं। आजतक पाकिस्तान का बहिष्कार नहीं हुआ और लीबिया का बाल बांका भी नहीं हो सका। अलकायदा आज भी ताल ठोक रहा है। अलकायदा के प्रशिक्षण केंद्र अभी भी पूरी तरह नष्ट नहीं हो सके। बिन लादेन के टेप अभी भी जारी हो रहे हैं और पाकिस्तानी आई. एस.आई. अमेरिकन सी.आई.ए. की आँखों में धूल झोंकने में कामयाब होती चली जा रही है। हम कैसे विश्वास कर लें कि बिन लादेन को आई.एस.आई. नहीं पकड़ पा रही है। बिन लादेन तो अमेरिका का ही पुत्र है और पाकिस्तान का सहोदर भाई। पाकिस्तान अपने इस्लामिक धर्म का पालन करते हुए अमेरिका की बेवकूफी का जमकर फायदा उठा रहे हैं।

स्वर्गीय नरेन्द्र मोहन ने ''राष्ट्रवाद और आतंकवाद'' पर अपनी पुस्तक ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' में लिखा है- ''जहाँ तक भारतीय संस्कृति की बात है, भारतीय संस्कृति और उससे प्रसूत सांस्कृतिक राष्ट्रवाद मूलत: सात्विकता से परिपूर्ण है। इस संस्कृति की स्पष्ट मान्यता है कि जो अधिकार उसे प्राप्त है वही अधिकार विश्व की अन्य संस्कृतियों और सभ्यताओं को भी प्राप्त है। भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की यह स्पष्ट

मान्यता है कि किसी भी राष्ट्र या संस्कृति को ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जैसा कि यदि स्वयं उसे विरुद्ध किया जाए तो उसे कष्ट हो और वह उसका विरोध करे। कुल मिलाकर सात्विकता-प्रधान राष्ट्रवाद समन्वय और सहअस्तित्व का पोषक है। इस राष्ट्रवाद की जड़ में उपनिषदों का दर्शन है। उपनिषदों की यह मान्यता है कि ब्रह्मांड में जो कुछ भी चर-अचर है वह सब ब्रह्म का ही विस्तार है अर्थात ब्रह्म का ही रूप है।

दूसरे शब्दों में, एक ही आत्मा समस्त चराचर में व्याप्त है अर्थात न कोई श्रेष्ठ है और न अश्रेष्ठ। तात्विक धरातल पर समस्त विश्व को आत्मस्वरूप ही देखना होगा और उसी रूप में उसे मान्यता देनी होगी। आत्मवाद प्रधान दर्शन के अनुरूप ही समस्त कार्यकलाप करना ही सात्विकता की आधारशिला है। भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने इस 'खल्विद ब्रह्म' को ही अपना आधार माना। यह चिंतन पूर्णत: अद्वैत-प्रधान है। यह आध्यात्मिकता पर आश्रित है, किसी राजनीति पर नहीं। इसमें राग और द्वेष दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें अहंकार अर्थात अहंभाव के लिए भी कोई स्थान नहीं है। जो भारतीय संस्कृति के आलोचक हैं वे भले ही यह कहें कि इस संस्कृति की कथनी जैसी है करनी आज नहीं है और यह आलोचना बहुत असत्य है, यह नहीं कहा जा सकता, पर आज भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी दोष दिखाई दे रहे हैं, केवल उसके ही आधार पर भारतीय संस्कृति और उसके द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का मूल्याँकन नहीं किया जाना चाहिए। जो यह मूल्याँकन करना चाहते हैं उनके लिए उचित यह होगा कि वे भारतीय ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन के उस पक्ष को देखें जो उपनिषदों में वर्णित हैं, तभी उन्हें मूल्याँकन के लिए सही कसौटियाँ मिलेंगी और तभी उनका मूल्याँकन पक्षपात रहित होगा।

भारत के अतिरिक्त विश्व में दूसरा ऐसा कोई भी देश नहीं जिसने सात्विकता यानी आध्यात्मिकता को राष्ट्रवाद के साथ जोड़ा हो। यही कारण है कि भारतीय दर्शन और संस्कृति में तथा उससे उत्पन्न राष्ट्रवाद में आतंकवाद व असहिष्णुता के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और आतंकवाद के वास्तविक रिश्तों को यदि समझना है तो और गहराई में उतरना होगा। जब हम यथार्थ के धरातल पर इन रिश्तों की समीक्षा करते हैं तब न तो पूर्ण रूप से कोई तामसिक संस्कृति दिखाई देती है और न कोई पूर्णत: राजसिक और न सात्विक संस्कृति। हाँ जो कुछ भी मानव संस्कृति

में था, है और आएगा अथवा राष्ट्रवाद जिस रूप में आगे भी विकसित होगा उन सभी में तीनों गुणों का समावेश होगा- कहीं अधिक, कहीं कम। जब सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में तामसिकता का बहुत गहराई से प्रवेश हो जाता है तब ऐसी स्थिति सांस्कृतिक आतंकवाद पर्यायवाची बन जाती है। ऐसा राष्ट्रवाद, जिसमें तामसिकता की प्रधानता हो वह अपने अहंकार में इतना लिप्त हो जाता है कि उसे मानवता के विरुद्ध की जाने वाली बर्बरता स्वयं नहीं दिखाई देती। यदि कोई उन्हें इस बर्बरता, हिंसा और रक्तपात की जानकारी दे या उसे प्रस्तुत करे तो वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे।'

कट्टरवादियों और मुख्यत: इस्लामी कट्टरवादियों का इतिहास तो सामूहिक हत्या, सामूहिक बलात्कार, हिंसा, लूटपाट, सांप्रदायिक दुराग्रह से भरा हुआ है। आप 'बाबरवाणी' पढ़िए। गुरुनानक देव जी की वाणी में उनके रचे चार पद सम्मिलित रूप से 'बाबरवाणी' कहे जाते हैं। गुरुनानक के इन पदों में बाबर की बर्बरता, बाबर के द्वारा दी गयी सामान्य जनता की यातनाओं और बाबर के अत्याचारों का लेखा-जोखा परोसा है। 1519 में बाबर ने खैबर दरी पार किया। 1520 में बाबर ने सिंध नदी पार की। उसने आसानी से स्यालकोट पर अपना झंडा फहराया। स्यालकोट से सैदपुर में बाबर के सैनिक घुसे। सैदपुर लहू-लुहान हो गया। अनगिनत अत्याचार हुए। हजारों लोगों को मौत की नींद सुला दिया गया। बंदी बनाकर लोगों को यानी निरीह जनता को कुचला गया, रौंदा गया, घसीटा गया, पीटा गया और अकाल्पनिक यातनाएँ दी गयीं। 1524 में बाबर ने लाहौर को नष्ट किया। यहाँ भी सामान्य जनता पर अत्याचार हुए। 1526 में बाबर ने पानीपत के मैदान में इब्राहिम लोदी को हराकर दिल्ली के तख्त पर कब्जा जमाया। भारत में मुगल राज की नींव पड़ गयी।

गुरुनानक-बाबर के समय जिंदा थे या यों कहिए कि बाबर के समकालीन थे। इतिहास के अध्ययन से साफ पता चलता है कि जब बाबर के सैनिक सैदपुर को धराशायी कर रहे थे तो गुरुनानक और भाई मरदाना सैदपुर में मौजूद थे। इनलोगों ने बाबर की बर्बरता को अपनी आँखों से देखा। बाबरवाणी में गुरुनानक ने बाबर की बर्बरता को इस प्रकार वर्णित किया है :-

जिन सुंदर स्त्रियों के सिरों पर बालों की सुंदर पट्टियाँ बनी थीं, जिनकी माँगों में सिंदूर पड़ा था, बाबर के क्रूर सिपाहियों ने उन्हें काट दिया है और उनमें धूल भर दी है। जो महलों में निवास करती थीं, अब उन्हें

कहीं बैठने का स्थान भी नहीं मिल रहा है। जब ये विवाह करके आई थीं, इनके दूल्हे इनके साथ शोभायमान थे। ये डोली में बैठकर आई थीं। इन्होंने हाथी दांत के सुंदर चूड़े पहने थे। उनकी सासें उन पर जल न्योछावर करती थीं। दासियाँ उनपर पंखे डुलाती थीं। उनपर बैठते-बैठते लाखों रुंपये का शगुन पड़ता था। वे गरी-छुहारे खाती थीं। वे मोती की माला पहनती थीं।

जिन धन और यौवन ने उन्हें आनंद के रंग में डुबो रखा था, वही अब उनके बैरी हो गए थे। अब बाबर के सिपहसालार उनकी इज्जत लूट कर चले गए हैं। यहाँ के शासक रंगरेलियों में डूबकर अपनी सुध-बुध खो बैटे थे। यदि ये पहले से चेत जाते तो इन्हें ऐसी सजा क्यों मिलती? अब तो चारों ओर बाबर का आदेश ही चल रहा है। अब तो शाहजादों और राजकुमारों को रोटी भी नसीब नहीं हो रही है। हिंदू पूजा नहीं कर पा रहे हैं। मुसलमानों को नमाज का वक्त नहीं मिलता। जिन्हें कभी राम नाम का भी स्मरण नहीं रहा है। कुछ स्त्रियों के आदमी तो घर आ गए हैं किंतु कितनी ऐसी हैं जो अपने घरवालों को इधर-उधर पूछती फिरती हैं। नबावों, राजाओं की दुर्दशा हो गयी है। उन्हें अब रोटी भी नसीब नहीं हो रही है।

बाबर के सेनाओं ने उनके पवित्र स्थान नष्ट कर दिए। तुरकानियों, भटिआनियों, ठकुरानियों-सभी के वस्त्र फाड़ दिए गए। जिन स्त्रियों के पति घर नहीं वापस आए, उनकी रातें सुनी हो गईं। देखो, बाबर पाप की बारात लेकर काबुल से इस ओर चढ़ आया है और वह जबरदस्ती इस देश को कन्यादान माँग रहा है। शर्म और धर्म दोनों ही कहीं छिप गए हैं। चारों ओर झूठ की प्रधानता दिखाई दे रही है। अब ब्राह्मणों और काजियों को कोई पूछता नहीं। विवाह को संपन्न कराने का काम शैतान कर रहे हैं। मुसलमान स्त्रियों पर इतने जुल्म हो रहे हैं कि वे कष्ट में खुदा को पुकार रही हैं। हिंदू स्त्रियों का भी ऐसा ही हाल हो रहा है। एक दिन ऐसा आएगा जब इस देश की काया पर पड़ा हुआ कायरता का कपड़ा तार-तार हो जाएगा और हिंदुस्तान अपनी आवाज को पहचानेगा। (बाबरवाणी के ये अंश डॉ. महीप सिंह के आलेख - 'बर्बरता के साक्षी गुरुनानक देव' से उद्धृत किए गए हैं।)

यहाँ पर हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि जब भी राष्ट्रीयता का क्षरण होगा, आतंकवाद की बर्बरता विकराल रूप लेकर हमें निगल जायेगी। बाबरवाणी में ही गुरुनानक देव लिखते हैं, ''हे प्रभु, तुमने खुरासान को तो अपना बना लिया है और हिंदुस्तान को डर दिया। अपने

आपको दोष न देने के लिए तुमने मुगलों को यमदूत बना कर यहाँ भेज दिया। इस देश के लोगों की ऐसी दुर्दशा हुई कि वे पीड़ा से चीत्कार करने लगे। उनका यह चीत्कार सुनकर भी तुम्हारे मन में कोई दर्द पैदा नहीं हुआ। तुम तो सभी के पालनहार हो। यदि एक बलवान व्यक्ति दूसरे बलवान व्यक्ति को मारे तो मन में रोष नहीं उत्पन्न होता, किंतु यदि एक बलशाली शेर निरीह गाय पर आक्रमण कर दे तो स्वामी से उसकी पूछ होनी चाहिए। सच बात तो यह है इस देश के शासकों ने रत्न समान सुंदर देश को बिगाड़ कर रख दिया। क्या आज भी आप नहीं सोचते कि जो बात गुरुनानक ने बाबर के समय भारतीय शासकों के बारे में कही वह आज भी शत-प्रतिशत सही है? अगर हमारे शासक अब भी नहीं जगे तो इस्लामिक बाबरों द्वारा हमारा सुंदर भारत फिर उसी धरातल में ढकेल दिया जायेगा जिसमें बाबर ने ढकेला था।

आज जरूरत है आतंकवादी मानसिकता को ध्वस्त करने की और राष्ट्रवादी मानसिकता को बढ़ावा देने की। अगर ऐसा नहीं हुआ तो आतंक के बीज अंकुरित होकर हमें धूल-धूसरित कर देंगे। हम आज भी अंध विश्वास में डुबकी लगा रहे हैं और हमारे समाज का ब्राह्मणवादी वर्ग यज्ञ, हवन, पूजा और ज्योतिष शास्त्र के द्वारा आतंकवाद से जूझना चाहता है। इन अँधविश्वासियों ने बाबरवाणी से कोई सबक नहीं ली। बाबरवाणी में गुरुनानक देव कहते हैं-

''पीरों, फकीरों ने बाबर पर जादू-टोने किए, किंतु उसका कोई लाभ नहीं हुआ। कोई मुगल अंधा नहीं हुआ। कोई करामात काम नहीं आई। मुसलमानों में युद्ध भूमि की ओर जाते हुए सिपाहियों की पताकाओं पर कुरान शरीफ की आयतों को लिख टांक दिया जाता था। पताकों पर टांकी कोई पर्ची काम नहीं आई।''

भारतीय संस्कृति ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' और 'सर्वधर्म समभाव' की शिक्षा दी। इस संस्कृति ने संपूर्ण मानवता को परमपिता परमेश्वर की संतान कहकर संबोधित किया। हमारी संस्कृति कहती है:-

अव्वल अल्लाह नूर उपाया,
कुदरत के सब बंदे।
एक नूर ते सब जग उपज्या।
कौन भले कौन भंदे।।

हमारी संस्कृति ने मानव को चेतन करने का उपदेश दिया है:-

निद्रा, भोजन, भोग, भय से पशु पुरुष समान,
जान अधिक इक नरानि ने, जाय बिना पशु जान।

किंतु अफसोस और दुख तब होता है जब बिन लादेन के इस्लामिक आतंकवादी हमें पशु, सूअर, डरपोक, कायर, नपुंसक, हिजड़ा इत्यादि-कहकर काफिर करार देते हैं और शान से कहते हैं कि या तो इस्लाम कबूल कर बहादुर मुस्लिम बन जाओ या गीदड़ की मौत मार दिये जाओगे। जब से इस्लाम आया, हमारी संस्कृति और सभ्यता पर प्रहार होता रहा। यह इतिहास का सार है।

आज की परिस्थिति यह है कि डेमोग्रॉफी का क, ख, ग भी जानने वाला पूछता है कि भारत इस्लामिक राष्ट्र कब बनेगा- 2071, 2081, 2091 या 2101 में ??? क्योंकि आजादी के समय 08 प्रतिशत मुसलमान आज 15 प्रतिशत हो गये हैं। बिन लादेन का इस्लामिक आतंकवाद पूरे भारत को अपने रंग में सराबोर कब करेगा?

भारतीय संस्कृति का संबंध दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों से हुआ है। भारतीय और विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में आने वाली किसी भी संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को नीचा दिखाने या ध्वंस करने की कोई भी कोशिश नहीं की। इसका अपवाद केवल और केवल इस्लाम है। इस्लामी आक्रमणकारियों ने बर्बरता की सारी सीमाओं की तिलांजलि दे दी और भारत की सत्ता को दखल करने के बाद भारत की अस्मिता पर चोट मारा। भारतीयता तो उनका पहला निशाना यानी एनमी नं.-1 था। हमारा इतिहास बतलाता है कि यहूदी भी आए, पारसी भी आए, शक भी आए, हूण भी आए किंतु इनमें किसी ने भारतीयता का अनादर नहीं किया। सीरिया से सैकड़ों ईसाई परिवार, ईसा मसीह की मृत्यु के पश्चात् आकर केरल में बस गये। अगर हम गहराई में जाकर चिंतन और मंथन करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में कुछ ईसाई मिशनरियों ने हिंदुओं पर अत्याचार कर उन्हें ईसाई बनाया। इस तरह के हादसे गोवा और दक्षिण भारत में हुए, किंतु ज्यादा दिनों तक यह नहीं चल सका। कुछ ईसाई मिशनरियाँ आज भी धर्मांतरण में लगी हैं और पूरे भारत को ईसाई बनाने का शेखचिल्ली का सपना साकार करने का प्रयास कर रही हैं एवं आतंकवाद का सहारा लेना भी जायज समझती हैं। फिर भी ये ईसाई मिशनरियाँ इस्लामी कट्टरवादिवों से बहुत ही अच्छी हैं। ये मानवता का आदर करती हैं हिंदुओं

को भी मानव समझती है, किंतु इस्लामी कट्टरवादी केवल सामूहिक नरसंहार, हिंसा, लूटपाट, सामूहिक दुराग्रह और यातना में आस्था रखते हैं। इनके अनुसार हिंदू एक कायरों की जमात का नाम है जिसे जिंदा रहने का कोई हक अल्लाह ने नहीं दिया है। या तो हिंदू जमात इंस्लाम की शरण में आ जाय या कत्ल होकर अल्लाह को प्यारी हो जाय इनके सामने और कोई रास्ता नहीं है।

यह बतलाना अत्यावश्यक है कि इस्लामिक कट्टरवादी भारतीय अस्मिता के साथ कोई भी समझौता अपनी तौहीनी समझते हैं। नरेन्द्र मोहन अपनी पुस्तक, ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' में ''विश्व शांति की चुनौतियाँ'' में लिखते हैं- ''इस्लामिक कट्टरवाद भारत की अस्मिता और चेतना के साथ तनिक भी समझौता नहीं करना चाहता। आतंकवाद प्रधान इस इस्लामी कट्टरवाद की प्रतिक्रिया जब भारत में होने लगी है प्रतिक्रियास्वरूप जगह-जगह सांप्रदायिक दंगे भी होने लगे हैं। ये दंगे भारतीय संस्कृति के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती हैं। इन्हें रोकना होगा। 27 फरवरी 2002 को गुजरात के गोधरा में जो नृशंस नरसंहार हुआ और हिंदू तीर्थयात्रियों को रेल के डिब्बों में जिंदा जला दिया गया। वह इस्लामी कट्टरवादियों द्वारा अपनाए गए आतंकवादी मार्ग की पराकाष्ठा थी। गोधरा कांड की इतनी भीषण प्रतिक्रिया हुई कि सारा गुजरात सांप्रदायिक दंगों से जल उठा। इन दंगों में हिंदुओं का एक वर्ग आतंकवाद का समर्थक हो गया। इन सारी स्थितियों का समाधान यही है कि कट्टरवाद और रूढ़िवादिता जहाँ भी हो और जो भी धर्मग्रंथ किसी भी तरह से आतंक, हिंसा और अराजकता को मान्यता देते हों उन धर्मग्रंथों से ऐसे अंगों को निकाल दिया जाए। क्या इसे इस्लाम के पक्षधर स्वीकार करेंगे? ऐसा नहीं है कि विश्व ने इस्लाम की इस आक्रमक चुनौती का सामना करने के लिए विचार-विमर्श नहीं किया। विचार-विमर्श हुआ, अनेक स्तरों पर हुआ, राष्ट्रसंघ में भी इस्लामी आतंकवाद से जुड़े मसलों पर अनेक बार चर्चा हुई, प्रस्ताव पारित किए गए, अनेक घोषणा-पत्र बने और इन घोषणा-पत्रों पर अनेक राष्ट्रों ने हस्ताक्षर भी किए, लेकिन स्थिति सुधर गई हो, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि विश्व का कोई भी राष्ट्र यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि उसने आतंकवाद को एक हथियार के रूप में प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। मौखिक रूप से हर राष्ट्र आतंकवाद का विरोधी है, लेकिन मानसिक रूप से विश्व के अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जो आतंकवाद के समर्थक हैं। ऐसे राष्ट्रों में इस्लामी राष्ट्रों की संख्या सर्वाधिक है। बात चाहे उस आतंकवाद की हो

जिसका प्रयोग अफगानिस्तान के शासकों ने अपनी ही जनता के विरूद्ध किया या उस आतंकवाद की जिसे पाकिस्तान के विभिन्न प्रशिक्षण केंद्रों में जेहाद के नाम पर सिखाया जाता है। दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। अफगानिस्तान की आतंकवादी सत्ता को तो अमेरिका ने लगभग ध्वस्त कर दिया, लेकिन अभी केवल आतंकवादी सत्ता ही ध्वस्त हुई है और इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि आतंकवादी मानसिकता ध्वस्त नहीं होगी तो आतंकवाद के बीज अवसर पाते ही अंकुरित होंगे और सारे विश्व को संतप्त करेंगे। आतंकवाद द्वारा पोषित ये विष-वृक्ष मजहबी कट्टरता की देन हैं। ये विष-वृक्ष इसलिए अंकुरित और पोषित हैं, क्योंकि जो भी उनके समर्थक हैं उनकी यह मान्यता है कि केवल उनके ही मार्ग पर चलकर विश्व का कल्याण हो सकता है। बात चाहे उन चुनौतियों की हो जो ओसामा बिन लादेन सरीखे आतंकवादियों ने दी है या उन चुनौतियों जो मध्य युग में उस समय दी गई जब धर्मयुद्ध यानी जेहाद- का नाम लेकर एक के बाद एक राष्ट्र ध्वस्त किए गए। इन सभी की जड़ में मानव का अपना राजनीतिक स्वार्थ और अहंकार ही रहा है। जब कोई भी शक्ति अति महत्वाकांक्षा के चलते स्वार्थ और अहंकार से ग्रसित हो जाती है तब वह निरीह-से-निरीह नागरिकों की सामूहिक हत्याएँ करने से भी नहीं चूकती।''

आज की विश्व शक्तियाँ लोकतांत्रिक मूल्यों और मान्यताओं पर अपनी प्रतिबद्धता संपूर्णता से व्यक्त नहीं करती हैं और इसलिए आतंकवाद के पनपने में रूकावट नहीं के बराबर है। अधिकार और कर्त्तव्य को एक दूसरे से बाँधने की वकालत नरेन्द्र मोहन ने भी की है। उनके अनुसार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में स्वेच्छाचारिता के लिए कोई जगह नहीं है। स्वेच्छाचारिता अंतत: मानव को आतंकवाद की ओर ढकेल देती है। 'क्रांति' पर नरेन्द्र मोहन स्पष्ट कहते हैं कि ''क्रांति का लक्ष्य होना चाहिए लोक-कल्याण, न कि राजनीतिक स्वार्थो के लिए किए जाने वाले सामूहिक नरसंहार। मानव के विकास में क्रांति का बड़ा योगदान है, लेकिन यदि उसका उद्देश्य हिंसा द्वारा सत्ता हथियाना हो जाए तब फिर ऐसी क्रांति की आड़ लेकर जो कुछ भी किया जाता है उसे 'आतंकवाद' ही कहा जाएगा। 21वीं शताब्दी में किसी भी राजनीतिक उद्देश्य के लिए किया जाने वाला नरसंहार निकृष्ट कोटि का 'आतंकवाद' है। सत्ता में परिवर्तन लाने के लिए जो भी ऐसे मार्ग को अनुसरण करना चाहते हैं उन्हें कम से कम 21वीं शताब्दी में तो मान्यता नहीं दी जा सकती। मानव मूल्यों

और मानव अधिकारों को धता बताने वाली तानाशाही सत्ता के विरूद्ध जन संघर्ष तो होगा ही। ऐसा संघर्ष निरंकुश सत्ता के विरुद्ध होना चाहिए न कि सामान्य जनता के विरुद्ध। क्रांति की आड़ में लूटपाट, हत्या और अराजकता कों मान्यता नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह स्थिति तो पूर्णतया मानव विरोधी है। केवल उसे ही क्रांति कहा जा सकता है जिसे वास्तव में सामान्य जनता का समर्थन हो, लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि क्या ऐसी क्रांतियों को हिंसा का मार्ग अपनाने का अधिकार है?

आज का विश्व जिस सबसे बड़ी समस्या से जूझ रहा है उस समस्या का नाम 'इस्लामी आतंकवाद' है। आज विश्व सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में है। चुनौती गहनतम है। कुछ विचारकों के विचार से इस्लाम के जन्म से ही विश्व सभ्यता कहरने लगी, कांपने लगी, डगमगाने लगी, क्योंकि इस्लाम ने हिंसा और कत्ल को अपनाया और उद्येश्य पूर्ति का साधन बनाया। पैगंबर हजरत मोहम्मद साहब की मृत्यु सन् 632 ई. में हुई। उनकी मृत्यु के करीब बीस सालों के अंतराल में हिंसक आक्रमण द्वारा पश्चिम एशिया के मुख्य भाग को धूल में मिला दिया गया। सन् 634 ई. से यानी मोहम्मद साहब की मृत्यु के दो साल बाद ही इस्लामी आतंकवादियों ने भारत की पवित्र भूमि को नरक बनाना शुरू कर किया। इस्लामी फौजों ने भारत ने बच्चों और औरतों को भी नहीं बख्शा। सामूहिक हत्या, सामूहिक बलात्कार और भय के द्वारा इस्लामिक आतंकवादियों ने भारत की कमर तोड़ डाली।

यह कहना सत्य की कसौटी पर खरा है कि आज इस्लामिक आतंकवादी कहीं हिन्दुओं को कत्ल कर रहे हैं तो कहीं ईसाईयों को, कहीं बौद्धों को तो कहीं यहूदियों को। क्या विश्व का कोई भी कोना इन इस्लामिक रक्तपिपासुओं से सुरक्षित है? ये रक्तपिपासु तो कम्यूनिस्ट रूस और चीन को भी कुछ महत्व नहीं देते और सर्वशक्तिमान अमेरिका का रक्त इन्हें अमृत लगता है। इनकी रक्त की प्यास इतनी तीव्र है कि जब कोई नहीं मिलता तो मुसलमानों को ही दबोच लेते हैं और इन्हीं के खून से प्यास बुझाते हैं। यही कारण है कि शिया-सुन्नी युद्ध तथा अहमदिरों और सुन्नियों में युद्ध की कहानियाँ हम सुनते रहते हैं। इस्लामी विश्व में कभी इराणियों और इराकियों का युद्ध, कभी कुर्दो और इराकियों का युद्ध, हिंसा, लूटपाट आदि इस्लामिक आतंकवादियों की जीवनशैली है। भारत पिछले तेरह-चौदह सौ वर्षो से इन आतंकवादियों की चपेट में यातनाएँ भोग रहा है। इस्लामिक आतंकवादियों की

प्रहार क्षमता और ध्वंस करने की ताकत आसमान छू रही है।

आज का आधुनिक आतंकवाद सही मायने में इस्लामिक आतंकवाद है, किंतु दुनिया की कोई शक्ति इसे इस नाम से पुकारने में थर्राती है। क्यों? यह इसलिए कि विश्व की जो भी ताकत कठोर सत्य बोलने का प्रयास करेगी उसकी नींव ही नहीं, चूलें भी हिल जायेंगी। उनका राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचा चरमरा जायेगा। दंगा भड़क सकता है और वोट बैंक डगमगा सकता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि मुस्लिम संगठन या तो चुप्पी साध लेते हैं या आतंकवाद को आजादी की लड़ाई करार कर कन्नी काट जाते हैं।

वरिष्ठ स्तंभकार भानुप्रताप शुक्ल ने अपने आलेख 'आसान नहीं है आतंकवाद का दमन' (दैनिक जागरण, सोमवार, 24 नवंबर 2003) में लिखा है- ''अभी हाल में महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम द्वारा विश्व हिंदी सम्मान तथा जार्ज ग्रियर्सन पुरस्कार से अलंकृत चिंतक, लेखक, पत्रकार लंदनवासी नरेश भारतीय ने इन्हीं प्रश्नों की परतें उलटने वाली आतंकवाद नामक एक पुस्तक लिखी है। तथ्यों के विश्लेषण पर आधारित इस प्रमाणिक और शोधपरक पुस्तक में कई बड़े महत्व के प्रश्न उठाए गए हैं।

आतंकवाद के विरूद्ध अभियान में आने वाली समस्याओं के विषय में नरेश भारतीय ने यह प्रश्न भी उठाया है कि जहाँ कहीं भी इस विषय पर काबू पाने में किंचित भी सफलता मिलती है वहीं निरंतर यह आशंका क्यों बनी रहती है कहीं बुझी हुई आग शोला बनकर भड़क न उठे? आतंकवाद के इतिहास पर शोध करते हुए श्री भारतीय लिखते हैं कि 'आतंकवाद का विष-बीज उस हिंसाग्रस्त काल की देन है जिसे मध्ययुग कहा जाता है। यह विश्व के एक भूभाग पर उभरे एक ऐसे मजहबी संघर्ष का सीधा परिणाम है जब पूर्व प्रस्थापित को विद्रोहात्मक चुनौती दी गई थी। आधुनिक आतंकवाद 21वीं शताब्दी की सबसे बड़ी चुनौती है। यह मुख्य रूप से जिहादी संस्कृति की छाया में पलने वाला इस्लामी आतंकवाद है जो विस्तारवादी पुट लिए हुए है।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए लेखक ने चीन, रूस, अमेरिका, ब्रिटेन एवं यूरोप के अन्य देशों, पश्चिमी एशिया और भारतीय भूखंड का उदाहरण दिया है, इसी संदर्भ में वे पूछते हैं कि कौन सा मजहब

है जो एक दूसरे से बैर सिखाता है? कौन सा मजहब है जो इंसानों के विरुद्ध हत्याओं, अपहरणों, बलात्कारों और विनाश की राह पर धकेलता है? यदि कोई ऐसा मजहब है जो किसी बहाने इस प्रकार के आतंकवाद को बढ़ावा देता है, तो वह मानव रक्षक नहीं, मानवता विरोधी हो सकता है। आतंकवाद पर इतना सब कुछ लिख देने के बाद भी वह आतंकवाद और अन्य प्रकार की इस्लामी हिंसा के मूल में जाने से न जाने क्यों कतरा जाते हैं?''

नरेश भारतीय ने अपनी पुस्तक 'आतंकवाद' पर लिखते हुए यह सुलगता हुआ सवाल उछाला है कि 'यदि यह सच है कि आज के युग में ऐसा कोई मजहब नहीं जो यह सब सिखाता हो तो फिर जिहाद के नाम पर किए जा रहे आतंकवादी कृत्यों का कोई औचित्य नहीं है। आतंकवाद का विष-बीज मध्यकाल की ही देन है। बड़े-बड़े नामी गिरामी लेखक और ख्यातिप्राप्त हस्तियाँ अकेले में इस्लामी आतंकवाद किसी नैतिकता या मर्यादा का कोई ख्याल नहीं रखता। इस्लामी आतंकवादियों ने पूर्वकाल में कुओं में जहर मिलाया है, खड़ी फसलों को आग के लपटों के हवाले किया है और निशस्त्र सामान्य नागरिकों का नरसंहार किया है। भानुप्रताप शुक्ल लिखते हैं, ''स्पष्ट है कि आधुनिक आतंकवादियों की मध्यकालीन मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।'' ब्रिटिश संसद की आपातकालीन बैठक में ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने कहा था, ''हम जानते हैं कि वे ऐसा कर पाए तो रासायनिक और जैविक अस्त्रों, यहाँ तक कि व्यापक विनाश के परमाणु अस्त्रों तक का प्रयोग कर सकते हैं।'' पूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्रीमती थैचर ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी है कि ''यह और कुछ नहीं, इस्लामिक आतंकवाद है।'' टोनी ब्लेयर के ब्रिटिश संसद में दिए गये बयान और श्रीमती थैचर के साहसिक वक्तव्य से यह पूर्वरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि आज का विश्व इस्लामिक आतंकवाद रूपी बारूद के ढेर पर विराजमान है। ये आतंकवादी जब चाहे, जहाँ चाहे, रिमोट कंट्रोल द्वारा भयानक और व्यापक नरसंहार को अंजाम दे सकते हैं। आज का विश्व इस्लामिक आतंकवादियों की मुठ्ठी में है।

भानुप्रताप शुक्ल नरेश भारतीय की पुस्तक- 'आतंकवाद पर लिखते हैं- लेखक ने बामियान प्रकरण से 11 सितंबर के न्यूयॉर्क हमले, 13 दिसंबर के भारतीय संसद पर हमले येरूशलम पर लगातार चल रहे हमलों, कश्मीर, दिल्ली-लाहौर बस और उसके बाद कारगिल, कंधार ले जाए गए भारतीय विमान, आगरा शिखर सम्मेलन की विफलता, अफगानिस्तान पर

अमेरिकी हमला आदि विषयों पर ढेर सारी शोध सामग्री संकलित करके पुस्तक को अत्यंत पठनीय और सारगर्भित बनाने का सफल प्रयास किया है। पुस्तक के अंत में उन्होंने लिखा है ''आतंकवाद के पीछे एक ऐसी ताकत है जिसने एक महासंहारक आतंकी भस्मासुर की प्राण प्रतिष्ठा कर रखी है, जो मरा नहीं, अभी जीवित है। वह जब तक नहीं मरेगा जबतक वह सोच नहीं मरती जो उसे जीवन देती है। 21वीं शताब्दी में आतंकवाद को निरस्त करने के लिए एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ेगी। विश्व का, जिसने उसे शक्तिमान बनाने और बनने देने की अक्षम्य और महती भूल की है।''

आतंकवाद खासकर इस्लामिक आतंकवाद के फलस्वरूप पश्चिमी देशों में विदेशियों के प्रति असहिष्णुता बढ़ी है। हॉलैंड की संसद द्वारा एक ऐसा कानून पारित किया गया है जिसके द्वारा देश में कई दशकों से रह रहे 2,60,000 मुस्लिम नागरिकों को देश से निकाल दिया जायेगा। नीदरलैंड (हालैंड) जातीय घृणा से दहक रहा है। असहिष्णुता और घृणा की आग इतनी तेज है कि दक्षिणपंथी नागरिक और नेता हॉलैंड में रहने वाले 3,41,000 तुर्की मूल के, 2,95,000 मोरक्की, 42,000 इराकी और 34,000 अफगानी मूल के लोगों को देश से धक्का देकर निकालने का बहाना तलाश रहे हैं। घृणा की यह प्रवृत्ति हॉलैंड के अतिरिक्त इटली, ऑस्ट्रिया और यूरोपीय संघ के विकसित देशों जैसे जर्मनी और फ्रांस में भी उठी है। मुस्लिम नागरिकों को बेदखल करने की उनकी सोची-समझी चाल के पीछे यह भावना ही काम कर रही है कि ये मुस्लिम इस्लामिक आतंकवादियों के साथ मिलकर देश को छिन्न-भिन्न कर देंगे। मुस्लिम समाज और उनकी जीवन शैली पर आपत्तिजनक टिप्पणी वहाँ के अखबारों में आम बात है। यह भ्रम फैलाया जाता है कि मुसलमान अलगाववादी और जन्मजात अपराधी हैं। इस तरह के प्रचार के लिए कुछ मामूली और अपवाद स्वरूप घटनाओं को नमक मसाला लगाकर उछाला जाता है। उदाहरण के लिए पेरिस के सर्वीनगर बौन्ड्री में फलस्तीनी मूल के नागरिकों ने एक यहूदी 'सिनेगाग' जला डाला। एक फुटबाल क्लब के सदस्यों को फलस्तीनियों ने बेसबॉल बैट से पीट कर घायल कर दिया। 2003 में पेरिस के बाहर, आर्थोडॉक्स चर्च के एक प्राथमिक स्कूल को मुस्लिम नौजवानों ने आग लगाकर राख में परिवर्तित कर दिया। करीब छः लाख यहूदी और पाँच लाख मुस्लिम फ्रांस में रह रहे हैं। फ्रांस का एक वर्ग आतंकवाद का बहाना लेकर तनाव की स्थिति पैदाकर इस जनसंख्या का पलायन चाहता है। आँकड़ें

बतलाते हैं कि 2001 में तीन सौ नब्बे और 2002 में करीब छब्बीस सौ यहूदी फ्रांस छोड़कर इजरायल की शरण में चले गये। 2003 में तीन हजार से भी अधिक यहूदी फ्रांस से भागे। जीन लेपिन जो फ्रांस में राष्ट्रपति चुनाव जैक शिराक के खिलाफ लड़ रहे थे, ने मुसलमानों को ओसामा बिन लादेन और तालिबान का समर्थक कहकर देश से निष्कासित करने की धमकी दी थी। ऑस्ट्रिया के जोर्ग हैदर ने अप्रवासी मुस्लिमों की उपस्थिति को देश की सुरक्षा के लिए खतरा बताया। बेल्जियम व जर्मनी में भी इस्लाम का विरोध हो रहा है। जर्मनी में 2003 में एक तुर्क परिवार को जिंदा जला दिया गया। इंग्लैंड की पूर्व प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर ने गार्जियन में एक आलेख द्वारा पश्चिमी राष्ट्रों से अपील की कि वे 'आक्रामक इस्लाम' से एक साथ लड़ें जैसे साम्यवाद से संघर्ष किया गया। बेल्जियम के ब्लाम्स बलौक दल के नेता फिलिप डेवेंटर, डोनमार्क की डेनिश पीपुल्स पार्टी के जारेस गार्ड, जर्मनी के रोनाल्ड शिल, नीदरलैंड (हॉलौंड) के पिम फौरटुइन और ऑस्ट्रिया की फ्रीडम पार्टी के जोर्ग हैडर इस्लाम के विरूद्ध कसम खाने वालों में प्रमुख हैं। फौर टुइन (54 वर्षीय) ने अपने देश के मुस्लिम नागरिकों को 'फालोअर्स ऑफ होमोफ्रोबिक फेथ' यानी मानवद्रोही विश्वास के अनुयायी कहाँ इटली के प्रधानमंत्री बर्लुस्कानी इस्लाम विरोधी बयानबाजी के लिए पूरे विश्व में जाने जाते हैं। (टिप्पणी – ऊपर उद्धृत आंकड़े दैनिक जागरण, रविवार, 21 मार्च, 2004 के हैं। ये आंकड़े श्री हरिकृष्ण निगम के लेख 'पश्चिम में घृणा की वापसी' से लिए गये हैं।)

बहुत ही खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारत में मीडिया इन तथ्यों को सतह पर जान-बूझकर नहीं लाती और जो खुलासा करने को आतुर दिखाई देते हैं उन्हें मुस्लिम विरोधी, नाजीवादी, फ़ासीवादी आदि की संज्ञा से संवारकर अलग-थलग कर दिया जाता है। यूरोपीय विषाक्त संस्करणों पर हमारा मीडिया एक 'फिल्टर' बन जाता है। यह स्थिति देश के लिए खतरनाक है। ऐसा करके हम पिछले दरवाजे से इस्लामिक आतंकवाद की मदद कर रहे हैं। इस मदद से उत्साहित इस्लामिक आतंकवादी हमारा सर कलम कर देगा और इसकी सारी जिम्मेदारी हमारी मीडिया की होगी। ये मीडिया के भाई लोग हिंदू संगठनों की छोटी बात को तिल का ताड़ बना देते हैं और बात का बतंगड़ कर घृणा, असहिष्णुता और आतंकवादी विचारधारा में शक्ति देते हैं। क्या मीडिया का एक वर्ग, विदेशी ताकतों की सहायता से,

भारत को खंडित करने में जुटा है? यह प्रश्न काफी सटीक है और इसपर व्यापक चर्चा की आवश्यकता है। देश की गुप्तचर संस्थाओं को भी मीडिया पर पैनी नजर रखनी चाहिए अन्यथा अनर्थ हो सकता है। बाद में पछताने से कोई फायदा नहीं होगा।

युद्धोन्माद में सामूहिक नरसंहार मध्य युग में यह काम इस्लामिक आतंकवादी ही सबसे ज्यादा कर रहे हैं। पाकिस्तान छद्म युद्ध के माध्यम से आतंकवाद का समर्थन कर रहा है। आज के युग में यानी 21वीं शताब्दी में मध्य युग को दोहराया जा रहा है। अब तो बात इतनी आगे बढ़ गयी है कि पाकिस्तान परमाणु हथियारों की प्रहार क्षमता दिखाकर भारत को आतंकित कर रहा है। यही है आतंकवाद का परमाणुकरण। आतंकवाद का सहारा लेने वाला कभी सांस्कृतिक, कभी सामाजिक, कभी मजहबी और कभी मंडल-कमंडल की आड़ में आतंकवाद को बढ़ाता है। भारत के बिहार में आतंकवाद मंडल-कमंडल की मान्यताओं पर आधारित है। रूस को चेचेन्या में जिस आतंकवाद का सामना करना पड़ रहा है उसका नाम 'मुक्ति आंदोलन' है। चीन भी 'मुक्ति आंदोलन' रूपी आतंकवाद से रू-ब-रू हो रहा है। पाकिस्तान कश्मीर को छद्म युद्ध के माध्यम से 'मुक्ति आंदोलन' का ब्रांड नाम देकर - अपनी इस्लामिक गोद में बैठा लेना चाहता है। पाकिस्तान मजहबी जुनून, जिसके कारण 1947 में भारत का विघटन हुआ था, का भरपूर इस्तेमाल कर रहा है। पाकिस्तान जानबूझकर इस बात की अनदेखी कर रहा है कि इंडिया का विभाजन इंडिपेंडेंस एक्ट के अंतर्गत हुआ था और वह एक्ट ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया था। इस एक्ट के अनुसार तत्कालीन भारत में जो रियासतें थीं वे अपनी मर्जी के अनुरूप भारत या पाकिस्तान में जा सकती थीं। कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने भारत को अपनाया। अत: कानून के तहत कश्मीर का पूर्ण विलय तो भारत में हो चुका है। बाकी इतिहास को यहाँ दोहराना बेकार है। सवाल यह है कि भारत पाकिस्तान के छद्म युद्ध का मुकाबला कर अपनी संस्कृति, सांस्कृतिक अखंडता और प्रभुसत्ता की रक्षा कर पायेगा और राष्ट्रवादिता के कर्तव्य का पालन कर पायेगा? यह स्पष्ट हो चुका है कि पाकिस्तान भारत की प्रभुसत्ता और अखंडता को दिल से नहीं मानता। वह भारत की भौगोलिक सीमाओं को आतंकवाद द्वारा बदल देने की कसमें खा चुका है। पाकिस्तान ने आतंकवाद का परमाणुकरण कर भौगोलिक सीमाओं को परिवर्तित करना अपना इस्लामिक

धर्म समझा है। राष्ट्रसंघ की संस्था 'इंटरनेशनल एटॉमिक एनर्जी' ने परमाणु आतंकवाद के मसले पर गहनतम विचार-विमर्श किया है। दुनिया के इतिहास में यह पहली घटना है जब किसी राष्ट्र ने परमाणु युद्ध की खुलेआम धमकी दी हो और इसके बावजूद विश्व के शिखर राष्ट्र नपुंसकता का परिचय दिए हों।

नरेन्द्र मोहन अपनी पुस्तक 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' में स्पष्ट कहते हैं कि -''जो राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की प्रभुसत्ता और अखंडता को मान्यता नहीं देते उन राष्ट्रों को आतंकवादी करार देने में ही विश्व का हित है। विश्व में जो भी आतंकवादी शक्तियाँ हैं वो अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किसी भी हद तक जा सकती हैं। वे परमाणु हथियारों का भी प्रयोग कर सकती हैं और रासायनिक तथा जैविक हथियारों का भी। कुल मिलाकर इन सभी के विरूद्ध सारे विश्व को सचेत और सक्रिय होना होगा। सौभाग्य से विश्व में शीत युद्ध समाप्त हो चुका है और शिखर राष्ट्र ऐसी स्थिति में पहुँच चुके हैं कि वे परमाणु युद्ध अथवा जैविक युद्ध अथवा रासायनिक युद्ध की धमकियाँ देने वालों पर करारा प्रहार कर सकें। अगर ऐसा नहीं हुआ तब फिर आतंकवाद ने सारे भूमंडल को जो चुनौती दी है वह और भी भयानक सिद्ध हो सकती है। इतिहास में ऐसे कालखंड भी हैं जब आंतरिक विद्रोहियों द्वारा राष्ट्र की संकल्पना को ही चुनौती दी गई। ये आतंकवादी अपने आपको 'मुक्ति आंदोलन' या 'मुक्ति युद्ध' का सिपाही मानते हैं। क्या है 'मुक्ति युद्ध' और क्या है विद्रोह इसकी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक राष्ट्रसंघ के स्तर से स्वीकृत नहीं है और इसका सर्वाधिक लाभ आतंकवादियों को ही मिल रहा है।''

भारत का पड़ोसी बांग्लादेश आतंकवाद का विशाल गढ़ और किला बनता जा रहा है। इस देश को आजाद करवाने में हमने अर्थात् भारत ने अपने सैनिकों का बलिदान किया, कुर्बानियाँ दी, किंतु आज यही बांग्लादेश हमारी सुरक्षा के लिए महान खतरा बन चुका है। बांग्लादेश-पश्चिम बंगाल, असम, बिहार, मिजोरम, त्रिपुरा व मणिपुर राज्यों से जुड़ा है। यही कारण है कि बांग्लादेश से सटे भारतीय राज्यों में आतंकवादी गतिविधियाँ काफी तादाद में हो रही हैं। पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था आई.एस.आई. -बांग्लादेश में आतंकवाद का प्रशिक्षण दे रही है। समाचार पत्रों के अनुसार बांग्लादेश में कम से कम 78 उग्रवादी शिविर हैं और भारत ने इसकी सूची सार्वजनिक तौर पर बांग्लादेश को सौंपी है। इस सूची में असम का उग्रवादी

संगठन यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (उल्फा) भी है। उल्फा के 27 प्रशिक्षण केंद्र बांग्लादेश में हैं। समाचार पत्रों के अनुसार नेशनल सिक्योरिटी काउंसिल ऑफ नागालैंड इसाक मुइवा गुट (एन.एस.सी.एन. आई आई एम) के 14, नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रंट ऑफ बोडोलैंड (एन.डी.एफ.बी.) के 14, मेघालय के अचिक नेशनल वालंटियर्स काऊंसिल (ए.एन.बी.सी.) के नौ, मुस्लिम यूनाइटेड लिबरेशन टाइगर्स आफ असम (मल्टा) के पाँच, पीपुल्स लिबरेशन आर्गनाइजेशन (पीएलओ) के तीन तथा इस्लामिक यूनाइटेड रिफार्मेशन प्रोटेस्ट आफ इंडिया के भी तीन शिविर हैं। उग्रवादी संगठनों के नाम निम्नलिखित हैं- मुस्लिम यूनाइटेड लिबरेशर फ्रंट ऑफ असम (मुल्फा), लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (लीफा), माइनारिटी लिबरेशन टाइगर ऑफ असम (मल्टा), टाइगर लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (टल्फा), यूनाइटेड सोशल रिफार्म ऑफ असम (उसरा), कामतापुरी लिबरेशन आर्गनाइजेशन (के.एल.ओ.) इस्लामिक लिबरेशन फ्रंट(आई.एल.एफ.) चकमा नेशनल लिबरेशन फ्रंट (सी.एन.एल.एफ.), इस्लामिक कमांडो फोर्स (आई.सी.एफ.), इस्लामिक रिवोल्यूशनरी आर्मी (आइ.आर.ए.), इस्लामिक सेवक संघ (आई. एस.एस.), यूनाइटेड इस्लामिक लिबरेशन आर्मी (उइला), इंटरनेशनल इस्लामिक लिबरेशन आर्मी (आई.आई.एल.ए.), आल त्रिपुरा टाइगर्स फोर्स (ए.टी.टी. एफ.), मानोरिटी लिबरेशन आर्मी (एम.एल.ए.), नेशनल लिबरेशन फ्रंट ऑफ त्रिपुरा (एन.एल.एफ.टी.)।

जिन उग्रवादी संगठनों के नाम ऊपर दिए गए हैं वे प्रमुख हैं। इनके अलावा भी दर्जनों उग्रवादी संगठन हैं जिन्हें बांग्लादेश में प्रशिक्षण और धन उपलब्ध कराया जाता है। बांग्लादेश के सिलहट में करीब 30 उग्रवादी संगठन हैं। राजशाही जिले में करीब 21 और रंगपुर जिले में 15 शिविर हैं। चटगांव, बंदवन, होबीगंज, रंगमाटी, खुलना, खगराचारी एवं मौलवी बाजार आदि जिले भी शिविरों से भरे पड़े हैं। प्रशिक्षण का काम पाकिस्तानी आई.एस.आई., बांग्लादेश की आर्मी और बांग्लादेश राइफल्स के जिम्मे है। पाकिस्तान की आई.एस.आई. भारत और बांग्लादेश की करीब 4900 कि.मी. सीमा को उग्रवादी संगठनों द्वारा व्यस्त रखना चाहती है। खालिदा जिया पाकिस्तान के सह पर भारत के पूर्वोत्तर राज्यों को उग्रवादी गतिविधियों में झोंककर अपना मकसद पूरा कर रही हैं। बांग्लादेश सेना के दो बिग्रेड भी भारत के विरूद्ध उग्रवादियों की सहायता कर रहे हैं।

इस्लामी आतंकवाद को इस्लामी सम्मेलन से भी उत्साह मिलता है। 57-सदस्यीय मुस्लिम राष्ट्रों के संगठन ओ.आई.सी. के महासचिव रहे डॉ. महातिर मोहम्मद ने पद संभालने के बाद अपने अध्यक्षीय भाषण में मुस्लिम राष्ट्रों को एकजुट होने का मंत्र पढ़ाया। उन्होंने यह भी बेझिझक कह डाला कि जब यूरोपीय देशों द्वारा अतीत में एक करोड़ 20 लाख में से आधी जनता के मारे जाने के बाद बचे हुए यहूदी निराश होने की बजाय ऐसी रणनीति बना सकते हैं कि यूरोप समेत पूरे विश्व पर राज कर रहे हैं तो विश्व के एक अरब से अधिक मुसलमान क्यों नहीं सक्रिय हो सकते हैं? उन्होंने यह भी कह डाला कि यहूदी चालाक और मक्कार हैं। महातिर मोहम्मद के मुताबिक इस्लामी दुनिया को अपनी सुरक्षा के लिए बंदूकों, राकेटों, बमों, विमानों और टैंकों को हासिल करना अवश्यंभावी है। महातिर मोहम्मद ने यह भी कहा कि दुनिया में यहूदियों का वर्चस्व इसलिए है कि मुसलमानों को विज्ञान और गणित की शिक्षा से कोसों दूर रखा गया। यहाँ पर यह जान लेना समय का तकाजा है कि 11 सितंबर की घटना में भाग लेने वाले अधिकांश अमेरिका के आधुनिक शिक्षा संस्थाओं के विद्यार्थी थे जिन्होंने विज्ञान और गणित में महारत हासिल की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार इस्लामिक दुनिया आतंकवाद को प्रोत्साहित और सम्मानित करती है। अमेरिकी चिंतक नोम चोमस्की ने तीन वर्ष पूर्व अपनी भारत यात्रा में यह पूछने पर कि कोई आतंकवादी कब बनता है, कहा था कि जब उसे उसके अधिकार से वंचित किया जाता है। कानूनी संरक्षण न पाकर वह अपने आपको असहाय महसूस करता है।

धार्मिक कट्टरता आतंकवाद की जननी है। वह कितना आश्चर्यजनक और दुखद है कि मुस्लिम कट्टरवादियों ने तस्लीमा नसरीन की पुस्तक 'लज्जा' पर प्रतिबंध लगवा दिया। तस्लीमा नसरीन की पुस्तक 'द्विखंडता' को भी पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार प्रतिबंधित कर चुकी है। भारत में राजनेताओं का एक वर्ग जो काफी प्रभावशाली है हिंदुओं की भावनाओं की उतनी कद्र नहीं करता जितनी वह मुसलमानों की भावनाओं की कद्र करता है। हमारी मानसिकता दोहरी है। हमारे मापदंड अलग-अलग हैं। हम वोट के लिए आतंकवादियों को भी सर आँखों पर बिठाते हैं। हम तस्लीमा नसरीन को दुत्कारते हैं, किंतु चित्रकार मकबूल फिदा को गले लगाते हैं। मकबूल फिर नग्न सीता को हनुमान की पूछ पर बैठा चित्रित करते हैं। गणेश

के मस्तक पर आसीन नग्न लक्ष्मी का चित्र बनाते हैं। जब कोई हिंदू संगठन आपत्ति जताता है तो उस पर आरोप लगाया जाता है कि वह संगठन कला का दुश्मन और सांप्रदायिक है। याद कीजिए वर्ष 2000 में जब दीपा मेहता की विवादास्पद फिल्म 'वाटर' की शूटिंग के लिए पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु दीपा मेहता को न्यौता दे डाले। उन्होंने हिंदू समाज की भावनाओं की बिल्कुल परवाह नहीं की। इस प्रकार की दोहरी मानसिकता आतंकवाद को न्यौता देती है।

जब तसलीमा नसरीन ने अपने उपन्यास 'लज्जा' में मुसलमानों द्वारा हिंदुओं पर ढाहे जुल्म का जिक्र किया तो बांग्लादेशी कठमुल्लों ने उनकी मौत का फतवा जारी किया, किंतु 1996 में सरस्वती का नग्न चित्र बनाने पर जब हुसैन पर महाराष्ट्र में हमला हुआ तब कोलकाता में विरोध रैली निकाली गयी। इस प्रकार का दो-मुँहापन आखिर क्या बतलाता है? हमारे देश के वामपंथी कब क्या नीति अपनायेंगे इसको वामपंथियों के सिवा कोई भी नहीं जानता?

हम उन कम्यूनिस्टों की बात करते हैं जिन्होंने 'सेटेनिक वर्सेज' (सलमान रूश्दी) पर प्रतिबंध के समय तांडव किया था, किंतु 'द्विखंडता' पर प्रतिबंध लगाया। ये वही कम्यूनिस्ट हैं जिन्होंने मुस्लिम लीग के प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस को अपना समर्थन दिया जिसमें करीब 20,000 हिंदुओं की जान गयी। ये वही लोग हैं जो मदरसों की राजनीति करते हैं और सरस्वती वंदना के प्रति घृणा भाव प्रदर्शित करते हैं। (श्री बलवीर बुंज ने दोहरी मानसिकता पर दैनिक जागरण में मंगलवार, 16 दिसम्बर 2003 को एक आलेख लिखा और वामपंथियों की नीतियों को सतह पर लाया)। मैं यहाँ पर बतलाना चाहता हूँ कि दोमुँहापन ही असहिष्णुता का मार्ग दिखाता है और आतंकवाद को शरण देता है। यह दोहरी मानसिकता हमारी राष्ट्रीयता पर प्रहार कर उसे कमजोर करती है और राष्ट्र के विभाजन में अहम भूमिका निभाती है।

कुछ संस्थायें/संगठन सामूहिक नरसंहार को अपने मजहब के प्रति अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हैं और उस समाज के प्रबुद्ध लोग भी इस मजहबी जुनून/आस्था के विरूद्ध बोलने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। अत: बर्बरता लगातार विकराल रूप धारण करती जाती है।

वरिष्ठ स्तंभकार शुक्ल कहते हैं- ''संकुचित दृष्टिकोण से अपनी बात मनवाने और दूसरे के मत को सुनने से इनकार कर देने अथवा

सुनने पर उसकी उपेक्षा कर देने की प्रवृत्ति विवाद को जन्म देती है। मेरी दृष्टि में वर्तमान आतंकवाद की पृष्ठभूमि में यही हठधर्मिता प्रभावी है। वस्तुतः आतंकवाद इसी की उत्पत्ति है। एक ही सोच के सभी अनुगामी बन जाएँ, एक ही लकीर के फकीर हो जाएँ और जो कोई भी ऐसा करने के लिए तैयार न हो उसका सिर कलम कर दिया जाय। जब ऐसी सोच के अनुगामी बल प्राप्त करने लगें तो इसे विश्व शांति के लिए एक गंभीर खतरा ही माना जा सकता है। इस खतरे का एहसास आज विश्व के सभी देशों को हो रहा है। इसीलिए मैं समझता हूँ संस्कृतियों के बीच संवाद की आवश्यकता है।

भानुप्रताप शुक्ल जिस वाद-विवाद और संवाद की बात करते हैं वह केवल बुद्धिजीवियों के लिए है। इस्लामिक कठमुल्ले श्री शुक्ल को अपने पास कभी फटकने तक नहीं देंगे। फिर संवाद किससे कीजिएगा? क्या बिन लादेन से संवाद की कल्पना मुंगेरीलाल के हसीन सपनों जैसी नहीं होगी? विश्व के किसी एक इमाम या कठमुल्ले का नाम लीजिए जिसने बिन लादेन पर प्रहार करने का दम दिखाया हो? कठमुल्लाओं के सामने लेखकों, स्तंभकारों और राजनेताओं के पसीने छूटने लगते हैं और छठी के दूर याद आने शुरू हो जाते हैं भारत में तो खुलेआम सड़कों पर राजधानी दिल्ली में भी बिन लादेन के समर्थन में नारे लगते हैं और लोग (कुछ ही) अपने सीने पर 'मैं आई.एस.आई. का समर्थक हूँ' लिखकर घूमते हैं, किंतु कोई राजनेता वोट के डर से, इन पर कठोर कारवाई करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। क्या भारत की भूमि से 'माई के लाल' खत्म हो गये और भारत की धरती वीरविहीन हो गयी? आप इस सवाल का जवाब अपने दिल से पूछिए और आपको उत्तर मिल जायेगा। जिस देश के राजनेता वोट के लिए भारतमाता का कफन भी बेच सकते हैं उस देश से आतंकवाद की समाप्ति की परिकल्पना महामूर्खता होगी। क्या यह सही नहीं है कि भारत के कुछ राजनेता आई.एस.आई. की गोद में बैठकर भारत को ही हलाल कर रहे हैं? बकरे की माँ कबतक खैर मनायेगी, वाली कहावत एक न एक दिन चरितार्थ होगी ही। भारत माता का कब्र खुद रहा है। हमारे कुछ राजनेता काफी सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। ये राजनेता कौन हैं और किस प्रकार काम कर रहे हैं, इसकी जानकारी दिल्ली दरबार में सबको है। फिर इन खुंखार अपराधी राजनेताओं पर कार्रवाई क्यों नहीं होती? उत्तर साफ है यहाँ 'किस्सा कुर्सी का' है। जब आपकी सत्ता की कुर्सी ही इन अपराधियों और आतंकवादियों के हाथ में है तब आप कठपुतली का नाच तो

नाचियेगा ही, क्योंकि डोरी खींचकर नचानेवाले यही हैं।

अब मैं समाचारों में प्रकाशित और श्री शुक्ल द्वारा उद्धृत फ्रेंच विद्वान मिशेल डेनिनो की बातों को यहाँ पर रखना उचित समझता हूँ। मिशेल डेनिनो पिछले 25 वर्षों से भारतीय संस्कृति और इतिहास पर शोध के लिए पांडिचेरी के श्री अरविंद आश्रम में रह रहे हैं। उनका कहना है ''पश्चिम-राजनीतिक, धार्मिक एवं वाणिज्यिक दृष्टि से विश्व में इसलिए हावी होने के प्रयास में है, क्योंकि उसे इस्लाम से खतरा महसूस हो रहा है। भारत से उसे कोई खतरा नहीं लगता, क्योंकि वह सांस्कृतिक विविधता को स्वीकार करते हुए परस्पर सहिष्णुता में विश्वास करता है, जबकि इस्लाम की सोच ठीक इसके विपरीत है। इसीलिए भारत को संस्कृतियों के बीच संवाद की पश्चिमी अवधारणा को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा रहा है। इस पर भी चूँकि भारत को बर्बरता तक के साथ संवाद का ऐतिहासिक अनुभव है, इसलिए वह इसका स्वागत करने को तत्पर है, लेकिन यह उसी की शर्तों और उसके वातावरण के अनुरूप होना चाहिए। ईसाई मिशनरियाँ हिंदू सहिष्णुता का ही नाजायज फायदा उठा रही हैं और इसे भी आतंकवाद की संज्ञा दी जा सकती है।''

फ्रेंच विद्वान मिशेल डेनिन द्वारा इस्लाम और ईसाई मिशनरियों की व्याख्या सदियों पुरानी बातें हैं। हाँ एक ही नयी बात सामने आ रही है और वह है अगर यह प्रवृत्ति जारी रही तो आतंकवाद पर लगाम लगाने में और आतंकवादियों की मुश्कें कसने में अभूतपूर्व सफलता की आशा नहीं की जा सकती है। हम मुजाहिद्दीनों के हाथों में थमाई बंदूकों की आग को रातों रात शांत नहीं कर सकते। विश्व को महाविनाश से अगर बचाना है तो मजहबी एकाधिकार और जिहाद पर सार्थक और व्यावहारिक दृष्टिकोण रखना पड़ेगा और हिंसा का दमन अगर शांति से नहीं हो सके तो हिंसा से या क्रूरता से या बर्बरता से करना ही पड़ेगा। इस प्रकार धारणा दिवास्वपन्न है और मूर्खों की दुनिया के वातावरण का प्रतीक है। हमारा शास्त्र भी शस्त्र उठाने की बात करता है। रावण के आतंकवाद का सामना राम ने शस्त्र धारण कर हिंसा के प्रयोग से ही किया। कृष्ण ने युद्ध के नियमों का खुल्लम-खुला उल्लंघन कर, सुदर्शन चक्र का इस्तेमाल किया। अत: आतंकवाद केवल ताकत बल पर ही काबू में लाया जा सकता है। आतंकवादियों के साथ किसी भी प्रकार की रियायत की बात करना अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने जैसा है। अगर समय

रहते हमने हिंसा का जवाब हिंसा से नहीं दिया तो बहुत देर हो जायेगी और इतिहास हमें कभी भी माफ नहीं करेगा। आनेवाली पीढ़ी हमें डरपोक और कायर कहेगी तथा कब्र से निकाल कर हमारा कोर्ट मार्शल करेगी।

आतंकवाद के संदर्भ में क्षेत्रीयता की बात करना भी लाजिमी है क्योंकि भारत के कुछ भागों में क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता पर हावी दिखती है। असम में बच्चों, मजदूरों, स्त्रियों और व्यापारियों की हत्या को नजरअंदाज करना इतिहास को लात मारना होगा। हिंसा का तांडव अगर देखना है तो भारत के पूर्वोत्तर में जाइये। वहाँ बंदरबांट और बंदरनाच, दोनों एक साथ नजर आयेंगे। उल्फा अपने जन्म यानी 07 अप्रैल 1979 से ही स्वतंत्र राष्ट्र असम की माँग कर रहा है। नागालैंड में नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल आफ नागालैंड (आई और के) को अलगावाद जगजाहिर है। बोडोलैंड स्वतंत्र राष्ट्र की आवाज 03 अक्टूबर 1986 से ही उठा रहा है। अब नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रंट आफ बोडोलैंड का नाम सुन रहे हैं। मणिपुर का यूनाइटेड नेशनल लिबरेशन फ्रंट (1965 में स्थापित) स्वतंत्र राष्ट्र का सपना संजोये हुए है। यह कहना सत्य की तराजू भी खरा उतरता है कि पूर्वोत्तर के बंदूकधारियों के सामने हम घुटने टेक देते हैं और राजनीतिक इच्छाशक्ति का दिवालियापन दिखाकर देश को उग्रवादियों, अलगाववादियों के हवाले करते आ रहे हैं। पूर्वोत्तर राज्य भारत की मुख्यधारा से निरंतर अलग होते जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि इस्लामिक आतंकवादी बांग्लादेशी घुसपैठियों, ईसाई मिशनरियों, नागाओं और बोडो वालों को आतंकवाद के जरिए भारत को तोड़कर अलग राष्ट्र दिला कर ही सांस लेंगे। उल्फा का अटूट संबंध बांग्लादेश, म्यांमार, पाकिस्तान, भूटानी उग्रवादियों और श्रीलंका के लिट्टे से है। हमारे पूर्वोत्तर के उग्रवादी संगठनों का रिश्ता 'अनरिप्रजेन्टेड नेशंस एण्ड पीपुल्स आर्गेनाइजेशन' से भी है। यह यू.एन.पी. ओ. पूरे विश्व में स्वतंत्र राष्ट्र की माँग करने वालों का समर्थन करता है।

1971 में बांग्लादेशियों की घुसपैठ के बाद पूर्वोत्तर राज्यों का जनसंख्या पर आधारित सामाजिक संतुलन औंधे मुँह गिर गया। ईसाई मिशनरियाँ तो 1930 से उग्रवाद को परोक्ष रूप से बढ़ावा दे रही हैं। नागालैंड, मिजोरम, मेघालय और मणिपुर में काफी जनसंख्या ईसाई बनायी जा चुकी है। ये ईसाई भारत और भारतीयता को काफी हद तक नफरत करते हैं और आतंकवाद एवं अलगाव की सोच भी रखते हैं। आज भारत का पूर्वोत्तर इस्लामी, ईसाई और उल्फा की चपेट में है और वहाँ का राजनीतिक माहौल भी दूषित हो चुका है।

राष्ट्रीयता को मुँह की खानी पड़ रही है और क्षेत्रीयता की आवाज बुलंद है। केंद्रीय सरकार की नौकरियाँ भी क्षेत्रीयता के आधार पर माँगी जा रही हैं। अब तो व्यापार और मजदूरी पर भी क्षेत्रीयता की पताका फहरा रही है। बाल ठाकरे भी क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने के दोषी हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने 06 वर्ष पूर्व अपने फैसले में साफ तौर पर कहा था कि केंद्र की कोई भी नौकरी क्षेत्रीय आधार पर नहीं दी जा सकती। इसके बावजूद असम के मुख्यमंत्री केंद्र सरकार की नौकरियों में क्षेत्रीयता की बू डालना चाहते हैं। इस प्रकार की मानसिकता क्षेत्रीयता के साथ-साथ उग्रवाद, आतंकवाद और फिर अलगाववाद व अमलीजामा पहनाती है और देश का विघट अवश्यम्भावी हो जाता है।

यह बात विश्वस्तर पर भी निस्संदेह प्रमाणित हो चुकी है कि घृणा, असहिष्णुता और पक्षपातपूर्ण रवैया आतंकवाद को भोजन प्रदान करता है। हमने भारत के पूर्वोत्तर राज्यों की तो चर्चा कर दी किंतु जम्मू-कश्मीर को स्पर्श करना बाकी है। जम्मू कश्मीर पर मैने स्वतंत्र टिप्पणीकार एस शंकर के विचार समाचार पत्रों में पढ़ा और मुझे लगा कि उन्होंने सत्य का पिटारा खोल दिया है। अब हम देखते हैं कि कश्मीर के नेता अपनी शतरंजी चाल द्वारा किसी प्रकार भारत का शोषण करते हुए आतंकवाद को आगे बढ़ा रहे हैं।

कश्मीरी पंडितों को कश्मीर घाटी से धक्का देकर, लात मारकर निकाल दिया गया। इनकी संपत्ति पर वहाँ के मुसलमानों ने जबरन कब्जा कर लिया। इन पंडितों की कुछेक लड़कियों के साथ बलात्कार किया गया। कुछ लड़कियों को जबरन इस्लाम कबूल कराया गया। कुछ पंडितों को दिन के उजाले में रक्तपिपासुओं ने काट डाला। आज ये पंडित रोड-छाप बनकर भारत की गलियों और सड़कों पर खाक छान रहे हैं। सारे विश्व में यह पहली घटना है कि जब देश के नागरिक अपने ही देश में शरणार्थी बन कर धर्म शिविरों में रहें या कटोरा लेकर भीख माँगें। यहाँ अहम सवाल यह है कि कश्मीर घाटी के बहुसंख्यक मुसलमानों ने अपने अल्पसंख्यक हिंदू भाइयों के जान, माल और इज्जत की रक्षा क्यों नहीं की? कश्मीरी नेताओं ने हिंदुओं को क्यों नहीं बचाया? विदेशी परस्त भारतीय मीडिया ने क्या किया? विश्व शक्तियों की शक्ति इन पंडितों के काम क्यों नहीं आयी? भारत की फौज हमेशा सिर झुकाकर भीष्म पितामह क्यों बनी रहती है? क्या इसलिए की फौज अपने आकाओं की गुलाम है या इसलिए की यह फौज नपुंसक आफिसर्स की जमात है और निकम्मी और दिशाहीन है? इस प्रश्न का जवाब समय और

भावी पीढ़ी पर छोड़ना समय की माँग है। एक सुलगता प्रश्न, भभकता प्रश्न, उफान लेता हुआ प्रश्न यह भी है कि पंडितों ने बंदूक का जवाब तोप से क्यों नहीं दिया? क्या इसलिए की ये पंडित कायर हैं क्योंकि ये हिंदू हैं? क्या हिंदू जन्मजात कायर होते हैं? (इस प्रश्न का जवाब, ''भारतीय लोकतंत्र का सामूहिक बलात्कार'' नामक पुस्तक में बहुत ही विस्तार के साथ दिया गया है और लेखक भी एक भूतपूर्व सैनिक ही हैं।)

यह सही है कि कश्मीरी मुसलमानों ने भारत का शोषण किया और भारत के ऊपर एक औपनिवेशिक अधिकार बनाया है। कैसे और क्यों? स्वतंत्र टिप्पणीकार श्री एस. शंकर लिखते हैं कि - (क) कश्मीरी भारत में हर जगह संपत्ति खरीदते हैं। (ख) कश्मीरी पूरे भारत में नौकरी और कारोबार करते हैं, किंतु शेष भारतवासी जम्मू-कश्मीर में यह नहीं कर सकता। वह वहाँ संपत्ति खरीदने का सपना भी नहीं देख सकता। (ग) केंद्र सरकार जम्मू-कश्मीर को दूसरे प्रदेशों की तुलना में दस गुनी सहायता देती है, फिर भी वहाँ सी.बी.आई. का भ्रष्टाचार की जाँच का अधिकार नहीं है। (घ) एक कश्मीरी भारत का प्रधानमंत्री हो सकता है, किंतु शेष भारत का कोई व्यक्ति जम्मू-कश्मीर में नगरपालिका का सदस्य भी नहीं हो सकता।

क, ख, ग और घ से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहारत: जम्मू-कश्मीर भारत का अटूट भाग नहीं है और उसका रूतवा एक स्वतंत्र देश का ही है। कश्मीरी धूर्त हैं। वे भारत को लूटते हैं और अपने को पीड़ित बताकर सारे विश्व और खासकर हिंदुओं के प्रति घृणा फैलाते हैं। भारत में औसतन 26 प्रतिशत लोग गरीब हैं जबकि जम्मू-कश्मीर में साढ़े तीन प्रतिशत हैं।

कश्मीरी मुसलमान भारतीय सुरक्षा बलों को घृणा की दृष्टि से देखता है जबकि वास्तविकता यह है कि अगर भारतीय सुरक्षा दल जम्मू-कश्मीर में न लेते तो यह राज्य एक उजड़ा और बिखरा तालिबानी इलाका होता। कश्मीरी आबादी में ही आतंकवादी छिपे रहते हैं और कश्मीरी मुसलमान उनकी आवभगत में कोई कसर नहीं उठा रखते। जेहादी आतंकवादी तो वहाँ पर मेहमान हैं और भारतीय काफिर। इसलिए यह तो होना ही था।

कश्मीरी मुसलमान जम्मू और लद्दाख को अपना गुलाम समझता है क्योंकि एकाधिकार मुसलमानों का ही है। भारत के द्वारा उपलब्ध धन कश्मीर घाटी में बंदरबांट का शिकार हो जाता है और हिंदू पंडित धकेल

दिए गये हैं। फिर पूछने वाला कौन है? जो भी आवाज उठायेगा उसे भारतीय मीडिया और छद्म और ढोंगी सेक्यूलरवादी सांप्रदायिक और देशद्रोही करार देंगे।

अब जरा जम्मू-कश्मीर के स्थाई निवासी संबंधी विधेयक पर ध्यान केंद्रीत कीजिए। इस विधेयक के पीछे शुतुरमुर्गी होशियारी काम कर रही है। यह विधेयक जम्मू-कश्मीर के उन निवासियों को अचल संपत्ति के अधिकार से वंचित करेगा जो किसी दूसरे राज्य के निवासी से विवाह करेंगे। अब जरा राज्य के कानून मंत्री मुजफ्फर हुसैन बेग के बयान पर गौर फरमाइये, ''यदि यह कानून नहीं बना तो विदेशी यहाँ कब्जा कर लेंगे। वे जमीन और संपत्ति खरीदेंगे और कश्मीरियों को अपमानित होना पड़ेगा।'' एस. शंकर का कहना है कि इसमें 'कश्मीरियों' कहा गया है, जम्मू और कश्मीर के निवासियों नहीं और कश्मीर से हिंदुओं को पहले ही मार भगाया जा चुका है। वस्तुत: मामला महिला अधिकार का नहीं, कश्मीर को तो अपनी जागीर समझते ही हैं शेष भारतवासियों को सीधे-सीधे 'विदेशी' कहते हैं। पी. डी. पी. और नेशनल कांफ्रेंस दोनो एक स्वर में बोल रहे हैं। सरकार काँग्रेस के समर्थन से चल रही है, किंतु वह लाचार है, बेचारी है और देशहित के विरूद्ध करने वालों को कुछ भी करने में असमर्थ है।

मुट्ठी भर कश्मीरी मुसलमान पूरे भारत का दोहन करना अपना अधिकार समझते हैं। कश्मीरी मुसलमानों का एक ही उसूल है और वह है भारत को अपमानित करना। कश्मीरी मुसलमान जानता है कि दिल्ली की कोई भी सरकार मुसलमानों की हर जिद को पूरा करेगी। वह यह भी जानता है कि एक कश्मीरी मुसलमान भारत का प्रधानमंत्री बन सकता है। राष्ट्रपति बन सकता है, किंतु सोनिया या वाजपेयी जम्मू-कश्मीर में नगरपालिका के सदस्य भी नहीं बन सकते। कश्मीरी मुसलमान यह जानता है कि धारा 370 के कारण जम्मू-कश्मीर केवल उसी का है और शेष भारत पर उसके अधिकार को चुनौती देने वाला भारत माता की कोख से पैदा ही नहीं हुआ और अगर होगा भी तो बिन लादेन की मदद से उस दानव का सर कलम कर दिया जायेगा।

ऊपर उद्धृत तथ्यों से साफ जाहिर है कि कश्मीर में आतंकवाद का विषैला बीज केवल पाकिस्तान ने नहीं बोया। आतंकवाद के पौधे को सींचने में कश्मीरी जनता और वहाँ के राजनेताओं की भूमिका अहम

है। इस तथ्य को नजरअंदाज करना मुर्खो की दुनिया में रहने जैसा है। एक बात को गांठ बाँध लीजिए कि पूरे भारत की संपत्ति और सत्ता भी अगर आप कश्मीरी मुसलमानों के हवाले कर दीजियेगा और अंतरराष्ट्रीय संस्था द्वारा जनमंत कराइयेगा तब भी कश्मीरी मुसलमान (कम से कंम 70 प्रतिशत) पाकिस्तान में ही विलय पसंद करेगा। अत: चेतिए, जग जाइये और सत्य को आलिंगन कीजिए अन्यथा भारत माता की साड़ी फिर फटेगी। वही कहानी सुरसा की तरह मुँह बाये चरितार्थ होगी कि ''बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी।''

♦♦♦

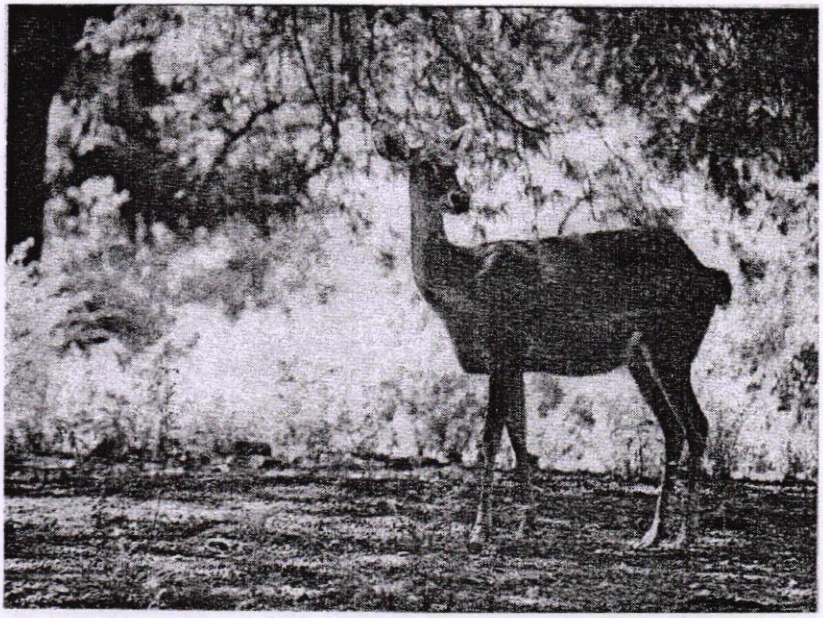

राष्ट्र की समकालीन चुनौतियाँ

जिया लाल आर्य

हमारी राष्ट्रीयता की पहचान संकुचित सीमा से निकल कर वसुधैव कुटुम्बकम् होती है। यह पहचान राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीयवाद से ऊपर है, इसलिए यह कथन सर्वदा मान्य रहा है कि-

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

यह मेरा, यह तेरा के सीमित दायरे से ऊपर उठकर हमारे उदार एवं उदात्त चरित्र की चर्चा विश्व स्तर पर सदा से होती आई है। अशेष विषम परिस्थितियों में भी हमने अपने चरित्र को गिरने नहीं दिया है। ऐसी ही कुछ विपरीत परिस्थितियों ने आज राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अखंडता जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा होना स्वाभाविक सा हो गया है।

यह अब इतिहास की बात है कि हमारे पूर्वजों ने अपने तन-मन-धन का त्याग कर देश को स्वाधीन कराने का आंदोलन चलाया और विश्व इतिहास में यह प्रथम घटना है कि विश्व के ताकतवरतम् राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन को हमारी अहिंसा की नीति के समक्ष झुकना पड़ा और हमें स्वाधीनता मिली। स्वाधीन होना जितना कठिन काम था, उससे अधिक कठिन काम है उस स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाए रखना, राष्ट्र की एकता एवं संप्रभुता को अखंड रखना। हमारे सामने आज कुछ ऐसी चुनौतियाँ हैं, जिनपर विजय पाना आवश्यक है। ऐसी कुछ चुनौतियों पर विचार करना आज की माँग है।

यथास्थिति बनाम परिवर्तन

यथास्थिति का तात्पर्य है आज की स्थिति का स्थायित्व या अपरिवर्तन। अपरिवर्तन का मतलब है विकास न होना। हमारे देश के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य में एक वर्ग विशेष की सोच रही है यथास्थिति को कायम रखना। परंतु राष्ट्रीय सोच सदैव यथास्थिति के परिवर्तन के पक्ष में रही है। राजनैतिक परिवर्तन हुआ, परंतु परिणाम अच्छा नहीं रहा, क्योंकि मानव मूल्यों में ह्रास हुआ है। सामाजिक बदलाव सोच में परिलक्षित हो रहा है, परंतु संविधान की मनसा के अनुरूप नहीं है। जहाँ पर राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन उदात्त भावनाओं से प्रेरित नहीं होते, वहाँ सांस्कृतिक चेतना नहीं हो पाती। आज हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो

ऐसे चौराहे पर खड़े हैं जहाँ से हमें राष्ट्रीयता की डगर पर चलना है। ऐसी ही स्थिति पर विचार करते हुए डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम, हमारे राष्ट्रपति ने कहा कि, ''सभी संतुलित विचारवाले लोग अपने को दुनिया की हवा के अनुकूल बना लेते हैं, परंतु व्यस्त दुनिया को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। विकास की धारा ऐसे ही असंतुलित विचारवाले लोगों पर, उनके नवप्रवर्तक एवं अननुमोदित कृत्यों पर निर्भर करती है।'' लीक से हटकर चलना ही विकास की प्रथम सीढ़ी है। अत: आज आवश्यकता है पीछे ले जाने वाले विचारों एवं कर्मो से हटकर नये रास्तों का आविष्कार करना, जो स्थायित्व एवं यथास्थिति से विकास की ओर गतिशील हों।

क्षेत्रीयता बनाम राष्ट्रीय सोच

स्वाधीन भारत में विकास की गति तेज करने के उद्देश्य से हमारी सरकारों ने कालबद्ध योजनाओं को लागू करने का संकल्प पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से लिया। इसी संदर्भ में क्षेत्रीय योजनाओं का भी सूत्रपात किया गया। कालांतर में हमारे जनप्रतिनिधियों की सोच संकुचित हो गई और क्षेत्रीयता बनाम राष्ट्रीयता का सवाल खड़ा हो गया। कई राज्यों के बीच सीमा को लेकर, पानी के बंटवारे को लेकर, प्राकृतिक संपदा आदि को लेकर आपस में तनाव उत्पन्न हो गया है। केंद्रीय सरकार अपने दायित्व का निर्वाह करने में सक्षम नहीं हो पा रही है इससे राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं। विकास के लिए क्षेत्रीय एवं उपक्षेत्रीय योजनाओं का कार्यान्वयन आवश्यक है, परंतु राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचाकर नहीं। सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर जाति एवं धर्म का शोषण हो रहा है। वोट की राजनीति ने लोगों को जाति और धर्म के नाम पर बाँट दिया है। समाज में तनाव पैदा हो रहा है। विधि-व्यवस्था की समस्या बड़ी तेजी से बढ़ती दिखाई दे रही है।

सांस्कृतिक धरोहर का अवमूल्यन हो रहा है। राष्ट्रीय जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए जाति-जनित खाई को पाटना होगा और पिछड़े क्षेत्रों को विशेष योजनाओं के माध्यम से राष्ट्र की मुख्यधारा में लाना होगा। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न आज के शासन के समक्ष है। बिल्ली के गले में किसी न किसी को तो घंटी बाँधनी ही पड़ेगी और अलगाववादी ताकतों को कमजोर करना होगा।

सामाजिक परिवर्तन बनाम विधि-व्यवस्था

धर्म, जाति, धन एवं वर्ण के नाम पर समाज बँटा हुआ है। हमारे संविधान में इन अलगाववादी शक्तियों को मिटाने और समाज में बराबरी लाने का प्रावधान किया गया है, परंतु वास्तविकता इसके विरूद्ध है। लिंगभेद एवं अर्थभेद ने विभिन्न वर्गो के बीच घृणास्पद स्थिति उत्पन्न कर दी है। धर्म एवं संप्रदाय के नाम पर आदमी आदमी का शत्रु हो गया है। इन सब का जिम्मेदार आम आदमी राजनीति को मानता है। सामाजिक विषमता एवं आर्थिक व लिंग शोषण ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया है जिसने अपने हित एवं वंचितों को शोषण से मुक्त करने के लिए संघर्ष का बिगुल फूँक दिया है। प्रशासन एवं पुलिस ऐसे सामाजिक उठाव को नक्सलाइट, प्रतिक्रियावादी आदि कहकर दबाना चाहता है जिसके परिणामस्वरूप अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य वंचित तथा शोषित की हत्या कर दी जाती है। सरकारी तंत्र एवं शोषक दोनों एक हो गये हैं। बदले में अब ये वंचित ताकतें पुलिस एवं प्रशासन पर भी आक्रमण करने लगी हैं। उन्हें यह विश्वास होता जा रहा है कि राजनैतिक शक्ति बंदूक की गोली से मिलती है।

इस विषम स्थिति ने विधि-व्यवस्था की समस्या खड़ी कर दी गई है। सरकारी तंत्र जैसे-जैसे इस सामाजिक कायापलट की ताकतों को दबाने का प्रयास कर रहा है, ये ताकतें वैसे-वैसे दृढ़ प्रतिज्ञ और विस्तृत होती जा रही हैं। यह समस्या मूलतः साम्राज्यवादी, जमींदारी से प्रभावित राज्यों में अधिक है। पश्चिम बंगाल के नक्सलवाड़ी से यह आंदोलन प्रारंभ हुआ था। वहाँ की प्रगतिशील सरकार ने ऑपरेशन वर्गदार के माध्यम से समस्या के कारणों को समाप्त कर दिया। वहाँ पर यह समस्या अब नहीं है। पंजाब में कुछ अलगाववादी शक्तियाँ खालिस्तान की माँग को लेकर सशस्त्र विद्रोह करने लगी थी, परंतु उसका निदान गोली से नहीं, बल्कि मुख्यमंत्री बेअंत सिंह की राजनीतिक पहुँच से निकला था। प्रतिक्रियावादी नक्सलाइट संगठनों से प्रभावित राज्यों के सामाजिक और राजनीतिक तंत्र के शोषण की जड़ को काटना होगा। 1995 में भूमिगत नक्सलाइट संगठनों से बिहार में बातचीत चल रही थी, ये संगठन राज्य की मुख्यधारा से जुड़ने के लिए तैयार भी हो गये थे, परंतु निर्वाचन की घोषणा हो जाने वे यह प्रयास बीच में ही रूक गया। चुनाव के बाद किसी ने उस प्रयास को पुनर्जीवित करने की पहल नहीं की।

विधि-व्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए सरकार को चाहिए कि वह दमन की नीति को छोड़कर मानवतावादी नीति को अपनाएँ।

तथाकथित नक्सलाइट संगठनों को भी मनुष्य मानकर उनके आर्थिक, सामाजिक और *एतनैतिक सम्मान की रक्षा* के कदम उठाए जाएँ। इसके सार्थक परिणाम निकलेंगे और विश्वास का वातावरण बन सकेगा।

विकास एवं सामाजिक न्याय

केंद्र सरकार ने प्राय: पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात करते हुए सामाजिक न्याय के साथ विकास की घोषणाएँ कीं, उनके लिए धन का आवंटन भी हुआ, परंतु आजतक के सरकारी आँकड़े इसके साक्षी हैं कि विकास का लाभ समाज के वंचितों तक नहीं पहुँच सका। वह राशि बिचौलियों के बीच बँट कर रह गयी। गंगा शंकर की जटा से नहीं निकल पाई। धनी और धनी होती गये, गरीब गरीब होते गए। सामाजिक न्याय वंचितों का मूल अधिकार है। देश में 22 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे दबे हैं। अविकसित और विकासशील राज्यों की स्थिति अत्यंत सोचनीय है। बिहार में 40 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। जब तक इन गरीबों का विकास नहीं होगा, तबतक भारत के विकास की बात करना बेमानी है।

ऐसे और भी क्षेत्र हैं जो राष्ट्र के समक्ष विकास की चुनौती के रूप में खड़े हैं। उनकी पहचान हो चुकी है। उन्हें निकट से समझने की आवश्यकता है जिससे प्रशासन पर अधिक व्यय एवं अमितव्ययिता पर लगाम लगाई जा सके। सही दिशा में सही कदम सही समय पर बढ़ाने से सामाजिक न्याय के साथ विकास की परिकल्पना की जा सकती है। मेरी धारणा है कि इन कुछ क्षेत्रों में काम करने से समाज एवं राष्ट्र के प्रांगण में तमाम क्षेत्र संकुचित हो सकेंगे।

भारत ने 2020 तक विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में खड़े होने की एक योजना को कार्यान्वित करने का संकल्प लिया है। राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने इस संबंध में एक सूत्र वाक्य दिया है, जिसे हमें स्मरण रखना होगा। डॉ. कलाम के अनुसार –

"The development resulting from these two plans-self reliance mission and technology vision 2020, will eventually make our country strong and prosperous, a developed Nation."

ग्राम पंचायत एवं ग्रामीण विकास

सीताराम सिंह

भारतवर्ष की कुल जनसंख्या का तीन चौथाई भाग यानी 75 प्रतिशत लोग गाँवों में निवास करते हैं। इस देश में लगभग छः लाख गाँव हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि भारत गाँवों में बसता है।

पहले भारत के गाँव बहुत सुखी और समृद्ध थे। कृषि के अतिरिक्त वहाँ अनेक उद्योग-धंधे थे। इससे कृषि के अलावा अन्य श्रोतों से भी लोगों की आय होती थी, परंतु अँग्रेजों के शासन-काल में धीरे-धीरे गाँवों की समृद्धि समाप्त हो गई। अँग्रेजों ने यत्न-पूर्वक इस देश के उद्योग-धँधों को नष्ट किया और किसान अपनी आय के लिए केवल कृषि पर निर्भर हो गए। जब देश के स्वाधीनता-संग्राम की बागडोर गाँधी जी के हाथों में आई, तब उन्होंने अनुभव किया कि जब तक स्वाधीनता की चेतना गाँव-गाँव में नहीं पहुँचेगी, तब तक स्वाधीनता मिलना कठिन है। इसलिए काँग्रेस ने गाँवों की ओर ध्यान दिया। गाँवों के सुधार के लिए प्रयत्न शुरू किया। जब सरकार ने देखा कि काँग्रेस गाँवों के विकास के लिए यत्न कर रही है और उसके कारण गाँवों में उसका प्रभाव बढ़ रहा है, तब सरकार ने भी गाँवों के सुधार के लिए कार्यक्रम बनाए। स्वाधीनता मिलने के बाद तो गाँवों के सुधार के लिए सरकार ने बहुत अधिक प्रयत्न किये हैं, किंतु भ्रष्टाचार के कारण उसका लाभ उन्हें नहीं मिल सका।

गाँवों के विकास के लिए पहले हमें वहाँ के लोगों की दशाओं को देखना होगा, जिनमें गाँवों के निवासी रहते हैं। पहली बात यह है कि गाँवों के लोग गरीब होते हैं। साल के छः महीने वे मुश्किल से काम कर पाते हैं और साल के बाकी छः महीने उन्हें विवश होकर बेकारी में बिताने पड़ते हैं। इसे अर्थशास्त्र की भाषा में हम ''छद्म बेरोजगारी'' कह सकते हैं। इसलिए ऐसा कोई उपाय किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने खाली समय का उपयोग किसी लाभदायक काम में कर सकें और अपनी आय को बढ़ा सकें। इसके लिए हमें ग्रामीण-विकास के लिए योजनाएँ बनानी होंगी तथा ग्राम-पंचायतों के माध्यम से उन्हें पूर्ण-रोजगार देना होगा। इसके लिए राजनीतिक-चाह होनी चाहिए। गाँवों के विकास के लिए वहाँ

सड़क-निर्माण औषधालयों, विद्यालयों एवं महा-विद्यालयों का निर्माण करना होगा। इसमें पंचायती राज संस्थाएँ अपना योगदान दे सकती हैं।

साथ ही उनकी आय बढ़ाने का यह भी तरीका हो सकता है कि कृषि की वर्तमान पद्धतियों में सुधार किया जाए। वहाँ सिंचाई की व्यवस्था हो, अच्छे बीज और खाद का प्रबंध हो। यदि गाँवों से गरीबी समाप्त हो जाए, तो गाँवों का बहुत कुछ सुधार तो स्वयंमेव हो जायेगा।

भारतवर्ष का सबसे प्राचीन ग्राम-पंचायत व्यवस्था हमें वैशाली-गणराज्य के लिच्छिवी वंश के शासन काल में मिलता है। बौद्ध-साहित्य में हमें इसका वर्णन मिलता है। गाँधी जी ने ''ग्राम-स्वराज'' पुस्तक में ग्राम-पंचायत व्यवस्था का वर्णन किया है।

हमारे संविधान के अनुच्छेद, 40 में ''राज्य के नीति-निर्देशक तत्व'' के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया है कि राज्यों को पंचायती-राज्य व्यवस्था लागू करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए जिससे वे स्थानीय-प्रशासन के रूप में उभर कर सामने आ सकें। संविधान के 73वें संविधान संशोधन अधिनियम 1993 के पारित होने के पश्चात् राज्य सरकारों का यह दायित्व है कि वे ऐसे कानून बनाए जिससे प्रत्येक गाँव, ग्राम-पंचायत व्यवस्था के अंतर्गत आ जाएँ तथा वहाँ ग्राम-सभा की स्थापना की जाए। राज्य सरकारों के लिए पंचायती-राज संस्थाओं को स्थापित करना है कि लोगों में यह जागरूकता होनी चाहिए कि वे पंचायती-राज व्यवस्था को कारगर-ढंग से लागू करें तथा ग्रामीण-विकास में वे अहम् भूमिका निभावें। पंचायती-राज व्यवस्था कारगर-ढंग से लागू होने से तथा लोगों में राजनीतिक इच्छा-शक्ति होने से गाँवों का विकास तीव्र-गति से हो सकता हे। गाँधी जी ''ग्राम-स्वराज'' के संबंध में कहा करते थे कि लोकतंत्र सही माने में तभी सफल हो सकता है जब केवल उच्च-पद पर बैठे कुछ लोग इसे न चलायें, बल्कि निम्न-स्तर पर स्थित प्रत्येक ग्राम-वासी का योगदान शासन-व्यवस्था को चलाने में होना चाहिए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् 1952 से राज्यों में गाँवों के त्वरित-विकास के लिए सामुदायिक-विकास योजनाएँ बनीं। इसके लिए प्रत्येक राज्य में कई प्रखण्ड बने जहाँ प्रखण्ड विकास पदाधिकारियों की नियुक्ति की गई। वे गाँवों के किसानों को खेती करने के लिए नई-पद्धति अपनाने में मदद करते रहे हैं। प्रत्येक प्रखण्ड में चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करना तथा निम्न प्राथमिक विद्यालयों की गाँव-गाँव में व्यवस्था करना इनका

प्राथमिक कार्य था। उसके बाद 1953 में राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ प्रारंभ की गईं। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में यह परिकल्पना की गई थी कि सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्यान्वयन से गाँवों के विकास के लिए एक नींव पड़ी और पंचायती-राज व्यवस्था को लागू करने में सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

पंचायती-राज व्यवस्था तीन-स्तर पर लागू होती है। 1. जिला विकास समिति 2. प्रखण्ड विकास समिति और 3. ग्राम-पंचायत समिति अर्थात् ग्राम सभा। पंचायती-राज व्यवस्था में एक जिला में कई प्रखण्ड होते हैं एवं एक प्रखण्ड में कई ग्राम-पंचायतें होती हैं। ग्राम-पंचायत में एक मुखिया तथा एक सरपंच होता है तथा मुखिया के साथ-साथ ग्राम-सभा के लिए कुछ सदस्य चुने जाते हैं। ग्राम-सभा ग्राम-पंचायत की कार्यकारिणी सभा होती है। इसका कार्य गाँव के विकास एवं स्थानीय प्रशासन में योगदान करना होता है। सरपंच एवं पंच गाँवों के छोटे-छोटे केश-मुकदमों का निपटारा करते हैं। कानूनीरूप से उन्हें न्याय करने का अधिकार-प्राप्त है। गाँवों में अक्सर छोटे-मोटे झगड़े हमेशा रहते हैं। इनका निपटारा स्थानीय स्तर पर ही हो जाए इसके लिए ग्राम-पंचायत की स्थापना की गई है। यदि किसी व्यक्ति को ग्राम-पंचायत का फैसला मान्य नहीं होता है तब वह न्यायालय में जा सकता है। वहाँ केश-दायर करने का लिए उसे वकील करना होगा। ग्राम-पंचायत की सुनवाई के लिए वकील की आवश्यकता नहीं होती है। इससे ग्रामीणों के जो पैसे केश-मुकदमें लड़ने में खर्च होते हैं, वह बच सकते हैं।

2. प्रखण्ड विकास समिति कई पंचायतों को मिलाकर बनता है। इसका एक प्रमुख होता है जिसे ग्राम-पंचायतों के चुने हुए प्रतिनिधि मुखिया एवं ग्राम-सभा के सदस्य मिलकर चुनते हैं।

प्रखण्ड स्तर की बैठकों की अध्यक्षता प्रमुख करता है। सामुदायिक विकास प्रखण्ड प्रत्येक गाँव के विकास के लिए योजनाएँ बनाता है। उसके बाद उन विकास-कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जाता है।

3. जिला-पंचायत समिति :- प्रत्येक जिला में जिला विकास आयुक्त होते हैं जो जिला स्तर पर विकास योजनाओं को बनाते हैं तथा जन-प्रतिनिधि जैसे प्रमुख, विधायक तथा सांसद के प्रतिनिधि जिला विकास समिति के सदस्य होते हैं। ग्रामीण विकास के लिए जिला स्तर पर समिति योजनाओं को मंजूरी देती है। उनके अनुसार उन योजनाओं का कार्यान्वयन किया जाता है।

पंचायती राज संस्थाओं के गठन एवं चुनाव के लिए पंचायत चुनाव आयुक्त होते हैं जिनकी नियुक्ति राज्य सरकार करती है। पंचायतों का चुनाव समय पर एवं निष्पक्ष रूप से हो इसके लिए पंचायत चुनाव आयुक्त जवाबदेह होते हैं। परंतु अभी भी कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ पंचायत का चुनाव अभी तक नहीं हुआ है जैसे- झारखंड, उत्तराँचल एवं छत्तीसगढ़। इस राज्यों की सरकारों की बाध्यता है कि वे समय पर शांतिपूर्वक एवं निष्पक्ष चुनाव कराकर पंचायती-राज संस्थाओं का गठन करें।

केंद्र सरकार ग्रामीण-विकास के लिए योजनाएँ बनाती हैं तथा राज्यों को विकास-कार्यो के लिए निधि उपलब्ध कराती हैं। पंचायती राज संस्थाओं के गठन से राज्य सरकारें विकास योजनाओं को क्रियान्वित कर सकती हैं। श्रम-मंत्रालय भी रोजगार गारण्टी योजनाओं के तहत राज्य सरकारों को निधि उपलब्ध कराता है।

संविधान संशोधन कानून, 1993 ने पहली बार ग्राम-सभा के गठन के लिए तथा उ से शक्ति प्रदान करने के लिए राज्य सरकारों को कानून बनाने का अधिकार दिया है। प्राय: सभी राज्यों ने इसके लिए कानून बना लिया है, परंतु इसके कार्यो एवं प्राधिकारों को विस्तृत रूप से पारिभाषित नहीं किया है। अतएव पंचायती-राज व्यवस्था का संगठन मजबूत बनाने तथा उसके कार्यो एवं प्राधिकारों को और अधिक बढ़ाने की जरूरत है। इसके बिना पंचायती राज संस्थाएँ प्रभावी नहीं हो सकती हैं। यद्यपि ग्राम-सभाओं में 50 प्रतिशत प्रतिनिधित्व महिलाओं के लिए सुरक्षित किया गया है, फिर भी ग्राम-सभाओं में महिलाओं की उपस्थिति नगण्य होती है। उनकी भागीदारी को सुनिश्चित करने की आवश्यकता है। पंचायती राज व्यवस्था को कारगर रूप से लागू करके लोकतंत्र को मजबूती प्रदान की जा सकती है। गाँवों की अनेक समस्याओं का निदान ग्राम-पंचायतों द्वारा किया जा सकता है तथा गाँवों के विकास के बिना एक विकसित राष्ट्र की परिकल्पना निराधार है।

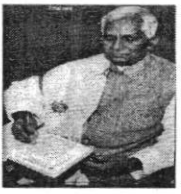

स्वातत्र्योतर भारत में राष्ट्रीयता की भावना

सिद्धेश्वर

स्वातंत्र्योतर भारत के देशवासियों के मन में राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट कल्पना ही नहीं है। दरअसल, राष्ट्रीय चेतना कोई निश्चेष्ट भावना नहीं है, बल्कि यह एक अत्यंत गतिमान उत्तेजक तथा स्फूर्तिदायक चेतना है, जो मनुष्यों के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। अत: राष्ट्रीयता एक विचार है, एक विचारशक्ति है, जो मानव के मस्तिष्क और हृदय को नवीन विचारों तथा मनोभावों से युक्त कर देती है एवं उसे अपनी चेतना के संघटन क्रिया के कार्यो में परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करती है। अतएव राष्ट्रीयता ऐसी भावना है जिसका संबंध मानव के अंत:करण एवं भीतरी चेतना से होता है।

'राष्ट्रीयता' शब्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में से एक प्रमुख वृत्ति है जिसकी वजह से मानव अपने राष्ट्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अभिन्न लगाव रखता है और वह अपने राष्ट्र को सदा समृद्ध एवं उन्नतिशील देखना चाहता है। इसी भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने राष्ट्रहित एवं समग्र समाज कल्याण के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है और एक सच्चा देशभक्त इस त्याग और बलिदान पर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। यही है सच्चा देश-प्रेम।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' में कहा है- ''राष्ट्रीयता या जातीयता से हमारा आशय केवल जातीय बाह्य गुणों और विशेषताओं से नहीं है, केवल उन लक्षणों से नहीं है जिन्हें हम परंपरा के नाम दोहराते चले आते हैं, प्रत्यक्ष राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक, सक्रिय और गंभीर जीवन से, जो एक साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से युक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय है। इसीलिए वह एक साथ राष्ट्रीय और सार्वभौमत्व की सीमाओं का स्पर्श करता है। कुल मिलाकर देखा जाए तो राष्ट्रीयता एक विशिष्ट मनोदशा है, समष्टिगत चेतना है जिसके अंतर्गत मातृभूमि के प्रति गौरव की भावना और सर्वोदय की कामना सन्निहित रहती

हैं। ऐसी स्थिति में आदमी आपसी बैर-विरोध को भूलकर और मतभेदों से ऊपर उठकर संपूर्ण राष्ट्र की समृद्धि और सुरक्षा के लिए कृत संकल्प रहता है। परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों का संवहन करने वाली राष्ट्रीयता जब दीवानगी के हद पर पहुँच जाती है, तब उसे देशभक्ति कहा जाता है जिसका वास्तविक अर्थ है देश की माटी से प्यार करना।

इसी देश-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम के महाभाव को पुरस्कृत करते हुए पुरुषोत्तम राम ने अपने उदगार व्यक्त किए थे इन शब्दों में-

'अपि स्वर्णमयि न में लक्ष्मण! रोचते।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।'

इसी प्रकार यजुर्वेद और सामवेद में कहा गया है-

वयं राष्ट्रं जागृयाम: पुराहिता:
माताभूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या।

अर्थात हमारी भूमि माता है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ।

क्रांतिदर्शी ऋषियों के इस स्तुतिमूलक कंठ स्वर के आलोक में भारतीय मानस प्राचीन काल से ही अपनी मातृभूमि अर्थात राष्ट्र के संरक्षण-संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहा है। वैदिक संहिता वह उत्तंग पर्वतीय उदगम स्वर है जिसमें राष्ट्रीयता की शाश्वत निर्मल सलिला प्रवाहित होती रही है।

इस वैदिक शब्द के अनेक निर्दिष्ट अर्थ हैं- राज्य, देश, मुल्क, जाति, इति आदि। शब्दकर्मी रामचन्द्र वर्मा के अनुसार 'किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक से रीति-रिवाज तथा एक-सी विचारधारा होती है।' 'किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह' के अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द आया है उस देश या क्षेत्र के लिए जो दशरथ या भरत द्वारा अधिकृत और शासित होता था। राम पूछते हैं : कैसी कुमार! तुम्हारे राज्य की प्रजा कठोर दंड से अत्यंत उद्विग्न होकर तुम्हारे मंत्रियों का तिरस्कार तो नहीं करती?

ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'राष्ट्रीयता' की भावना की उत्कृष्टता-प्रखरता में राष्ट्र का बीज निहित होता है। राष्ट्रीयता के अभाव में राष्ट्र का अस्तित्व अकल्पनीय है। राष्ट्र के घटक तत्व हैं- राष्ट्रीयता की प्रबल भावना, भूभाग और राजनीतिक स्वतंत्रता। इन घटक तत्वों के संयोग से 'राष्ट्र' निर्मित होता है। हमारी राष्ट्रीय चेतना में इनका सहयोग रहा है।

हमारा विषय है राष्ट्रीयता जिसका संबंध है भारत से

इसलिए इसका निर्वचन आवश्यक प्रतीत होता है। भारत में 'भा' आभा, सौंदर्य प्रकाश, क्रांति, ज्ञान आदि अर्थों का द्योतक है और 'रत' सूचक है तल्लीनता, प्रसन्नता और अनुरक्ति का। इस प्रकार अर्थ हुआ– वह देश जहाँ के निवासी ज्ञान प्रकाश के अन्वेषण, प्रचार-प्रसार में अनुरक्त हों।

देशभक्ति राष्ट्रीय भावना की आधारशिला है। देश की आजादी के पूर्व राष्ट्रीयता एक उमंग भर थी, केवल विदेशी शासन और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध ही वह उमंग सीमित था। उन दिनों राष्ट्रीयता के सामाजिक तथा आर्थिक मूलों की ओर लोगों का ध्यान सामान्यत: नहीं जा सका था, क्योंकि उनके सामने सिर्फ एक ही ध्येय था किसी तरह परतंत्रता की बेड़ी से छुटकारा पाना। केवल उपनिवेशवाद की समाप्ति या सत्ता के परिवर्तन मात्र से ही सामाजिक संरचना में परिवर्तन मात्र से सामाजिक संरचना में परिवर्तन संभव न हो सकेगा, यह बात उन लोगों में स्पष्ट नहीं हो पायी थी, किंतु स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह बात स्पष्ट हो गई है कि राष्ट्रीयता की भावना, जो सामाजिक तथा आर्थिक मूलों से अनिवार्यत: जुड़ी हुई है, हमारी सामाजिक संरचना एवं हमारी संस्कृति की आतंरिक चेतना को नियंत्रित करते हैं। आज राष्ट्र को एक ऐसी सामासिक संस्कृति की जरूरत है जिसका सांचा राष्ट्रीय हो और जिसका विषय सार समाजवादी या समतावादी हो तथा सच्चे बंधुत्व पर निर्भर हो और जिसमें शोषण नहीं हो। स्वतंत्रता यानी शोषण से मुक्ति ही स्वातंत्र्योत्तर भारत की राष्ट्रीय भावना का मूल आधार है। इसी के मद्देनजर हमारे संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता और समता के साथ बंधुता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह मूल्य व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने के लिए है।

राष्ट्र की एकता तभी मजबूत हो सकती है जब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान मिले और साथ ही हममें भाईचारे का विकास हो। इसका एक निहितार्थ यह है कि किसी नागरिक अथवा नागरिक समूह को संदेह की नजर से न देखा जाएगा, तो उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचेगी, उसके साथ भेदभाव किया जाएगा तो राष्ट्रीय एकता कभी मजबूत नहीं हो पाएगी। दुर्भाग्य से आज हमारे राष्ट्र में यही हो रहा है। भारत के अनेक इलाकों में जो असंतोष, विद्रोह और अलगाव की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं उनके पीछे भी वही कारण है। आजादी हासिल करने के बाद देश में राष्ट्रीय एकता पर खतरे के बादल मंडरा रहे हैं और उसके समक्ष यह एक नई चुनौतियाँ बनकर आ खड़ी हुई हैं। जहाँ एक ओर

हमारे यहाँ लोग राष्ट्रीय एकता की दुहाई देते नहीं थकते, वहीं दूसरी ओर *जेएनयू में ऐसे काम करते हैं* जो राष्ट्रीय एकता की जड़ों पर प्रहार करने वाले हैं। हमारी नई पीढ़ी को राष्ट्रीय एकता के इन अपकारक घटकों की बारीक पहचान रखनी होगी तभी वे पृथकतावादी, विखंडनकारी और विघटनकारी शक्तियों की नई चुनौतियों का सामना कर सकेंगे।

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जिस जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर कहा गया है आज उसी भूमि में जन्म लेकर, यहाँ का अन्न-जल सेवन करते हुए यहाँ की धरती पर धमा-चौकड़ी करने वाले अनेक अपतत्व कृतघ्नतापूर्वक जघन्य कारनामे करते रहते हैं। आज यह देश अंत:वाह्य समग्रत: एक विस्फोटक उथल-पुथल से व्याप्त हो रहा है। इसके अपकारक तत्व देश के बाहर ही नहीं, देश के भीतर भी विद्यमान एवं गर्जमान दीख रहे हैं। चाहे राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रश्न हो, चाहे मूल भारतीय सांस्कृतिक मूल धारा का प्रश्न हो या फिर राष्ट्रीयता का प्रश्न हो, प्रत्येक स्तर पर केवल विनाशक, विरोध एवं विरोध की ही आग लगी हुई है। अपने देश एवं राष्ट्रीयता के प्रति कृतज्ञता प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय दायित्व एवं धर्म होता है जिसकी रक्षा के लिए उसमें आत्मत्याग करने का महाभाव होना उसी कृतज्ञता को प्रमाणित करता है। सचमुच राष्ट्रीयता की भावना मनुष्य के अंतर की वह जीवनी शक्ति है जो किसी भी राष्ट्र को दुनिया में सम्मान दिलाने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है और वही मनुष्य राष्ट्र जननी का सुपुत्र कहलाने का सच्चा हकदार है जिसकी रग-रग में राष्ट्रीयता रची-बसी है।

किंतु यह दुख के साथ हमें कहना पड़ रहा है कि देश को आजादी मिलने के बाद सत्ता के लोभ में, पद और पैसे की चकाचौंध में देश और राष्ट्र की गरिमा का क्षरण होते देख हम निश्चय ही उस आशंका से भयभीत हैं कि कहीं फिर यह देश गुलामी की जंजीर में न जकड़ जाए। हमारे देश में ऐसे भी लोगों की कमी नहीं है जो आतंकी संगठन से सांठगांठ कर धन तो अर्जित कर रहे हैं, पर राष्ट्र की अस्मिता पर घोर प्रश्न चिन्ह लगा रहे हैं। ऐसे लोगों से सचेत रहना और उनकी दुर्भावनाओं को फलीभूत न होने देना हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविता की ये पंक्तियाँ हमें झकझोरती हैं-

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है।'

जयशंकर प्रसाद के प्रयाण गीत-

'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।'

ने आंदोलनकारियों में आखिर इसीलिए तो अभूतपूर्व जोश भरा था।

सच तो यह है कि किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता और एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और इस राष्ट्रीय चेतना को बाँधे रखने के लिए वहाँ के लोगों में सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता के सूत्र होने चाहिए। राष्ट्रीयता की भावना, अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल इन सबकी चेतना फैलाने में नागरिकों का योगदान होता है बशर्ते कि नागरिकों को उसी तरह की शिक्षा दी जाए।

यह कहना यथोचित होगा कि आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के संजाल के परिणामस्वरूप हुए विकास, उद्योगीकरण और शहरीकरण ने राष्ट्रीय एकता को नए आधार प्रदान किए। इस वजह से कुछ नई समस्याएँ पिछले कुछ दशकों से उत्पन्न हुई हैं। जातीय आंदोलन, धार्मिक कट्टरता, अंतर सामुदायिक संबंधों के संरूप में नए मौकों भाषाई संघर्षो, क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद ने राष्ट्रीय एकता के समक्ष नई चुनौतियाँ खड़ी की हैं। राष्ट्रीय एकता इस वक्त एक अजीब स्थिति में है। वह जातियता, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता के कई सिरों की ओर खींची जा रही है। ये तीनों घेरों में बँटे इस देश के लोग उसे अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रहे हैं। उनकी मुठभेड़ से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आए हैं। देश ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, तो दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएँ अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को कभी कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली जातियता, सांप्रदायिकता तथा परंपरा की विकृति स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है। दरअसल, व्यक्तिवादी स्वार्थी प्रकृति की वजह से ही जातिवाद, संप्रदायवाद आदि प्रवृत्तियाँ निरंतर बढ़ रही हैं और राष्ट्रीय भावना, नैतिकता तथा आदर्श चरित्र संकट के क्षण की पीड़ा भोग रहे हैं। इससे सामाजिक समरसता भी चरमरा रही है। यही देश की एकता, समानता तथा मानवीय प्रेम और सौहार्द

में विषैले बीज बो रहा है। धार्मिक पुनरूत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा जा रहा है। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता क स्तर पर वर्ण और जाति के ढाँचे के भीतर अंतर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निंदा की गई है, लेकिन इसे ढाहने का कोई सार्थक या महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। वर्ण और जाति के राजनीतिकरण की वजह से 'निम्नस्तर' जातियों पर भाँति-भाँति के अत्याचार हो रहे हैं। अपनी दशा सुधारने के लिए उन्हें अपनी चुनावी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा रहा है। भारतीय समाज और सत्ता पर आसीन सरकारों ने निम्नीकृत, कमजोर तथा असुरक्षितों के हित में केवल जबान हिलाई हैं, लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक व्यवहारिक हल ढूँढ पाने में असफल रही हैं। तथोचित जातीय नेताओं ने जात के नाम पर सत्ता तो हासिल की हैं, लेकिन अपनी जातियों का भला करने की बजाय अपने परिवार के सदस्यों को ही आगे बढ़ाते रहे हैं और जिस जाति व वर्ग का वे प्रतिनिधि अपने को मानते हैं उन्हें आजादी के बाद से आज तक उल्लू बनाने का ही काम करते आ रहे हैं। इसी का स्पष्ट परिणाम है असंतोष तथा प्रतिरोध। दरअसल, उनके प्रति शोषण, असमानता और अन्याय को बरकरार रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। कानून एक हाथ से देता है फिर सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की कृपा से दूसरे हाथ से छीन लिया जाता है। इसी का नतीजा है कि असंतोष और प्रतिरोध आज भी जारी है और यह असंतोष एवं प्रतिरोध स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय एकता में बाधक सिद्ध हो रहे हैं।

अशांत और विछोभ के इस वातावरण में सभ्यता और संस्कृति की पाँच हजार वर्षो की निरंतरतावाले इस देश को आज लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, महात्मा गाँधी, नेताजी सुभाष चंद्र बोस, लाल बहादुर शास्त्री तथा जय प्रकाश नारायण सरीखे महापुरुषों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है, जिन्होंने भारत को न केवल विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिए नि:स्वार्थ भाव से स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया, बल्कि स्वतंत्रता के बाद अपनी सूझ-बूझ, दूरदर्शिता और अपने अदम्य साहस से राष्ट्र के एकीकरण को सहज ढंग से पूरा किया। इन महापुरुषों के योगदान से बने भारत राष्ट्र पर घिरे अनेक संकटों में से सबसे गंभीर संकट राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने का है और उसकी अस्मिता एवं पहचान को बचाए रखने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।

सरदार पटेल : राष्ट्रीयता के प्रमुख सूत्रधार

राजवंश सिंह

देश-विदेश का सामान्यजन लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल को राष्ट्र की एकजुटता की साकार प्रतिमा मानता है और इसी रूप में वह सरदार पटेल की जयंती प्रत्येक वर्ष 31 अक्टूबर को राष्ट्र-निर्माण दिवस के रूप में मनाकर अपना संकल्प दुहराता है। भारत एक राष्ट्र है, इसके भीतर कोई अंतरराष्ट्र बने, यह सरदार विरोधी भावना है। सभी जानते हैं कि इसे सरदार पटेल ने अपने जीवन में कभी भी पनपने नहीं दिया। राष्ट्र विरोधी भावना को जरा भी सिर उठाते देखा कि उसे बड़ी निर्ममता से कुचल दिया। तभी तो सारे देश ने उन्हें लौह पुरुष कहकर पुकारा।

लौह पुरुष सरदार पटेल ने भारत के लिए वही किया जो अब्राहम लिंकन ने अमेरिका के लिए किया था, बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए और गैरीबाल्डी ने इटली के लिए। बल्कि सच कहा जाए तो सरदार ने जिन छोटे-बड़े 554 देशी रियासतों को मात्र सात-आठ दिनों में भारत में मिलाकर अखण्ड भारत का निर्माण किया। बिस्मार्क ने सात-आठ वर्षो में श्लेसविंग और टाल्सटाइटलन को ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस से युद्ध में जीतकर जर्मनी को एकीकरण किया था। इस प्रकार देखा जाए तो सरदार पटेल के कार्य अधिक कठिन और जटिल थे, किंतु इसके साथ देश के समक्ष आई अनेक चुनौतियों का सामना अपने अदम्य साहस, दृढ़ता, दूरदर्शिता तथा शौर्य के बल पर किया जिसके लिए वे भारतीय इतिहास में स्वर्णांकित हो गए। स्वतंत्रता-संग्राम के एक परम दृढ़ नायक, दुर्दमनीय महासेनानी, परम नैष्ठिक देशभक्त तथा दूरदर्शी राजपुरुष वल्लभभाई पटेल की आँखों में राष्ट्र का गौरवमय, आलोकमय और तेजस्वी भविष्य का चित्र स्थापित था। अनेक सदियों तक उनका उदाहरण इस राष्ट्र के लोगों में तेज, वीरता, शौर्य, साहस, अर्ध्यव्यवसाय, त्याग और निरंतर राष्ट्रसेवा का भाव भरता रहेगा और सरदार राष्ट्रीयता के प्रमुख सूत्रधार के रूप में जाने जाते रहेंगे।

लौह पुरुष सरदार पटेल की राष्ट्रवादी विचारधारा की सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण कड़ी थी भारत की एकता। उन्होंने कई अवसरों पर यह बात दुहराई थी- 'भारत की भौगोलिक, राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण हमारा चरम लक्ष्य रहा है जिसकी प्राप्ति कठिन दिखती

रही है और आज आजादी की प्राप्ति के बाद भी इस लक्ष्य की प्राप्ति की [illegible] है।' सरदार पटेल को इस बात का पूरा अहसास था कि भारत की एकसूत्रता के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक साढ़े पाँच सौ से अधिक देशी रियासतों का पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व था। यदि ये रियासतें स्वतंत्र राज्यों के रूप में भारत के इर्द-गिर्द बनी रहें तो वे भारत की सुरक्षा एवं संप्रभुता की दृष्टि में खतरनाक होंगी।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सरदार पटेल महात्मा गाँधी के बाद की पंक्ति में थे। सरदार पटेल स्वतंत्र भारत के प्रथम उप-प्रधानमंत्री तथा गृहमंत्री थे। आधुनिक भारत के कर्णधारों में सरदार पटेल का नाम राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अग्रणीय है। राष्ट्र के निर्माण में तथा भारतीय जनता का मनोबल बढ़ाने में सरदार पटेल की बहुत बड़ी भूमिका रही है।

सरदार पटेल के समक्ष जब मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाए रखने संबंधी प्रस्ताव लाया गया तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा था-

'जब पाकिस्तान की माँग स्वीकार की गई थी तब कम से कम यह सोचा गया था कि शेष भारत में एक ही राष्ट्र होगा। 80 प्रतिशत भारत और यहाँ पर दो राष्ट्रों की बात करने के प्रयास नहीं किए जाएँगे। पृथक निर्वाचन क्षेत्र की बात करना निरर्थक है, क्योंकि यही हमारे लिए हितकर है। पहले इसे हम पर्याप्त मात्रा में सुन चुके हैं। इस संघर्ष के कारण हमारे देश का विभाजन हुआ। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप हम विभाजित हुए हैं। हम न तो पृथक निर्वाचन क्षेत्र बना सकते हैं और न ही हम अपनी सुरक्षा की कीमत पर विचार कर सकते हैं। क्या तुम अभी यहाँ दो राष्ट्र बनाए जाने की इच्छा रखते हो? मैं पृथक निर्वाचन क्षेत्र का विरोधी हूँ। क्या तुम मुझे एक भी ऐसा स्वतंत्र राष्ट्र बता सकते हो जहाँ पृथक निर्वाचन क्षेत्र है। यदि ऐसा है तो मैं इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ।'

संविधान निर्मात्री सभा ने सरदार पटेल के इस प्रस्ताव को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया था। लौह पुरुष के इन उद्‌गारों से उनकी दूरदर्शिता, सूक्ष्मावलोकन शक्ति और देश प्रेम की भावना परिलक्षित होती है। सरदार पटेल ने स्पष्ट रूप से कहा था कि-

'जो ऐसा चाह रहे हैं, उनके लिए पाकिस्तान में जगह है, पर भारत में नहीं है। यहाँ पर हम एक राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं और एक राष्ट्र की नींव रख रहे हैं जो पुन: विभाजित होना चाहते हैं और विभाजन की

इच्छा रखते हैं, उनके लिए यहाँ कोई जगह, कोई क्वार्टर खाली नहीं है। यह मैं बहुत ही साफ शब्दों में कहता हूँ।'

भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीय एकीकरण के अनेक तथा अधिष्ठाता कर्मयोगी सरदार पटेल को संपूर्ण राष्ट्र कृतज्ञतापूर्वक अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। जबतक भारत राष्ट्र का अस्तित्व रहेगा तबतक लोग भरे हृदय से इस महान आत्मा को याद करते रहेंगे।

वैसे भी राजनीति में पनप रहे चमचावाद, स्तरहीनता के फलस्वरूप समाज में हर स्तर पर ह्रास, राजनीति में बढ़ता अपराधीकरण तथा देशभक्ति की भावना लोगों में लुप्त होते देख हम सब आज बाध्य हो रहे हैं सरदार पटेल को याद करने के लिए। ऐसे वक्त मुझे याद आ रही हैं माखन लाल चतुर्वेदी जी की ये पंक्तियाँ- ''दुनिया की मर्दुम शुमारी गलत हो रही है। यथार्थ में दो चार ही गिने-चुने जीव रहते हैं। उन्हीं की गिनती दुनिया भी करती है और उन्हीं का मत दुनिया का मत।''

इसलिए आज जरूरत है सरदार पटेल के विचारों एवं आदर्शों को घर-घर तथा जन-जन तक पहुँचाने की, क्योंकि देश की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए एकजुट रहने की आवश्यकता है, ताकि भारत माँ के निकट बेड़ियों की झनझनाहट तक न पहुँचने पाए। जब-जब देश को खण्डित करने वाली शक्तियाँ अपना सर उठाती हैं, इस देश के सपूत लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की याद बरक्स हम सभी देशवासियों के मानस-पटल पर छा जाती है।

♦♦♦

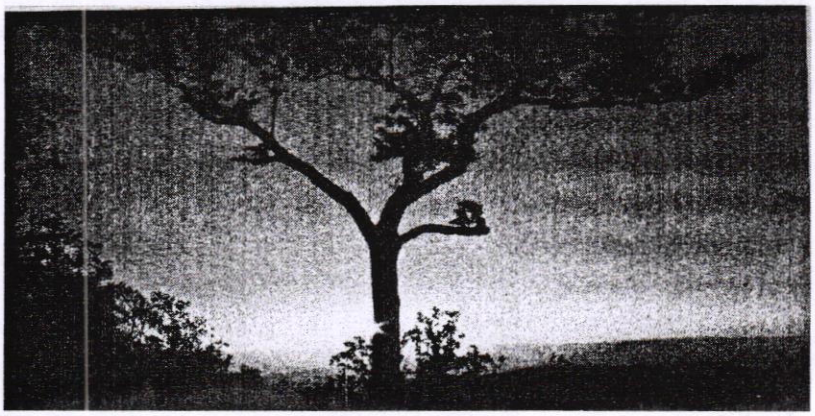

बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के पूर्व अध्यक्ष सुप्रतिष्ठित पत्रकार श्री सिद्धेश्वर द्वारा सम्पादित 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-एक) तथा 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-दो) उल्लेखनीय कृतियाँ हैं विशेषत: भूमण्डलीकरण के फैलते सर्वग्राही दुष्परिणामों के सन्दर्भ में। भूमण्डलीकरण के प्रवर्त्तकों का मानना है कि अब राष्ट्रियता की अवधारणा निरर्थक हो चली है। भूमण्डलीकरण, जो बाजारवाद का छद्म नाम है, पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार आर्थिक तथा सांस्कृतिक नवसाम्राज्यवाद का पर्याय है तथा परिचय के उत्पादों की खपत के लिए राष्ट्र की सीमा को बाधक मानता है। वह निर्बन्ध मुक्त व्यापार का ही हिमायती नहीं है, अपितु अपने उत्पादों के लुभावने विज्ञापन द्वारा विकासशील राष्ट्रों की सामाजिक-सांस्कृतिक सोच को भी आक्रान्त करना चाहता है। उन राष्ट्रों की अस्मिता को विखण्डित करना चाहता है।

- डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। और इस राष्ट्रीय चेतना को बाँधे रखने के लिए वहाँ के नागरिकों में सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता के सूत्र होने चाहिए। राष्ट्रीयता की भावना अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल-इन सबकी चेतना फैलाने में नागरिकों का योगदान होता है। राष्ट्रीय चेतना कोई निश्चेष्ट भावना नहीं है, बल्कि यह एक अत्यंत गतिमान, उत्प्रेरक तथा स्फूर्तिदायक चेतना है, जो मनुष्य के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था-राष्ट्रीय विचार मंच के राष्ट्रीय महासचिव सिद्धेश्वर के संपादकत्व में मंच की ओर से प्रकाशित 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' नाम्नी यह पुस्तक संभवत: राष्ट्रीयता के विचारों को देशवासियों के मन-मस्तिष्क में भरने और उनकी चेतना को संघटन क्रिया के कार्यों में परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करती है। वस्तुत: 'राष्ट्रीयता' शब्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में से एक प्रमुख वृत्ति है जिसकी वजह से मानव अपने राष्ट्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अभिन्न लगाव रखता है और वह अपने राष्ट्र को सदा समृद्ध एवं उन्नतिशील देखना चाहता है। कुछ इसी भावना से प्रेरित होकर इसके संपादक ने राष्ट्रहित एवं समग्र समाज-कल्याण के लिए राष्ट्रीयता पर आधारित प्रस्तुत पुस्तक को दो भागों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है-'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' (भाग-एक) एवं राष्ट्रीयता के विविध आयाम (भाग-दो)। सिद्धेश्वर जी हमारी हार्दिक बधाई के पात्र हैं। पाठक इसे पढ़कर अपने आप को गौरवान्वित महसूस करेंगे।

- श्री टी. एन. चतुर्वेदी

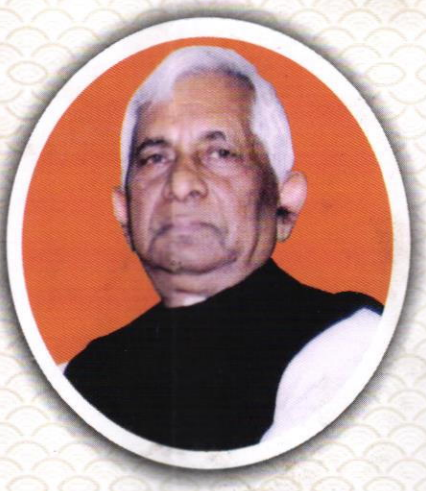

संपादक – सिद्धेश्वर

प्रकाशक – सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली–92